भारत की प्रमुख भाषाएँ एवं उनका साहित्य विकास

(Major Languages of India and Their Literary Development)

विधान सिंह

भारत की प्रमुख भाषाएँ एवं उनका साहित्य विकास

भारत की प्रमुख भाषाएँ एवं उनका साहित्य विकास

(Major Languages of India and Their Literary Development)

विधान सिंह

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-6259-3

प्रथम संस्करण : 2022

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

सामान्यत: भाषा को वैचारिक आदान-प्रदान का माध्यम कहा जा सकता है। भाषा आभ्यन्तर अभिव्यक्ति का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम है। यही नहीं वह हमारे आभ्यन्तर के निर्माण, विकास, हमारी अस्मिता, सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान का भी साधन है। भाषा के बिना मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है और अपने इतिहास तथा परम्परा से विच्छिन्न है।

इस समय सारे संसार में प्राय: हजारों प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं, जो साधारणत: अपने भाषियों को छोड़ और लोगों की समझ में नहीं आती। अपने समाज या देश की भाषा तो लोग बचपन से ही अभ्यस्त होने के कारण अच्छी तरह जानते हैं, पर दूसरे देशों या समाजों की भाषा बिना अच्छी तरह सीखे नहीं आती। भाषा विज्ञान के ज्ञाताओं ने भाषाओं के आर्य, सेमेटिक, हेमेटिक आदि कई वर्ग स्थापित करके उनमें से प्रत्येक की अलग-अलग शाखाएँ स्थापित की हैं और उन शाखाओं के भी अनेक वर्ग-उपवर्ग बनाकर उनमें बड़ी-बड़ी भाषाओं और उनके प्रान्तीय भेदों, उपभाषाओं अथवा बोलियों को रखा है। जैसे हिंदी भाषा (हिन्दी) भाषा विज्ञान की दृष्टि से भाषाओं के आर्य वर्ग की भारतीय आर्य शाखा की एक भाषा है और ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेलखण्डी आदि इसकी उपभाषाएँ या बोलियाँ हैं। पास-पास बोली जाने वाली अनेक उपभाषाओं या बोलियों में बहुत कुछ साम्य होता है और उसी साम्य के आधार पर उनके वर्ग या कुल स्थापित किए जाते हैं। यही बात बड़ी-बड़ी भाषाओं में भी है जिनका पारस्परिक साम्य उतना अधिक तो नहीं, पर फिर भी बहुत कुछ होता है।

संसार की सभी बातों की भाँति भाषा का भी मनुष्य की आदिम अवस्था के अव्यक्त नाद से अब तक बराबर विकास होता आया है, और इसी विकास

के कारण भाषाओं में सदा परिवर्तन होता रहता है। भारतीय आर्यों की वैदिक भाषा से संस्कृत और प्राकृतों का, प्राकृतों से अपभ्रंशों का और अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है।

प्राय: भाषा को लिखित रूप में व्यक्त करने के लिये लिपियों की सहायता लेनी पड़ती है। भाषा और लिपि, भाव व्यक्तीकरण के दो अभिन्न पहलू हैं। एक भाषा कई लिपियों में लिखी जा सकती है और दो या अधिक भाषाओं की एक ही लिपि हो सकती है। उदाहरणार्थ–पंजाबी, गुरुमुखी तथा शाहमुखी दोनों में लिखी जाती है, जबकि हिन्दी, मराठी, संस्कृत, नेपाली इत्यादि सभी देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	परिभाषा	2
	भाषा की प्रकृति	4
	भाषा की विशेषताएँ	4
	इतिहास	5
	पाणिनिपूर्व भाषा-चिन्तन	5
	पाणिनि और पाणिनिकालीन भाषाशास्त्रीय चिन्तन	6
	पतंजलि और उनका महाभाष्य	7
	पाणिनि पश्चात् का भाषाध्ययन	8
	प्राचीन एवं मध्यकाल में पाश्चात्य भाषा विज्ञान	9
	भाषा का माध्यम	18
	बोली, विभाषा, भाषा और राजभाषा	19
	राज्यभाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा	20
	भाषा के विभिन्न रूप	20
	भाषा विकास को प्रभावित करने वाले कारक	24
2.	**कश्मीरी भाषा एवं साहित्य**	**26**
	इतिहास	27
	वर्त्तमान स्वरूप	27
	कश्मीर का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास	29
	कवि मंखक	34

3. सिन्धी भाषा एवं साहित्य **36**
सिन्धी भाषा की लिपियाँ 37
सिन्धी का भूगोल एवं उपभाषाएँ 39
व्याकरण 40
संज्ञाओं के कारक 41
सर्वनाम 41
4. पंजाबी भाषा एवं साहित्य **44**
विशेषताएँ 46
भौगोलिक क्षेत्र 47
पंजाबी साहित्य 48
अमृता प्रीतम 50
5. हिन्दी भाषा एवं साहित्य **52**
नामोत्पत्ति 53
भाषायी उत्पत्ति और इतिहास 54
मानकीकरण 56
भाषा के संबंध में संविधान 57
अलग साहित्यिक परंपराओं का अस्तित्व 63
हिंदी साहित्य 63
हिंदी साहित्य का काल विभाजन 64
आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य 68
आधुनिक हिंदी पद्य साहित्य 73
6. बंगाली भाषा एवं साहित्य **78**
उद्‌भव 78
लिपि 78
बंगाली साहित्य 79
आधुनिक युग के बाद 92
7. असमिया भाषा एवं साहित्य **93**
असमिया एवं बंगला 94
क्षेत्र विस्तार एवं सीमाएँ 94
आधुनिक असमिया 96
असमिया साहित्य 96

स्वाधीनतोत्तरकमाल 100
8. उड़िया भाषा एवं साहित्य 102
प्रमुख बोलियाँ 103
आधुनिक युग 107
उड़िया उपन्यास सम्राट फकीर मोहन सेनापति 108
9. गुजराती भाषा एवं साहित्य 109
गुजराती लिपि 109
गुजराती साहित्य 110
अर्वाचीन साहित्य 112
10. मराठी भाषा एवं साहित्य 116
भाषायी क्षेत्र 116
मराठी साहित्य 117
ज्ञानदेव तथा नामदेव 117
तुकाराम तथा रामदास 119
आधुनिक काल 121
11. कन्नड़ भाषा एवं साहित्य 125
'कन्नड़' तथा 'कर्नाटक' शब्दों की व्युत्पत्ति 125
कन्नड़ भाषा तथा लिपि 126
कन्नड़ साहित्य 127
काल विभाजन 128
कुमारव्यास युग 133
आधुनिक युग 137
आधुनिक कन्नड़ का प्रथम उत्थान 137
द्वितीय उत्थान 138
तृतीय उत्थान 139
कन्नड़ साहित्य का परिचय 139
शिशु साहित्य 144
लोक साहित्य 144
पत्र-पत्रिकाएँ 145
कन्ड़ साहित्य और समाज 146
12. तेलुगू भाषा एवं साहित्य 147

तेलुगू शब्द की व्युत्पत्ति 147
तेलुगू 148
लता 148
तेलुगू साहित्य 149
आधुनिक काल (1850 ई. से आगे) 155
संस्कृत एवं तमिल आदि का प्रभाव 157
13. तमिल भाषा एवं साहित्य **159**
तमिल लिपि 160
तमिल साहित्य 160
संगम साहित्य 161
नैनार और आलवार साहित्य 162
बौद्ध और जैन साहित्य 162
आधुनिककालीन साहित्य 163
उर्दू भाषा एवं साहित्य 165
'उर्दू' शब्द की व्युत्पत्ति 166
उर्दू साहित्य 166
शुरुआती रचनाकार 168
दक्कनी उर्दू 169
दिल्ली – लखनऊ – अकबराबाद (आगरा) 171
14. संस्कृत भाषा एवं साहित्य **177**
संस्कृत भाषा का इतिहास 178
नामकरण एवं विकास यात्रा 178
काल विभाजन 179
भाषा वैज्ञानिक वर्गीकरण 182
संस्कृत भाषा की विशेषताएँ 183
भारत और विश्व के लिए संस्कृत का महत्त्व 185
संस्कृत का अन्य भाषाओं पर प्रभाव 186
वैदिक संस्कृत 186
लौकिक संस्कृत का वैदिक संस्कृत से भेद 187
संस्कृत साहित्य 191
संस्कृत काव्यशास्त्र 191

लौकिक काव्य की उत्पत्ति 196
संस्कृत साहित्य का महत्त्व 203
वेद, वेदांग, उपवेद 205
लौकिक साहित्य 206
संस्कृत नाटक विकास 208
संस्कृत साहित्य में गद्य विकास 216
15. मणिपुरी भाषा एवं साहित्य 221
बोलियाँ 221
मणिपुरी साहित्य 222
मणिपुरी का लोक-साहित्य 223
गीति-साहित्य 224
मध्यकालीन गीतिकार 224
आधुनिक गीतिकार 225
डोंगरी भाषा एवं साहित्य 226
डोगरी का केंद्र 226
डोगरी की लिपि 226
डोगरी साहित्य 227

1

विषय बोध

भाषा वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने विचारों को व्यक्त कर सकते हैं और इसके लिये हम वाचिक ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। भाषा, मुख से उच्चारित होने वाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह है जिनके द्वारा मन की बात बताई जाती है। किसी भाषा की सभी ध्वनियों के प्रतिनिधि स्वर एक व्यवस्था में मिलकर एक सम्पूर्ण भाषा की अवधारणा बनाते हैं। व्यक्त नाद की वह समष्टि जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने मनोगत भाव तथा विचार एक-दूसरे से प्रकट करते हैं। मुख से उच्चारित होने वाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह जिनके द्वारा मन की बात बताई जाती है जैसे - बोली, जबान, वाणी विशेष।

सामान्यत: भाषा को वैचारिक आदान-प्रदान का माध्यम कहा जा सकता है। भाषा आभ्यन्तर अभिव्यक्ति का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम है। यही नहीं वह हमारे आभ्यन्तर के निर्माण, विकास, हमारी अस्मिता, सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान का भी साधन है। भाषा के बिना मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है और अपने इतिहास तथा परम्परा से विच्छिन्न है।

इस समय सारे संसार में प्राय: हजारों प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं, जो साधारणत: अपने भाषियों को छोड़ और लोगों की समझ में नहीं आतीं। अपने समाज या देश की भाषा तो लोग बचपन से ही अभ्यस्त होने के कारण अच्छी तरह जानते हैं, पर दूसरे देशों या समाजों की भाषा बिना अच्छी तरह सीखे नहीं आती। भाषाविज्ञान के ज्ञाताओं ने भाषाओं के आर्य, सेमेटिक, हेमेटिक आदि कई वर्ग स्थापित करके उनमें से प्रत्येक की अलग-अलग शाखाएँ स्थापित की हैं और उन शाखाओं के भी अनेक वर्ग-उपवर्ग बनाकर उनमें बड़ी बड़ी भाषाओं

और उनके प्रान्तीय भेदों, उपभाषाओं अथवा बोलियों को रखा है। जैसे हिंदी भाषा(हिन्दी) भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषाओं के आर्य वर्ग की भारतीय आर्य शाखा की एक भाषा है, और ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेलखण्डी आदि इसकी उपभाषाएँ या बोलियाँ हैं। पास-पास बोली जानेवाली अनेक उपभाषाओं या बोलियों में बहुत कुछ साम्य होता है, और उसी साम्य के आधार पर उनके वर्ग या कुल स्थापित किए जाते हैं। यही बात बड़ी बड़ी भाषाओं में भी है जिनका पारस्परिक साम्य उतना अधिक तो नहीं, पर फिर भी बहुत कुछ होता है।

संसार की सभी बातों की भाँति भाषा का भी मनुष्य की आदिम अवस्था के अव्यक्त नाद से अब तक बराबर विकास होता आया है, और इसी विकास के कारण भाषाओं में सदा परिवर्तन होता रहता है। भारतीय आर्यों की वैदिक भाषा से संस्कृत और प्राकृतों का, प्राकृतों से अपभ्रंशों का और अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है।

प्राय: भाषा को लिखित रूप में व्यक्त करने के लिये लिपियों की सहायता लेनी पड़ती है। भाषा और लिपि, भाव व्यक्तीकरण के दो अभिन्न पहलू हैं। एक भाषा कई लिपियों में लिखी जा सकती है और दो या अधिक भाषाओं की एक ही लिपि हो सकती है। उदाहरणार्थ पंजाबी, गुरुमुखी तथा शाहमुखी दोनो में लिखी जाती है जबकि हिन्दी, मराठी, संस्कृत, नेपाली इत्यादि सभी देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं।

परिभाषा

भाषा को प्राचीन काल से ही परिभाषित करने की कोशिश की जाती रही है। इसकी कुछ मुख्य परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं- डॉ. कामता प्रसाद गुरु–'भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों तक भली-भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार स्पष्टतया समझ सकता है।' आचार्य किशोरीदास–'विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।''

डॉ. श्यामसुन्दर दास–'मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।' डॉ. बाबूराम सक्सेना–'जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।' डॉ. भोलानाथ–'भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित यादृच्छिक

(arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह संचरनात्मक व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज-विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।' रवीन्द्रनाथ–'भाषा वागेन्द्रिय द्वारा निःस्तृत उन ध्वनि प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था है,

जो अपनी मूल प्रकृति में यादृच्छिक एवं रूढ़िपरक होते हैं और जिनके द्वारा किसी भाषा-समुदाय के व्यक्ति अपने अनुभवों को व्यक्त करते हैं, अपने विचारों को संप्रेषित करते हैं और अपनी सामाजिक अस्मिता, पद तथा अंतर्वैयक्तिक सम्बन्धों को सूचित करते हैं।

डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए लिखा है–"भाषा मुख से उच्चरित उस परम्परागत सार्थक एवं व्यक्त ध्वनि संकेतों की व्यक्ति को कहते हैं, जिसकी सहायता से मानव आपस में विचार एवं भावों को आदान-प्रदान करते हैं तथा जिसको वे स्वेच्छानुसार अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करते हैं।"

डॉ. सरयू प्रसाद अग्रवाल के अनुसार–"भाषा वाणी द्वारा व्यक्त स्वच्छन्द प्रतीकों की वह रीतिबद्ध पद्धति है जिससे मानव समाज में अपने भावों का परस्पर आदान-प्रदान करते हुए एक-दूसरे को सहयोग देता है।"

श्री नलिनि मोहन सन्याल का कथन है–"अपने स्वर को विविध प्रकार से संयुक्त तथा विन्यस्त करने से उसके जो-जो आकार होते हैं उनका संकेतों के व्यवहार कर अपनी चिन्ताओं को तथा मनोभावों को जिस साधन से हम प्रकाशित करते हैं, उस साधन को भाषा कहते हैं।"

डॉ. देवीशंकर द्विवेदी के मतानुसार–"भाषा यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।" प्लेटो ने विचार तथा भाषा पर अपने भाव व्यक्त करते हुए लिखा है-'विचार आत्मा की मूक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।'

मैक्समूलर के अनुसार-"भाषा और कुछ नहीं है केवल मानव की चतुर बुद्धि द्वारा अविष्कृत ऐसा उपाय है जिसकी मदद से हम अपने विचार सरलता और तत्परता से दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं और चाहते हैं कि इसकी व्याख्या प्रकृति की उपज के रूप में नहीं बल्कि मनुष्य कृत पदार्थ के रूप में करना उचित है।"

भाषा की प्रकृति

भाषा का उपयोग संप्रेषण तथा अन्य क्रिया के लिए होता है भाषा एवं परम्परा आधारित तंत्र है। समुदाय के सदस्यों ने संप्रेषण एवं अन्य क्रिया के लिए जो तंत्र विकसित किया है,वह परम्पराओं पर आधारित है। भाषा में वाचिक ध्वनि या संकेत के रूप में उपयोग की जाती है। मातृभाषा सीखते समय बालक को ध्वनि विशेष का ध्यान रखना होगा। भाषा सीखने की आयु में बालक किसी भी भाषा की ध्वनियों का उच्चारण सीख सकता है। किसी एक प्राणी या वस्तु के लिए अलग-अलग भाषाओं में अलग शब्दों का उपयोग होता है।

उदाहरणार्थ जिसे हिन्दी में हाथी के नाम से जाना जाता है,उसी को अंग्रेजी में एलिफेंट के नाम से जाना जाता है। बालक में भाषा अर्जन की नैसर्गिक क्षमता होती है इसमें माला पिरोए हुए फूलों के समान शब्दों की श्रृखंला नहीं होती है।

बालक की अवस्था जब एक वर्ष की होती है,तब बोलना शुरू करता है और तीन वर्ष की आयु तक चार-पाँच शब्दों के व्याकरण सम्मत वाक्यों का उपयोग करने लगता है। चार वर्ष की आयु के बाद उसे अपनी भाषा के लिखित उपयोग वाले मिश्रित वाक्यों की संरचना करने लगता है। छह वर्ष की आयु तक अभिव्यक्ति की क्षमता सौ फीसदी होने लगती है।

भाषा की विशेषताएँ

भाषा की विशेषता या लक्षण कह सकते हैं। भाषा-प्रकृति को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। भाषा की प्रथम प्रकृति वह है,जो सभी भाषाओं के लिए मान्य होती है इसे भाषा की सर्वमान्य प्रकृति कह सकते हैं। द्वितीय प्रकृति वह है,जो भाषा विशेष में पाई जाती है। इससे एक भाषा से दूसरी भाषा की भिन्नता स्पष्ट होती है। हम इसे विशिष्ट भाषागत प्रकृति कह सकते हैं। यहाँ मुख्यत: ऐसी प्रकृति के विषय में विचार किया जा रहा है,जो विश्व की समस्त भाषाओं में पाई जाती है-

भाषा सामाजिक संपत्ति है।
भाषा पैतृक संपत्ति नहीं है।
भाषा व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है।
भाषा अर्जित संपत्ति है।
भाषा व्यवहार-भाषा सामाजिक स्तर पर आधारित होती है।
भाषा सर्वव्यापक है।

भाषा सतत प्रवाहमयी है।
भाषा संप्रेषण मूलत: वाचिक है।
भाषा चिरपरिवर्तनशील है।
भाषा का प्रारंभिक रूप उच्चरित होता है।
भाषा का आरंभ वाक्य से हुआ है।
भाषा मानकीकरण पर आधरित होती है।
भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर बढ़ती है।
भाषा का अंतिम रूप नहीं है।
भाषा का प्रवाह कठिन से सरलता की ओर होता है।
भाषा नैसर्गिक क्रिया है।
भाषा की निश्चित सीमाएँ होती हैं।

इतिहास

पौरस्त्य अथवा भारतीय भाषा-चिन्तन

भारत में भाषाध्ययन की सुदीर्घ परम्परा रही है। यहाँ भाषा के सभी अंगों एवं तत्त्वों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विचार किया गया है। संक्षेप में भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन को निम्नांकित रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है–

(अ) प्राचीन भाषा-चिन्तन

(आ) आधुनिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन

प्राचीन भाषा-चिन्तन

भारत के प्राचीन भाषा-चिन्तन पर निम्नलिखित रूपों में विचार करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है–

(क) पाणिनिपूर्व भाषा-चिन्तन

(ख) पाणिनि और पाणिनिकालीन भाषाशास्त्रीय चिन्तन

(ग) पाणिनि-पश्चात् भाषाध्ययन।

पाणिनिपूर्व भाषा-चिन्तन

प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में अनेक बार 'वाक्' के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। भाषाशास्त्र में वाक (स्पीच)-विवेचन एक अत्यंत जटिल विषय है। 'वाक्' वह मूल शक्ति है, जिसे हम सामाजिक सन्दर्भों के माध्यम से भाषा के रूप में ग्रहण करते हैं। वेद में इसी वाक्-शक्ति की अधिष्ठात्री देवी के रूप में

सरस्वती का आह्वान किया गया है, जिसमें इस बात की कामना की गई है कि वे वाक्-शक्ति का पान कराकर विश्व को पुष्ट करें। अर्थात् मनुष्यों को सम्यरूपेण वाणी-प्रयोग के योग्य बनाए। 'उच्चारण भाषा का प्राणतत्त्व होता है', इसे सभी भाषाविज्ञानी स्वीकार करते हैं। वेद में शुद्ध उच्चारण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। चूँकि वेद 'अपौरुषेय' हैं, इसलिए उसका समय निश्चित नहीं है।

वेदो के बाद ब्राह्मणग्रन्थों का समय आता है। ऐतरेय ब्राह्मण में भाषाविज्ञान के दो मुख्य विषयों - भाषा-वर्गीकरण एवं शब्द-अर्थ का विवेचन किया गया है। वेद-पाठ थोड़ा कठिन है। उसके अध्ययन को सरल बनाने के लिए पदपाठ की रचनाकर 'वेद-वाक्य' को पदों में विभक्त किया गया और इस क्रम में सन्धि, समास, स्वराघात जैसे विषयों का विश्लेषण भी हुआ। यह निश्चय ही भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन था।

'पदपाठ' के पश्चात् प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों का निर्माण कर ध्वनियों का वर्गीकरण, उच्चारण, स्वराघात, मात्रा आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषावैज्ञानिक विषयों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया। विभिन्न संहिताओं के उच्चारण-भेदों को सुरक्षित रखने एवं ध्वनि की सूक्ष्मताओं का विवेचन करने में क्रमशः प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रन्थों का अपना विशिष्ट स्थान है।

प्रातिशाख्यों में ऋप्रातिशाख्य (शौनक), शुक्लयजुः प्रातिशाख्य (कात्यायन), मैत्रायणी प्रातिशाख्य आदि प्रमुख हैं और शिक्षाग्रन्थों (ध्वनिशास्त्रों) के निर्माताओं में याज्ञवल्क्य, व्यास, वसिष्ठ आदि विख्यात हैं। इसी क्रम में उपनिषदों की चर्चा भी अपेक्षित है - विशेषकर तैत्तिरीय उपनिषद् की। इसमें अक्षर, अथवा वर्ण, स्वर, मात्रा, बल आदि भाषीय तत्त्वों पर भी चिन्तन किया गया है।

वैदिक शब्दों का जो कोश तैयार किया गया, उसे 'निघंटु' की संज्ञा दी गई। इसका निर्माण-काल 800 ई. पू. के आसपास माना जाता है। 'निघंटु' में संगृहीत वैदिक शब्दों का अर्थ-विवेचन किया गया 'निरुक्त' में। निरुक्तकार यास्क ने अर्थ के साथ-शाथ शब्द-भेद, शब्द-अर्थ का सम्बन्ध जैसे विषयों पर भी विचार किया।

पाणिनि और पाणिनिकालीन भाषाशास्त्रीय चिन्तन

पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी

संसार के भाषाविज्ञानियों में पाणिनि (450 ईपू) का स्थान सर्वोपरि है। न केवल पौरस्त्य विद्वानों ने, अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी पाणिनि की श्रेष्ठता

मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर ली है। ईसा के लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व ऐसा विलक्षण भाषाविज्ञानी उत्पन्न हुआ था, यह प्रसंग विश्व को प्रेरित करने के साथ ही चकित करने वाला भी रहा है।

पाणिनि का अप्रतिम भाषा वैज्ञानिक ग्रन्थ, आठ अध्यायों में विभक्त रहने के कारण, अष्टाध्यायी कहलाता है। आठों अध्यायों में चार-चार पाद हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ सूत्र रूप में रचित है और कुल सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्र (3997) है। प्रसिद्ध चौदह माहेश्वर सूत्र ही अष्टाध्यायी के मूलाधार माने गए हैं। अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में संज्ञा (सुबन्त), क्रिया (तिड़न्त), समास, कारक, सन्धि, कृत् और तद्धित प्रत्यय, स्वर-ध्वनि-विकार और पद का विवेचन किया गया है। परिशिष्ट में गणपाठ एवं धातुपाठ देकर ग्रन्थ की उपादेयता और बढ़ा दी गई है।

'अष्टाध्यायी' की प्रमुख विशेषताएँ हैं–

(1) वाक्य को भाषा की मूल इकाई मानना।

(2) ध्वनि-उत्पादन-प्रक्रिया का वर्णन एवं ध्वनियों का वर्गीकरण।

(3) सुबन्त एवं तिड़न्त के रूप में सरल और सटीक पद-विभाग।

(4) व्युत्पत्ति - प्रकृति और प्रत्यय के आधार पर शब्दों का विवेचन।

पाणिनि के अन्य ग्रन्थ हैं - उणादिसूत्र, लिंगानुशासन और पाणिनीय शिक्षा। पाणिनिकालीन (कुछ विद्वानों के अनुसार उत्तरकालीन) में कात्यायन एवं पतंजलि विशेष उल्लेखनीय हैं। कात्यायन ने कार्तिक में पाणिनि के सूत्रों का विश्लेषण तो किया ही, अनेक दोषों की ओर भी संकेत किया। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उन संकेतों का भी बड़ा महत्त्व है, क्योंकि समय-परिवर्त्तन तथा भाषा-विकास के साथ भाषा-सम्बन्धी नियमों में भी परिवर्त्तन की अपेक्षा हुआ करती है।

पतंजलि और उनका महाभाष्य

अब तक सम्पूर्ण संसार में महाभाष्यकार के रूप में प्रतिष्ठित होने का श्रेय केवल पतंजलि को है। पतंजलि (150 ईपू) कात्यायन के समकालीन थे अथवा नहीं, यह अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है। परन्तु इतना निश्चित है कि महाभाष्य लिखने के मूल में कात्यनीय वार्तिको की प्रेरणा काम करती रही है। कारण यह कि महाभाष्य का अधिकांश भाग कात्यायन द्वारा उठायी गई शंकाओं के समाधान से सम्बद्ध हैं। पतंजलि का मुख्य उद्देश्य उन पाणिनीय सूत्रों को

दोषमुक्त सिद्ध करने का रहा है, जो कात्यायन की दृष्टि में या तो दोषमुक्त थे अथवा बहुत उपादेय नहीं थे। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अष्टाध्यायी के कठिन सूत्रों का भाष्य भी प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त स्पष्ट और विस्तृत है। महाभाष्य में कुल 1689 सूत्रों की व्याख्या की गई है। यद्यपि महाभाष्य का आधार अष्टाध्यायी ही रही है, तथापि इसमें पतंजलि ने जनभाषा का जैसा विस्तृत विवेचन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनका भाषाविषयक अध्ययन तो गहन एवं व्यापक था ही, भाषा-विश्लेषण की क्षमता भी उनमें विलक्षण थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों प्रकार की भाषाओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने भाषा को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। भाषा-चिन्तन के क्षेत्र में उनका यह विशिष्ट अवदान माना जाता है।

पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि को 'मुनित्रय' के रूप में सादर स्मरण किया जाता है। इन तीनों महान भाषाचिन्तकों को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। ये तीनों भाषाशास्त्री विश्व-विश्रुत हो चुके हैं और जबतक भाषा-विश्लेषण होता रहेगा, उनका उल्लेख अपेक्षित समझा जाएगा

पाणिनि पश्चात् का भाषाध्ययन

अष्टाध्यायी की टीका एवं उसकी मौलिक व्याख्या की दृष्टि से क्रमशः काशिका एवं कौमुदी ग्रन्थों का विशिष्ट महत्त्व है। कौमुदी ग्रन्थों में सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित) एवं लघुकौमुदी प्रसिद्ध हैं।

मण्डन मिश्र प्रसिद्ध भाषाचिन्तक थे। इन्होंने 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की। आप आदिगुरु शंकराचार्य के समकालीन थे। पर, कुछ लोग शंकराचार्य का समय 782-820 ई. मानते हैं। ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता। मण्डन मिश्र और शंकराचार्य इससे पहले हुए थे।

भाषाविज्ञान को भर्तृहरि की देन—वाक्यपदीय का महत्त्व पाणिनि-पतंजलि-पश्चात् के भाषाशास्त्रियों में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि (सातवीं शताब्दी) का स्थान अत्युच्च है। न केवल प्राचीन भाषाशास्त्र की दृष्टि से भर्तृहरि महान है, अपितु आधुनिक भाषाविज्ञानी भी उनके चिन्तन से अत्यधिक प्रभावित हैं। तीन काण्डो ं- ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड और पदकाण्ड में विभक्त वाक्यपदीय भाषाविज्ञान का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अत्यन्त संक्षेप में इस ग्रंथ की विशेषताओं पर निम्नांकित रूपों में प्रकाश डाला जा सकता है—

(1) भाषा की इकाई वाक्य ही होता है, चाहे उसका अस्तित्व एक वर्ण के रूप में क्यों न हो।

(2) वाक्शक्ति विश्व-व्यवहार का सर्वप्रमुख आधार है।

(3) वाक्-प्रयोग एक मनोवैज्ञानिक क्रिया होता है, जिसमें वक्ता और श्रोता दोनों का होना आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि गार्डीनर, जेस्पर्सन एवं चॉम्सकी प्रभृति अधिक चर्चित आधुनिक भाषाविज्ञानी भी इसका पूर्ण समर्थन करते हैं।

(4) हर वर्ण में उस के अतिरिक्त भी किंचित वर्णांश सम्मिलित रहता है। अमरीकी भाषाविज्ञान ने भी प्रयोग द्वारा इसे सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। भौतिक विज्ञान भी यही बतलाता है।

(5) ध्वनि उत्पादन, उच्चारण, ध्वनि-ग्रहण, स्फोट आदि का विस्तृत विवेचन भर्तृहरि ने किया है। भाषाविज्ञान के ये प्रमुख विषय हैं।

(6) भर्तृहरि अर्थग्रहण में लोक प्रसिद्ध को ही महत्त्व देते हैं। पतंजलि के बाद इन्होंने ही इस पर विशद रूप से विचार किया है।

(7) भर्तृहरि ने शिष्ट भाषा के साथ-साथ लोक भाषा के अध्ययन पर भी बहुत बल दिया है। यही प्रवृति आज सम्पूर्ण विश्व में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार, भर्तृहरि के भाषा सिद्धांत अत्यन्त व्यापक अथवा पूर्ण वैज्ञानिक हैं।

कौण्ड भट्ट एवं नागेश भट्ट

भर्तृहरि के बाद के भाषाचिन्तकों में कौण्डभट्ट (1500ई) और नागेश भट्ट (1670ई) प्रमुख हैं। नागेश ने अपने 'शब्देन्दुशेखर','परिभाषेन्दुशेखर', 'स्फोटवाद' एवं 'वैयाकरण सिद्धांत-मंजूषा' ग्रन्थों का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया है।

प्राचीन एवं मध्यकाल में पाश्चात्य भाषाविज्ञान

भारत की तुलना में यूरोप में भाषाविषयक अध्ययन बहुत देर से प्रारंभ हुआ और उसमें वह पूर्णता और गंभीरता न थी जो भारतीय शिक्षाग्रंथों, प्रातिशाख्यों और पाणिनीय व्याकरण में थी। पश्चिमी दुनिया के लिये भाषाविषयक प्राचीनतम उल्लेख ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) में बुक ऑफ जेनिसिस (Book of Genesis) के दूसरे अध्याय में पशुओं के नामकरण के संबंध में मिलता है।

यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (पाँचवी शताब्दी ई. पू.) ने मिस्र के राजा संमेतिकॉस द्वारा संसार की भाषा ज्ञात करने के लिये दो नवजात शिशुओं पर

प्रयोग करने का उल्लेख किया है। यूनान में प्राचीनतम भाषा-वैज्ञानिक विवेचन प्लेटो (425-348-47 ई. पू.) के संवाद में मिलता है, जो मुख्यतया ऊहापोहात्मक है।

अरस्तू (384-322-21 ई. पू.) पाश्चात्य भाषाविज्ञान के पिता कहे जाते हैं। उन्होंने भाषा की उतपत्ति और प्रकृति के संबंध में अपने गुरू प्लेटो से भिन्न विचार व्यक्त किए। उनके अनुसार भाषा समझौते (thesis) और परंपरा (Synthesis) का परिणाम है। उन्होंने भाषा को यादृच्छिक कहा है। अरस्तू का यह मत आज भी सर्वमान्य है। गाय को "गाय" इसलिये नहीं कहा जाता है कि इस शब्द से इस विशेष चौपाए जानवर का बोध होना अनिवार्य है, बल्कि इसलिये कहा जाता है कि कभी उक्त पशु का बोध कराने के लिये इस शब्द का यादृच्छिक प्रयोग कर लिया गया था, जिसे मान्यता मिल गई और जो परंपरा से चला आ रहा है उन्होंने शब्दों के तीन भेद "संज्ञा", "क्रिया", "निपात" किया।

यूनान में भाषा का अध्ययन केवल दार्शनिकों तक ही सीमित रहा। उन्होंने अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषाओं में कोई रुचि नहीं दिखाई। सिकंदर की सेनाओं ने यूनान से लेकर भारत की उत्तरी सीमा तक के विस्तृत प्रदेश को पदाक्रांत किया, किंतु उनके विवरणों में उन प्रदेशों की बोलियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। यूनान में भाषा विषयक कुछ उल्लेखनीय कार्य भी हुए।

अरिस्तार्कस ने होमर की कविता की भाषा का विश्लेषण किया।

अपोलोनिअस डिस्कोलस ने ग्रीक वाक्यप्रक्रिया पर प्रकाश डाला।

डिओनिसओस थ्रैक्स ने एक प्रभावशाली व्याकरण लिखा।

इसके साथ ही कुछ शब्दकोश ऐसे भी मिलते हैं जिनमें ग्रीक और लैटिन के अतिरिक्त एशिया माइनर में बोली जानेवाली भाषाओं के अनेक शब्दों का समावेश किया गया है। यूनानियों ने भाषा को तत्वमीमांसा की दृष्टि से परखा है। उनके द्वारा प्रस्तुत भाषाविश्लेषण को दार्शनिक व्याकरण की संज्ञा दी गई है। यूनानियों की तरह रोमणों ने भी व्याकरण और कोश बनाए।

वारो (116-27 ई. पू.) ने 26 खंडों में लैटिन व्याकरण रचा।

प्रिस्किअन (512-60) ने 20 खंडो में लैटिन व्याकरण रचा।

मध्ययुग में ईसाई मिशनरियों को औरों की भाषाएँ सीखनी पड़ी। जनता को जनता की भाषा में उपदेश देना प्रचार के लिये अनिवार्य था। फलस्वरूप परभाषा सीखने की व्यावहारिक पद्धतियाँ निकलीं। मिशनरियों ने अनेक भाषाओं के व्याकरण तथा कोश बनाए। पर ग्रीक लैटिन व्याकरण के ढाँचों में रचे जाने के

कारण ये अपूर्ण तथा अनुपयुक्त थे। उसी युग में सैनिकों और उपनिवेशों ने शासकीय वर्ग के लोगों ने स्थानीय भाषाओं का विश्लेषण शुरू किया। साथ ही व्यापार विस्तार के कारण अनेकानेक भाषाओं से यूरोपीयों का परिचय बढ़ा। 17वीं शताब्दी में (1647 ई.) फ्रांसिस लोडविक (Francis Lodwick) तथा रेवरेंड केव डेक (Rev- Cave Deck) जैसे विद्वानों ने "ए कॉमन राइटिंग" तथा "यूनिवर्सल कैरेक्टर" जैसे ग्रंथ लिखे थे, जिससे उनके 'स्वनविज्ञान' के ज्ञान का परिचय मिलता है। लोडविक ने एक आशुलिपि का आविष्कार किया था, जो अंग्रेजी और डच दोनों के लिये 1650 ई. के लगभग व्यवहृत की गई थी। मध्यकाल में सभी ज्ञात भाषाओं के सर्वेक्षण का प्रयत्न हुआ। अतएव अनेक बहुभाषी कोश तथा बहुभाषी संग्रह निकले। 18वीं शताब्दी में पल्लास (P-S-Pallas) की विश्वभाषाओं की तुलनात्मक शब्दावली में 285 शब्द ऐसे हैं, जो 272 भाषाओं में मिलते हैं। एडेलुंग (Adelung) की माइथ्रेडेटीज (Mithridates) में 500 भाषाओं में "ईश प्रार्थना" है।

इस प्रकार 18वीं शती के पूर्व भाषाविषयक प्रचुर सामग्री एकत्र हो चुकी थी। किंतु विश्लेषण तथा प्रस्तुतीकरण की पद्धतियाँ वही पुरानी थीं। इनमें सर्वप्रथम जर्मन विद्वान् लाइबनित्स (Leibnitz) ने परिष्कार किया। इन्होंने ही संभवत: सर्वप्रथम यह बताया कि "यूरेशियाई" भाषाओं का एक ही प्रागैतिहासिक उत्स है। इस प्रकार 18वीं शती में तुलात्मक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की भूमिका बनी, जो 19वीं शती में जाकर विकसित हुई।

संक्षेप में, 19वीं शताब्दी से पूर्व यूरोपीय भाषाओं का जो अध्ययन किया गया, वह भाषावैज्ञानिक की अपेक्षा तार्किक अधिक, रूपात्मक (Formal) की अपेक्षा संकल्पनात्मक अधिक और वर्णनात्मक की अपेक्षा विध्यात्मा (Pre-scriptive) अधिक था।

19वीं शती (ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान)

उन्नीसवीं शती एतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान का युग था। इसके प्रारंभ का श्रेय संस्कृत भाषा से पाश्चात्यों के परिचय को है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान का सूत्रपात एक प्रकार से उस समय हुआ जब 2 फरवरी 1786 को सर विलियम जोंस ने कलकत्ते में यह घोषणा की कि संस्कृत भाषा की संरचना अद्‌भुत है, वह ग्रीक से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध और दोनों से ही अधिक परिष्कृत है। फिर भी इसका दोनों से घनिष्ठ संबंध है। उन्होंने देखा कि

संस्कृत की एक ओर ग्रीक और लैटिन तथा दूसरी और गॉथीक, केल्टी से इतनी अधिक समानता है कि निश्चय ही इन सब का एक ही स्रोत रहा होगा। यह पारिवारिक धारणा इस नए विज्ञान के मूल में है।

इस दिशा में पहला सुव्यवस्थित कार्य डेनमार्क वासी रास्क (1787-1832) का है। रास्क ने भाषाओं की समग्र संरचना की तुलना पर अधिक बल दिया और कहा कि केवल शब्दावली का साम्य आगत शब्दों के कारण भी हो सकता है। इन्होंने स्वनों के साम्य को भी पारिवारिक संबंध निर्धारण का महत्त्वपूर्ण अंग माना। इस धारणा को सुव्यवस्थित पुष्टि दी याकोव ग्रीम (1785-1863) ने, जिनके स्वन नियम भाषा विज्ञान में प्रसिद्ध हैं। इन स्वन नियमों में भारत-यूरोपीय भाषा से प्राग्जर्मनीय में, तदनंतर उच्चजर्मनीय में होनेवाले व्यवस्थित व्यंजन स्वन परिवर्तनों की व्याख्या है। इसी बीच संस्कृत के अधिकाधिक परिचय से पारिवारिक तुलना का क्रम अधिकाधिक गहरा होता गया। बॉप (1791-1867) ने संस्कृत, अवेस्ता ग्रीक, लैटिन, लिथुएनी, गॉथिक, जर्मन, प्राचीन स्लाव केल्टी और अल्बानी भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित किया। रास्क और ग्रिम ने स्वन परिवर्तनों पर प्रकाश डाला, बॉप ने मुख्यत: रूपप्रक्रिया का आधार ग्रहण किया।

रास्क, ग्रिम और बॉप के पश्चात् मैक्समूलर (1823-1900) और 'लाइखर (1823-68) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैक्सूमूलर की महत्त्वपूर्ण कृति "लेसंस इन दि सायंस ऑव लैंग्वेज" (1861) है। श्लाइखर ने भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का एक सुव्यवस्थित सर्वांगीण तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया। 'लाइखर ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान के सैद्धांतिक पक्ष पर भी विशेष कार्य किया। इनके अनुसार यदि दो भाषाओं में समान परिवर्तन पाए जाते हैं, तो ये दोनों भाषाएँ किसी काल में एक साथ रही होंगी। इस प्रकार उन्होंने तुलनात्मक आधार पर आदिभाषा (Ursprache) की पुनर्रचना (Reconstruction) के लिये मार्ग प्रशस्त किया। पुनर्रचना के अतिरिक्त भाषाविज्ञान को इनकी एक और मुख्य देन भाषाओं का प्ररूपसूचक वर्गीकरण है। इन दिनों भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आनेवाली अमेरिकी विद्वानों में हिवटनी (1827-1894) अग्रणी हैं। इन्होंने भाषा के विकास और भाषा के अध्ययन पर पुस्तकें लिखीं। 1876 में प्रकाशित इनके संस्कृत व्याकरण अपने क्षेत्र का अद्वितीय ग्रंथ है। श्लाइखर के तुरंत बाद फिक (1833-1916) ने 1868 में सर्वप्रथम भारत-यूरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक शब्दकोश प्रकाशित किया, जिसमें आदि भाषा के पुनर्रचित रूप भी दिए गए थे।

कुछ समय बाद विद्वानों का ध्यान ग्रिम नियम की कुछ अंसगतियों पर गया। डेनमार्क वासी वार्नर ने 1875 में एक ऐसी असंगति को नियमबद्ध अपवाद के रूप में स्थापित किया। यह असंगति थी भारत-यूरोपीय प,त,क् का जर्मनीय में सघोष बन जाना। वार्नर ने ग्रीक और संस्कृत की तुलना से इसका अपवाद ढूँढ़ निकाला जो वार्नर नियम के नाम से प्रचलित है। ऐसे अपवादों की स्थापना से विद्वानों के एक संप्रदाय को उनके अपने विश्वासों में पुष्टि मिली। ये नव्य वैयाकरण (Jung grammatiker) कहलाते हैं। इनके मत से स्वन नियमों का कोई अपवाद नहीं होता। स्वन परिवर्तन आकस्मिक और अव्यवस्थित नहीं है, प्रत्युत नियत और सुव्यवस्थित हैं। असंगति इस कारण मिलती है कि हम उनकी प्रक्रिया को पूरी तरह समझ नहीं पाए हैं, क्योकि भाषा के नमूनों की कमी है। कुछ असंगतियों के मूल में सादृश्य है, जिसकी पूर्वाचार्यों ने उपेक्षा की थी। इस प्रकार ये नव्य वैयाकरण बड़े व्यवस्थावादी थे।

ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर 20वीं सदी में भी कार्य हुआ है। भारत यूरोपीय परिवार पर ब्रुगमैन और डेलब्रुक एवं हर्मन हर्ट (Hermann Hirt) के तुलनात्मक व्याकरण महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। मेइए (Meillet) का भारत-यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका नामक ग्रंथ सनातन महत्त्व का कहा जा सकता है। हिटाइट नामक प्राचीन भाषा का पता लगने के बाद भारत-यूरोपीय भाषा विज्ञान पर नये सिरे से कार्य प्रारंभ हुआ। भारत यूरोपीयेतर परिवारों पर ऐतिहासिक तुलनात्मक कार्य हो रहा है। ग्रीनबर्ग का अफ्रीकी भाषाओं का वर्गीकरण अनुकरणीय है। इसकी अधुनातन शाखा भाषा कालक्रम विज्ञान (Giotto chronology या Lixico statistics) है, जिसके अंतर्गत तुलनात्मक पद्धति से उस समय के निरूपण का प्रयास किया जाता है जब किसी भाषापरिवार के दो सदस्य पृथक् पृथक् हुए थे। अमरीकी मानव विज्ञानी मॉरिस स्वेडिश इस प्रक्रिया के जन्मदाता हैं। यह पद्धति रेडियो रसायन द्वारा ली गई है।

बीसवीं शती (वर्णनात्मक भाषाविज्ञान)

बीसवीं शती का भाषाविज्ञान मुख्यत: वर्णनात्मक अथवा संरचनात्मक भाषाविज्ञान कहा जा सकता है। इसे आधुनिक रूप देनेवालों में प्रमुख बॉदें (Baudouin de courtenay), हेनरी स्वीट और सोसुर (Saussure) हैं। स्विस भाषा वैज्ञानिक सोसुर (1857-1913) द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों से भी पूर्व

हंबोल्ट (Humboldt) ने प्रतिपादित किया था कि भाषाविशेष का अध्ययन किसी अन्य भाषा से तुलना किए बिना उसी भाषा के आंतरिक अवयवों के आधार पर होना चाहिए। सोसुर ने सर्वप्रथम भाषा की प्रवृति पर प्रकाश डालते हुए संकेतित (Signified) और संकेतन (Signifier) के संबंध को वस्तु न मानकर प्रकार्य माना और उसे भाषाई चिह्न (Linguistic Sign) से अभिहित किया। चिह्न यादृच्छिक है अर्थात 'संकेतित' का 'संकेतक' से कोई तर्कसंगत संबंध नहीं है। वृक्ष के लिये 'पेड़' कहने में कोई तर्क नहीं है,'प','ए','ड', स्वनों में कुछ ऐसा नही है कि वह वृक्ष का ही संकेतक हो,यह केवल परंपरा के कारण है। इसके अतिरिक्त चिह्न का मूल्य भाषा में प्रयुक्त पूरी शब्दावली (अन्य सभी चिह्नों) के परिप्रेक्ष्य में होता है,अर्थात् उनके विरोध से होता है। भाषा का इन्हीं विरोधों की प्रकार्यता पर निर्भर रहना वर्णनात्मक भाषा विज्ञान का आधारस्तंभ है। इन (स्वनिम,रूपिम,अर्थिम आदि) की सत्ता विरोध के सिद्धांत पर ही आश्रित है।

सोसूर ने भाषा के दो प्रयोगों पैरोल (वाक) और लांग (भाषा) में भी भेद किया। प्रथम भाषा का जीवित रूप है,हमारा भाषणउच्चार पैरोल है। किंतु द्वितीय भावानयन (Abstraction) की प्रक्रिया से उद्भूत एक अमूर्त भावना है। आपकी हिंदी,हमारी हिंदी,सभी की हिंदी व्यक्तिगत स्तर पर उच्चारण,शब्द प्रयोगादि के भेद से भिन्न है–फिर भी हिंदी भाषा जैसी अमूर्त धारणा लांग है, जो भावानयन प्रक्रिया का परिणाम है और जो इन अनेक वैयक्तिक भेदों से परे और सामान्यकृत हैं। यह साकालिक है (Synchronic) है।

सोसुर का महत्त्व संरचनात्मक भाषाविज्ञान में क्रांतिकारी माना जा सकता है। बाद में यूरोप के अनेक स्कूल कोपेनहेगेन,प्राहा (प्राग),लंदन तथा अमेरिका के भाषावैज्ञानिक संप्रदाय इनके कुछ मूल सिद्धांतों को लेकर विकसित हुए हैं।

प्राहा सम्प्रदाय (स्कूल)

यूरोप में सोसुर की प्रेरणा से विकसित एक संप्रदाय प्राह स्कूल के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक रूसी विद्वान त्रुबेजकोय (Trube ज्ञावल,1890–1938) थे। बंद में इसके मुख्य प्रचारक रोमन यॉकोबसन (1896–1982) बने। इस स्कूल की सिद्धांत प्रदर्शिका पुस्तक त्रबेजकोआ लिखित (Grundzige der Phonologie),स्वनप्रक्रिया के सिद्धांत (1936) है। इस स्कूल में स्वनप्रक्रिया (Phonology) पर विशेष बल दिया जाता है। इनके यहाँ यह शब्द एक विशेष

विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके अंतर्गत भाषण स्वनों के प्रकार्य का सर्वांगीण अध्ययन आ जाता है और इसी कारण ये लोग प्रकार्यवादी (Functionalists) कहलाते हैं। इस संप्रदाय की महत्ता भाषा संरचना की निर्धारक पद्धति में है जिसमें विचार किया जाता है कि स्वन इकाइयाँ विशिष्ट भाषा संबंधी व्यवस्थाओं में किस प्रकार संघटित होती हैं। यह पद्धति विरोध पर आश्रित है। स्वनात्मक अंतर जब अर्थात्मक अंतर को भी प्रकट करते हैं, विरोधात्मक अर्थात स्वनिमात्मक (Phonematic) माने जाते हैं। उदाहरण के लिये हिंदी 'काल' और 'गाल' शब्दों को लें। इनमें स्वनात्मक अंतर स्वनिमात्मक है। परिणामस्वरूप 'क' और 'ग' दो पृथक-पृथक् स्वनिम हैं। यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि क और ग स्वत: स्वनिम नहीं हैं, ये स्वनिम केवल इस कारण हैं कि अर्थ के अनुसार ये विरोधात्मक हैं। स्वन स्वत: स्वनिम को निर्धारित नहीं करते। स्वनिमत्व की निर्धारक है इन स्वनों की विरोधात्मक प्रकार्यता। इस प्रकार, स्वनिम 'क, ग' (क, ग) स्वनों के समान वास्तविक नहीं है। ये केवल अमूर्त भाव या विरोधात्मक प्रकार्यों के योग हैं।

यह विरोध इस संप्रदाय में बड़े विस्तार के साथ वर्णित हुआ है। इसके अनेक प्रतिरूप युग्म, जैसे द्विपार्श्विक, बहुपार्श्विक आनुपातिक, विलगति आदि परिभाषित किए गए हैं। निवैषम्यीकरण, आर्कीस्वनिम, सहसंबंध, आदि टेक्निकल शब्द इसी स्कूल के हैं। फ्रांस के आंद्रे मार्तिने ने इस विरोध की महत्ता का ऐतिहासिक स्वनविकास में भी प्रयोग किया और कालक्रमिक स्वनप्रक्रिया की नींव डाली। कालक्रम से उत्पन्न अनेक स्वनपरिवर्तन भाषा की स्वनसंघटना में भी अंतर उपस्थित करते हैं। ये प्रकार्यात्मक परिवर्तन कहलाते हैं। ये प्रकार्यात्मक परिवर्तन भी व्यवस्था से आते हैं और सामंजस्य अथवा लाघव की दिशा में होते हैं। इस प्रकार प्राहा स्कूल ऐतिहासिक विकासों की भी तर्कसंगत व्याख्या में सफल हुआ है।

कोपेनहेगेन सम्प्रदाय (स्कूल)

इन्हीं दिनों यूरोप में एक अन्य संप्रदाय चल निकला। यह 'कोपेनहेगेन स्कूल', 'डेनिश स्कूल', अथवा 'ग्लासेमेटिक्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रर्वतक हेल्मस्लेव (सन् 1899) हैं और इनकी सिद्धांत दर्शिका है Omkring Sprogteorienx Grundloeggelse, 1943 अंग्रेजी अनुवाद ह्विटफील्ड द्वारा Prolegomena to a Theory of Language, 1953। यह संप्रदाय अधिकतर

सिद्धांतों के विवेचन में सीमित रहा। पर अभी इन सिद्धांतों का भाषा विशेष पर प्रयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ है। इस संप्रदाय की महत्ता इसमें है कि यह शुद्ध रूपवादी है। भाषा को यह भी सोसुर की भाँति मूल्यों की व्यवस्था मानता है, किंतु भाषाविश्लेषण में भावेतर तत्वों का तथा भाषाविज्ञानेतर विज्ञानों का, जैसे भौतिकी, शरीरप्रक्रियाविज्ञान, समाजशास्त्र आदि का आश्रय नहीं लेना चाहता। विश्लेषण पद्धति शुद्ध भाषापरक होनी चाहिए स्वयं में समर्थ और स्वयं में पूर्ण। इस संप्रदाय में अभिव्यक्ति और आशय प्रत्येक के दो-दो भेद किए गए रूप और सार भाषेतर तत्व है। रूप शुद्ध भाषापरक तत्व है, जो सार तत्वों की संघटना व्यवस्था के रूप में हैं। इस प्रकार अभिव्यक्ति बनती है और अभिव्यक्ति के रूप में संरचना व्यवस्था, जैसे, स्वनिम, रूपिम आदि है। इसी प्रकार आशय के सार के अंतर्गत शब्दार्थ हैं और रूप में अर्थसंघटना है।

लंदन सम्प्रदाय (स्कूल)

हेनरी स्वीट इसके आधारस्तंभ कहे जा सकते हैं। इसका विशेष परिवर्धन लंदन विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान तथा स्वनविज्ञान के विद्वान प्रोफेसर फर्थ द्वारा हुआ है। यह स्कूल अर्थ को भी मान्यता देता है। इसके अनुसार भाषा एक सार्थक क्रिया है और अर्थप्रसंग के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। इस स्कूल में ध्वन्यात्मक विवेचन के साथ ही साथ रागात्मक तत्वों की चर्चा होती है। रागात्मक विश्लेषण अमेरिकी स्वनिम वैज्ञानिक विश्लेषण से भिन्न है और इसका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। रागात्मक विश्लेषण बहुव्यवस्थाजनित है, जब कि स्वनिम विज्ञान एकव्यवस्थाजनित है। फर्थ ने जिस रागात्मक स्वनप्रक्रिया का प्रवर्तन किया उसे आगे बढ़ानेवालों में मुख्य हैं। रॉबिंस, लायंस, हेलिडे और डिक्शन। जहाँ तक स्वनविज्ञान का संबंध है, लंदन स्कूल के अंतर्गत स्वीट के बाद डेनियल जोन्स का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अमरीकी सम्प्रदाय (स्कूल)

यद्यपि 'प्राहास्कूल' और 'कोपेनहेगन स्कूल' जैसे शब्दों के वजन पर अमरीकी स्कूल नामकरण उचित नहीं होगा, क्योंकि यहाँ केवल एक पद्धति पर काम नहीं हुआ, फिर भी सुविधा के लिये अमेरिकी स्कूल कहा गया है। अमरीका में संरचनात्मक भाषाविज्ञान के प्रवर्तकों में बोआज (1858-1942), सैपीर (1884-1939) तथा ब्लूमफील्ड (1887-1949) के नाम आते हैं। इनमें

पहले दो मूलत: मानवविज्ञानी थे तथा भाषाविश्लेषण उनके लिये व्यावहारिक आवश्यकता थी। उन्होंने अमरीकी जंगली जातियों की भाषाओं के वर्णन का प्रयास किया है। ब्लूमफील्ड निस्संदेह ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अच्छे ज्ञाता थे और जर्मनीय भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार था। ब्लूमफील्ड अमरीकी भाषाविज्ञान के प्रेरणास्रोत रहे हैं और आप की पुस्तक भाषा (लैंग्वेज) बड़े आदर के साथ पढ़ी-पढ़ाई जाती है।

ब्लूमफील्ड की महत्ता इसमें है कि इन्होंने भाषाविज्ञान को विज्ञान की कोटि में स्थापित किया और व्याकरण तथा भाषाई विवेचन को सही अर्थो में विज्ञान का रूप दिया। इनका आग्रह रहा है कि भाषा का विश्लेषण वर्गीकरण तथा प्रस्तुतीकरण वैज्ञानिक रीति से होना चाहिए। अर्थ का भाषाविश्लेषण से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। मनोविज्ञान दर्शन आदि का आश्रय नहीं लेना चाहिए, न अटकलें लगानी चाहिए और न शिथिल, अस्पष्ट शब्दावली में तथ्यों को प्रकट करना चाहिए। स्वन नियमों की अटूटता में इनका विश्वास था।

किंतु ब्लूमफील्ड ने विश्लेषण पद्धति पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला। यह कमी उनकी अगली पीढ़ी के विद्वानों ने पूरी की। पाइक ने "स्वनिविज्ञान" में और नाइडा ने रूप प्रक्रिया में विश्लेषण पद्धति का विस्तार से विवेचन किया है। पाइक ने टैग्मेमिक पद्धति निकाली जो कि रूपप्रक्रिया और वाक्यप्रक्रिया दोनों में एक समान प्रयुक्त होने से स्पृहणीय हो गई है। इस पद्धति पर अनेकानेक भाषाओं के विश्लेषण और विवरण प्रस्तुत किए गए हैं और सर्वत्र यह सफल रही है। इन्हीं के समकालीन जैलिग हैरिस ने भी संरचनात्मक पद्धति पर अपनी पुस्तक लिखी। इसी समय वेल्स ने अव्यवहित अवयव की पद्धति से वाक्यों का विश्लेषण करना शुरू किया, जिसे अनेक भाषाविदों ने अपनाया। फिर हैरिस के शिष्य चौमस्की ने एक नितांत गणितीय एवं तर्कसंगत पद्धति निकाली। यह है रूपांतरण-जनन (ट्रांसफॉर्मेशन जैनरेटिव) पद्धति। यह अधुनातन पद्धति है और भाषावैज्ञानिकों को सर्वाधिक प्रिय हो चली है। अब हैरिस ने अव्यवहित अवयव पद्धति और रूपांतरण विश्लेषण पद्धति की कमियों को देखते हुए सूत्र अवयव (S- C&String constituent) का सिद्धांत प्रस्तुत् किया है। यह विश्लेषण पद्धति और रूपांतरण पद्धति के बीच का रास्ता है। यह प्रत्येक वाक्य में से एक 'मौलिक वाक्य' (elementary sentence) पृथक कर देती है। अव्यवहित अवयव विश्लेषण पद्धति में इस तरह 'मौलिक वाक्य' का पृथक्करण नहीं होता

जब कि रूपांतरण विश्लेषण पद्धति में पूरे वाक्य को अलग-अलग 'मौलिक वाक्यों' और उनके 'अनुलग्नक शब्दों' (Adjuncts) में पृथक कर दिया जाता है। स्वनिमिक, रूपिमिक और वाक्य स्तर पर भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य जितना पुस्तकें लिखकर किया गया है, उससे कहीं अधिक भाषाविज्ञान से संबंधित अमरीकी पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से हुआ है। इनके लेखकों में से कुछ हैं–ब्लॉक, हैरिस, हॉकेट, स्मिथ, ट्रेगर, वेल्स आदि।

भाषा का माध्यम

1. अभिव्यक्ति का माध्यम

अपने भावों को अभिव्यक्त करके दूसरे तक पहुँचाने हेतु भाषा का उद्‌भव हुआ। भाषा के माध्यम से हम न केवल अपने, भावों, विचारों, इच्छाओं और आकांक्षाओं को दूसरे पर प्रकट करते हैं, दूसरों द्वारा व्यक्त भावों, विचारों और इच्छाओं को ग्रहण भी करते हैं।

2. चिन्तन का माध्यम

कुछ सुने, बोले या लिखे-पढ़े, इतना पर्याप्त नहीं है, अपितु यह बहुत आवश्यक है कि वे जो कुछ पढ़े और सुनें, उसके आधार पर स्वयं चिन्तन-मनन करें। भाषा विचारों का मूल-स्रोत है। भाषा के बिना विचारों का कोई अस्तित्व नहीं है और विचारों के बिना भाषा का कोई महत्त्व नहीं।

3. संस्कृति का माध्यम

भाषा और संस्कृति दोनों परम्परा से प्राप्त होती हैं। अतः दोनों के बीच गहरा सम्बन्ध रहा है। जहाँ समाज के क्रिया-कलापों से संस्कृति का निर्माण होता है, वहाँ सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए भाषा का ही आधार लिया जाता है। पौराणिक एवं साहसिक कहानियाँ, पर्व-त्यौहार, मेला-महोत्सव, लोक-कथाएँ, ग्रामीण एवं शहरी जीवन-शैली, प्रकृति-पर्यावरण, कवि-कलाकारों की रचनाएँ, महान विभूतियों की कार्यावली, राष्ट्रप्रेम, समन्वय-भावना आदि सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रभाव भी भाषा पर पड़ता है। दरअसल, किसी भी क्षेत्र विशेष के मानव समुदाय को परखने के लिए उसकी भाषा को समझना आवश्यक है।

4. साहित्य का माध्यम

भाषा के माध्यम से ही साहित्य अभिव्यक्ति पाता है। किसी भी भाषा के बोलनेवालों जन-समुदाय के रहन-सहन, आचार-विचार आदि का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने वाला उस भाषा का साहित्य होता है। साहित्य के जरिए हमें उस निर्दिष्ट समाज के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का परिचय मिलता है। केवल समकालीन जीवन का ही नहीं, बल्कि साहित्य हमें अपने अतीत से उसे जोड़कर एक विकासशील मानव-सभ्यता का पूर्ण परिचय देता है। साथ ही साहित्य के अध्ययन से एक उन्नत एवं उदात्त विचार को पनपने का अवसर मिलता है तो उससे हम अपने मानवीय जीवन को उन्नत बनाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

बोली, विभाषा, भाषा और राजभाषा

यों बोली, विभाषा और भाषा का मौलिक अन्तर बता पाना कठिन है, क्योंकि इसमें प्रमुख अन्तर व्यवहार-क्षेत्र के विस्तार पर निर्भर है। वैयक्तिक विविधता के चलते एक समाज में चलने वाली एक ही भाषा के कई रुप दिखाई देते हैं। मुख्य रूप से भाषा के इन रूपों को हम इस प्रकार देखते हैं-

(1) बोली,

(2) विभाषा, और

(3) भाषा (अर्थात् परिनिष्ठित या आदर्श भाषा)

बोली और भाषा में अन्तर होता है। यह भाषा की छोटी इकाई है। इसका सम्बन्ध ग्राम या मण्डल अर्थात सीमित क्षेत्र से होता है। इसमें प्रधानता व्यक्तिगत बोलचाल के माध्यम की रहती है और देशज शब्दों तथा घरेलू शब्दावली का बाहुल्य होता है। यह मुख्य रूप से बोलचाल की भाषा है, इसका रूप (लहजा) कुछ-कुछ दूरी पर बदलते पाया जाता है तथा लिपिबद्ध न होने के कारण इसमें साहित्यिक रचनाओं का अभाव रहता है। व्याकरणिक दृष्टि से भी इसमें विसंगतियाँ पायी जाती हैं।

विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा विस्तृत होता है यह एक प्रान्त या उपप्रान्त में प्रचलित होती है। एक विभाषा में स्थानीय भेदों के आधार पर कई बोलियाँ प्रचलित रहती हैं। विभाषा में साहित्यिक रचनाएँ मिल सकती हैं। भाषा, या परिनिष्ठित भाषा अथवा आदर्श भाषा, विभाषा की विकसित स्थिति हैं। इसे राष्ट्र-भाषा या टकसाली-भाषा भी कहा जाता है।

प्राय: देखा जाता है कि विभिन्न विभाषाओं में से कोई एक विभाषा अपने गुण-गौरव, साहित्यिक अभिवृद्धि, जन-सामान्य में अधिक प्रचलन आदि के आधार पर राजकार्य के लिए चुन ली जाती है और उसे राजभाषा के रूप में या राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया जाता है।

राज्यभाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा

किसी प्रदेश की राज्य सरकार के द्वारा उस राज्य के अन्तर्गत प्रशासनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, उसे राज्यभाषा कहते हैं। यह भाषा सम्पूर्ण प्रदेश के अधिकांश जन-समुदाय द्वारा बोली और समझी जाती है। प्रशासनिक दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य में सर्वत्र इस भाषा को महत्त्व प्राप्त रहता है।

भारतीय संविधान में राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए हिन्दी के अतिरिक्त 22 अन्य भाषाएं राजभाषा स्वीकार की गई हैं। राज्यों की विधानसभाएं बहुमत के आधार पर किसी एक भाषा को अथवा चाहें तो एक से अधिक भाषाओं को अपने राज्य की राज्यभाषा घोषित कर सकती हैं। राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। प्राय: वह अधिकाधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा होती है। प्राय: राष्ट्रभाषा ही किसी देश की राजभाषा होती है।

भाषा के विभिन्न रूप

जीवन के विभिन्न व्यवहारों के अनुरूप भाषिक प्रयोजनों की तलाश हमारे दौर की अपरिहार्यता है। इसका कारण यह है कि भाषाओं को सम्प्रेषणपरक प्रकार्य (फंक्शन) कई स्तरों पर और कई सन्दर्भों में पूरी तरह प्रयुक्ति सापेक्ष होता गया है। प्रयुक्ति और प्रयोजन से रहित भाषा, अब भाषा ही नहीं रह गई है। भाषा की पहचान केवल यही नहीं कि उसमें कविताओं और कहानियों का सृजन कितनी सप्राणता के साथ हुआ है, बल्कि भाषा की व्यापकतर सम्प्रेषणीयता का एक अनिवार्य प्रतिफल यह भी है कि उसमें सामाजिक सन्दर्भों और नये प्रयोजनों को साकार करने की कितनी सम्भावना है। इधर संसार भर की भाषाओं में यह प्रयोजनीयता धीरे-धीरे विकसित हुई है और रोजी-रोटी का माध्यम बनने की विशिष्टताओं के साथ भाषा का नया आयाम सामने आया है—वर्गाभाषा, तकनीकी भाषा, साहित्यिक भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, सम्पर्क भाषा, बोलचाल की भाषा,

मानक भाषा आदि।

बोलचाल की भाषा

'बोलचाल की भाषा' को समझने के लिए 'बोली'को समझना जरूरी है। 'बोली' उन सभी लोगों की बोलचाल की भाषा का वह मिश्रित रूप है जिनकी भाषा में पारस्परिक भेद को अनुभव नहीं किया जाता है। विश्व में जब किसी जन-समूह का महत्त्व किसी भी कारण से बढ़ जाता है तो उसकी बोलचाल की बोली 'भाषा' कही जाने लगती है, अन्यथा वह 'बोली' ही रहती है। स्पष्ट है कि 'भाषा' की अपेक्षा 'बोली' का क्षेत्र, उसके बोलने वालों की संख्या और उसका महत्त्व कम होता है। एक भाषा की कई बोलियाँ होती हैं क्योंकि भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है। जब कई व्यक्ति-बोलियों में पारस्परिक सम्पर्क होता है, तब बोलचाल की भाषा का प्रसार होता है, आपस में मिलती-जुलती बोली या उपभाषाओं में हुई आपसी व्यवहार से बोलचाल की भाषा को विस्तार मिलता है। इसे 'सामान्य भाषा' के नाम से भी जाना जाता है। यह भाषा बड़े पैमाने पर विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होती है।

मानक भाषा

भाषा के स्थिर तथा सुनिश्चित रूप को मानक या परिनिष्ठित भाषा कहते हैं। भाषाविज्ञान कोश के अनुसार 'किसी भाषा की उस विभाषा को परिनिष्ठित भाषा कहते हैं, जो अन्य विभाषाओं पर अपनी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता स्थापित कर लेती है तथा उन विभाषाओं को बोलने वाले भी उसे सर्वाधिक उपयुक्त समझने लगते हैं। मानक भाषा शिक्षित वर्ग की शिक्षा, पत्राचार एवं व्यवहार की भाषा होती है। इसके व्याकरण तथा उच्चारण की प्रक्रिया लगभग निश्चित होती है। मानक भाषा को टकसाली भाषा भी कहते हैं। इसी भाषा में पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन होता है। हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, संस्कृत तथा ग्रीक इत्यादि मानक भाषाएँ हैं। किसी भाषा के मानक रूप का अर्थ है, उस भाषा का वह रूप जो उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-रचना, शब्द और शब्द-रचना, अर्थ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, प्रयोग तथा लेखन आदि की दृष्टि से, उस भाषा के सभी नहीं तो अधिकांश सुशिक्षित लोगों द्वारा शुद्ध माना जाता है। मानकता अनेकता में एकता की खोज है, अर्थात यदि किसी लेखन या भाषिक इकाई में विकल्प न हो तब तो वही मानक होगा, किन्तु यदि विकल्प हो तो अपवादों की बात छोड़

दें तो कोई एक मानक होता है। जिसका प्रयोग उस भाषा के अधिकांश शिष्ट लोग करते हैं। किसी भाषा का मानक रूप ही प्रतिष्ठित माना जाता है। उस भाषा के लगभग समूचे क्षेत्र में मानक भाषा का प्रयोग होता है। 'मानक भाषा' एक प्रकार से सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक होती है। उसका सम्बन्ध भाषा की संरचना से न होकर सामाजिक स्वीकृति से होता है। मानक भाषा को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि समाज में एक वर्ग मानक होता है, जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है तथा समाज में उसी का बोलना-लिखना, उसी का खाना-पीना, उसी के रीति-रिवाज अनुकरणीय माने जाते हैं। मानक भाषा मूलतः उसी वर्ग की भाषा होती है। अंग्रेजी में इसे 'स्टैंडर्ड लैंग्वेज' कहा जाता है।

सम्पर्क भाषा

अनेक भाषाओं के अस्तित्व के बावजूद जिस विशिष्ट भाषा के माध्यम से व्यक्ति-व्यक्ति, राज्य-राज्य तथा देश-विदेश के बीच सम्पर्क स्थापित किया जाता है उसे सम्पर्क भाषा कहते हैं। एक ही भाषा परिपूरक भाषा और सम्पर्क भाषा दोनों ही हो सकती है। आज भारत में सम्पर्क भाषा के तौर पर हिन्दी प्रतिष्ठित होती जा रही है जबकि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी संपर्क भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। सम्पर्क भाषा के रूप में जब भी किसी भाषा को देश की राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा के पद पर आसीन किया जाता है तब उस भाषा से कुछ अपेक्षाएँ भी रखी जाती हैं। जब कोई भाषा 'सम्पर्क भाषा' के रूप में उभरती है तब राष्ट्रीयता या राष्ट्रता से प्रेरित होकर वह प्रभुतासम्पन्न भाषा बन जाती है। यह तो आवश्यक नहीं कि मातृभाषा के रूप में इसके बोलने वालों की संख्या अधिक हो पर द्वितीय भाषा के रूप में इसके बोलने वाले बहुसंख्यक होते हैं।

राजभाषा

जिस भाषा में सरकार के कार्यों का निष्पादन होता है उसे राजभाषा कहते हैं। कुछ लोग राष्ट्रभाषा और राजभाषा में अन्तर नहीं करते और दोनों को समानार्थी मानते हैं। लेकिन दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। राष्ट्रभाषा सारे राष्ट्र के लोगों की सम्पर्क भाषा होती है जबकि राजभाषा केवल सरकार के कामकाज की भाषा है। भारत के संविधान के अनुसार हिन्दी संघ सरकार की राजभाषा है। राज्य सरकार की अपनी-अपनी राज्य भाषाएँ हैं। राजभाषा जनता और सरकार के बीच

एक सेतु का कार्य करती है। किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र की उसकी अपनी स्थानीय राजभाषा उसके लिए राष्ट्रीय गौरव और स्वाभिमान का प्रतीक होती है। विश्व के अधिकांश राष्ट्रों की अपनी स्थानीय भाषाएँ राजभाषा हैं। आज हिन्दी हमारी राजभाषा है।

राष्ट्रभाषा

देश के विभिन्न भाषा-भाषियों में पारस्परिक विचार-विनिमय की भाषा को राष्ट्रभाषा कहते हैं। राष्ट्रभाषा को देश के अधिकतर नागरिक समझते हैं, पढ़ते हैं या बोलते हैं। किसी भी देश की राष्ट्रभाषा उस देश के नागरिकों के लिए गौरव, एकता, अखण्डता और अस्मिता का प्रतीक होती है। महात्मा गांधी जी ने राष्ट्रभाषा को राष्ट्र की आत्मा की संज्ञा दी है। एक भाषा कई देशों की राष्ट्रभाषा भी हो सकती है, जैसे अंग्रेजी आज अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा कनाडा इत्यादि कई देशों की राष्ट्रभाषा है। संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा तो नहीं दिया गया है लेकिन इसकी व्यापकता को देखते हुए इसे राष्ट्रभाषा कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में राजभाषा के रूप में हिन्दी, अंग्रेजी की तरह न केवल प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा है, बल्कि उसकी भूमिका राष्ट्रभाषा के रूप में भी है।। वह हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता की भाषा है। महात्मा गांधी जी के अनुसार किसी देश की राष्ट्रभाषा वही हो सकती है, जो सरकारी कर्मचारियों के लिए सहज और सुगम हो, जिसको बोलने वाले बहुसंख्यक हों और जो पूरे देश के लिए सहज रूप में उपलब्ध हो। उनके अनुसार भारत जैसे बहुभाषी देश में हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के निर्धारित अभिलक्षणों से युक्त है। उपर्युक्त सभी भाषाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। इसलिए यह प्रश्न निरर्थक है कि राजभाषा, राष्ट्रभाषा, सम्पर्क भाषा आदि में से कौन सर्वाधिक महत्त्व का है, आवश्यकता है हिन्दी को अधिक व्यवहार में लाने की।

भारत की भाषाएँ

भारतीय संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाओं की संख्या 22 है। 1950 में भारतीय संविधान की स्थापना के समय में, मान्यता प्राप्त भाषाओं की संख्या 14 थी। आठवीं अनुसूची में तदोपरान्त जोड़ी गई भाषाएँ सिन्धी, कोंकणी, नेपाली, मणिपुरी, मैथिली, डोगरी, बोडो और सन्थाली सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यांवयन (कार्यान्वयन) मन्त्रालय की 2011 की रिपोर्ट के अनुसार पहचान योग्य

मातृभाषाओं की संख्या 234 है। शास्त्रीय भाषा का दर्जा पाने वाली पहली भाषा तमिल शास्त्रीय भाषा का दर्जा पाने वाली अन्य भाषाएँ संस्कृत, कन्नड़, मलयालम, तेलुगू और उड़िया नागालैंड की राजभाषा है अंग्रेजी, जम्मू और कश्मीर की राजभाषा उर्दू, गोवा की राजभाषा कोंकणी है। भारत के संविधान द्वारा निर्धारित सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय की राजभाषा अंग्रेजी है। लक्षद्वीप की प्रमुख भाषाएँ जेसरी (द्वीप भाषा) और महल सामान्यत: पुडुचेरी (पूर्व में पांडिचेरी) में बोली जाने वाली विदेशी भाषा फ्रेंच 'पूर्व की इतालवी' कही जाने वाली भारतीय भाषा तेलुगू भारत का एकमात्र राज्य जहाँ संस्कृत राजभाषा में रूप में मान्य है उत्तराखण्ड अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह की प्रमुख भाषाएँ हिन्दी, निकोबारी, बंगाली, तमिल, मलयालम और तेलुगू। अंग्रेजी मान्यता प्राप्त भाषाओं की सूची में नहीं है।

भाषा विकास को प्रभावित करने वाले कारक

भाषा विकास को प्रभावित करने वाले कारक इस प्रकार हैं -

1. बुद्धि- भाषा की क्षमता एवं योग्यता का संबंध हमारी बुद्धि से अटूट होता है। भाषा की कुशलता भी उन बालकों में अधिक होती है, जो बुद्धि में अधिक होते हैं। बर्ट ने अपने "वैकवार्ड चाइल्ड" में संकेत किया है जिन बालकों की बुद्धि क्षीण होती है वे भाषा की योग्यता भी कम रखते हैं और पिछडे भी होते हैं। तीक्ष्ण बुद्धि बालक भाषा का प्रयोग उपयुक्त ढंग से करते हैं।

2. जैविकीय कारण- मस्तिष्क की बनावट भी भाषा विकास को प्रभावित करते हैं। भाषा बोलने तथा समझने की लिए स्नायु तंत्र तथा वाक यंत्र की आवश्यकता होती है। बहुत हद तक इनकी बनावट तथा कार्य शैली तथा स्नायु नियंत्रण भाषा का प्रयोग उपयुक्त ढंग से करते हैं।

3. वातावरणीय कारक- भाषा संबंधी विकास पर व्यक्ति जिस स्थान और परिस्थिति में रहता है, आचरण करता है, विचारों का आदान-प्रदान करता है उसमें भाषा का विकास होता है। उदाहरण स्वरूप निम्न श्रेणी के परिवार व समाज के लोगों में भाषा का विकास कम होता है, क्योंकि उन्हें दूसरों के संपर्क में आने का अवसर कम मिलता है। इसी प्रकार परिवार में कम व्यक्तियों के होने पर भी भाषा संकुचित हो जाती है।

4. विद्यालय और शिक्षक- विद्यालय और शिक्षक भाषा विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करते हैं। विद्यालय में विभिन्न विषयों एवं

क्रियाओं का सीखना तथा सिखाना भाषा के माध्यम से होता है। इस प्रक्रिया में भाषा संबंधी विकास अच्छे से होता है।

5. व्यवसाय एवं कार्य– ऐसे बहुत से व्यवसाय है जिनमें भाषा का प्रयोग अत्यधिक होता है, उदाहरण स्वरूप अध्यापन, वकालत, व्यापार कुछ ऐसे व्यवसाय हैं जिनमें भाषा के बिना कोई कार्य नहीं चल सकता। अतएव वातावरण के अंतर्गत इनको भी सम्मिलित किया गया है।

6. अभिप्रेरणा, अनुबंधन तथा अनुकरण– मनोवैज्ञानिक के विचारानुसार भाषा संबंधी विकास अभिप्रेरणा, अनुबंधन एवं अनुकरण पर निर्भर करता है। एक निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि बोलने वाले शिशु को प्रलोभन देकर स्पष्ट भाषी बनाया गया। एक–दूसरे निरीक्षण में शिशुओं को चित्र दिखाकर उनके नाम याद कराये गये। ये अभिप्रेरण के महत्त्व को प्रकट करते हैं। भाषण प्रतियोगिता में पुरस्कृत होने पर छात्र को अधिक प्रभावशाली भाषा का प्रयोग करने का अभिप्रेरणा मिलती है।

अनुबंधन की प्रक्रिया में प्रलोभन पुरस्कार या अभिप्रेरणा के साथ प्रयत्न इस प्रकार जोड़ा जाता है कि प्रक्रिया पूरी हो जाती है। अनुकरण वास्तव में एक प्रकृति है, जो सभी को अभिप्रेरित करती है। कक्षा में अध्यापक की सुस्पष्ट साहित्यिक तथा शुद्ध भाषा का अनुकरण सचेतन एवं अचेतन रूप में छात्र करते हैं तथा भाषा संबंधी विकास करने में सफल होते हैं।

2

कश्मीरी भाषा एवं साहित्य

कश्मीरी भाषा एक भारतीय-आर्य भाषा है, जो मुख्यत: कश्मीर घाटी तथा चेनाब घाटी में बोली जाती है। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 56 लाख है। पाक-अधिकृत कश्मीर में 1998 की जनगणना के अनुसार लगभग 1 लाख कश्मीरी भाषा बोलने वाले हैं। कश्मीर की वितस्ता घाटी के अतिरिक्त उत्तर में जोजीला और बर्जल तक तथा दक्षिण में बानहाल से परे किश्तवाड़ (जम्मू प्रान्त) की छोटी उपत्यका तक इस भाषा के बोलने वाले हैं। कश्मीरी, जम्मू प्रान्त के बानहाल, रामबन तथा भद्रवाह में भी बोली जाती है। प्रधान उपभाषा किश्तवाड़ की "कश्तवाड़ी" है।

कश्मीर की भाषा कश्मीरी (कोशुर) है ये कश्मीर में वर्तमान समय में बोली जाने वाली भाषा है। कश्मीरी भाषा के लिए विभिन्न लिपियों का उपयोग किया गया है, जिसमें मुख्य लिपियां हैं- शारदा, देवनागरी, रोमन और परशो-अरबी है। कश्मीर वादी के उत्तर और पश्चिम में बोली जाने वाली भाषाएँ - दर्दी, श्रीन्या, कोहवाड़ कश्मीरी भाषा के उलट थीं। यह भाषा इण्डो-आर्यन और हिन्दुस्तानी-ईरानी भाषा के समान है।

भाषाविदों का मानना है कि कश्मीर के पहाड़ों में रहने वाले पूर्व नागावासी जैसे गन्धर्व, यक्ष और किन्नर आदि, बहुत पहले ही मूल आर्यन से अलग हो गए। इसी तरह कश्मीरी भाषा को आर्य भाषा जैसा बनने में बहुत समय लगा। नागा भाषा स्वत: ही विकसित हुई है इस सब के बावजूद, कश्मीरी भाषा ने अपनी विशिष्ट स्वर शैली को बनाए रखा और 8-9वीं शताब्दी में अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह, कई चरणों से गुजरना पड़ा।

इतिहास

'कश्मीरी' शब्द का उपयोग इस भाषा के रूप में सबसे पहले अमीर खुसरो ने 13वीं शताब्दी में किया था। परन्तु कश्मीर में 17वीं शताब्दी तक इसे देशभाषा या भाषा के नाम से ही जाना जाता था। अन्य प्रान्तों या स्थानों के लोग इसे कश्मीरी कहते थे जिसे बाद में कश्मीरियों ने भी अपना लिया। इस भाषा को काशुर भी कहते हैं।

तेरहवीं शताब्दी के शितिकण्ठ की महानयप्रकाश में इस भाषा की बानगी मिलती है जिसे उस समय सर्वगोचर देशभाषा कहा जाता था। वह उस समय प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश के अधिक निकट थी। चौदहवीं शताब्दी में ललद्यद की वाणी में कश्मीरी भाषा का लालित्य देखने को मिलता है। शैव सिद्धों ने इस भाषा का उपयोग अपने तन्त्र साहित्य में किया जिसके बाद यह धीरे-धीरे साहित्य की भी भाषा बनती चली गयी।

कश्मीरी भाषा लिखने के लिए शारदा लिपि का उपयोग दसवीं शताब्दी के आसपास किया गया था। चौदहवीं शताब्दी में फारसी के कश्मीर की राजभाषा बनने के पहले कश्मीरी शारदा लिपि में लिखी जाती थी। परन्तु उसके बाद फारसी लिपि में भी कश्मीरी लिखी जाने लगी। पौराणिक कश्मीरी लिपि को केवल शारदा में लिखा गया है। शारदा भाषा लिखने का तरीका स्वदेशी है, जो मूल ब्राह्मी से विकसित हुआ था। विद्वान, शासक और हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध आदि जैसे सभी धर्मों के लोग शारदा लिपि में लिखते थे। लालदा, रूपा भवानी, नन्द ऋषि और अन्य भक्ति कविता शारदा लिपि में ही लिखी गई थीं और अभी भी पुस्तकालय में इन्हें पढ़ा जा सकता हैं। इस लिपि का इस्तेमाल कश्मीरी पण्डितों द्वारा जन्म प्रमाणपत्र बनाने के लिए भी किया जाता है।

वर्त्तमान स्वरूप

वर्त्तमान में शारदा लिपि हिन्दुओं तक ही सीमित है लेकिन कश्मीरी भाषा लिखने के लिए, मुसलमान अरबी अक्षरों का उपयोग करते हैं। कश्मीरी भाषा में शारदा के अलावा, देवनागरी लिपि, रोमन और पर्शियन-अरबिक का भी इस्तेमाल किया गया है। कश्मीरी भाषा में कोशुर न्यूज, खासर भवानी टाइम्स, विभूता, मिलर आदि पत्र और पत्रिकाएँ भी शामिल हैं। अब कश्मीरी भाषा का सॉफ्टवेयर भी आ गया है। रोमन लिपि का कश्मीरी भाषा के लिए भी इस्तेमाल किया गया

है लेकिन यह लोकप्रिय नहीं है जम्मू और कश्मीर सरकार ने भी, अब पर्शियन-अरबिक लिपि, जो अब कश्मीरी लिपि के नाम से जानी जाती है, को ही आधिकारिक लिपि माना है। व्यापक रूप से इस भाषा को प्रकाशन में उपयोग किया जाता है। कुछ लोग अरबी-फारसी लिपि में कश्मीरी लिखते हैं, जो उर्दू से बहुत अलग नहीं है। कश्मीरी में, अ, आ, उ, ऊ आदि जैसे व्यंजनों के कई रूप होते हैं और व्यंजनों में दन्तुलुलिये च, ज, मराठी की तरह होते हैं, लेकिन उन्हें सामान्य लेखन में नहीं रखा जाता है।

नामकरण

कश्मीरी का स्थानीय नाम 'काशुर' है, पर 17वीं शती तक इसके लिए "भाषा" या "देशभाषा" नाम ही प्रचलित रहा। संभवत: अन्य प्रदेशों में इसे कश्मीरी भाषा के नाम से ही सूचित किया जाता रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से इस नाम का सबसे पहला निर्देश अमीर खुसरो (13वीं शती) की नुह-सिपिन्ह में सिंधी, लाहौरी, तिलंगी और माबरी आदि के साथ चलता है। स्पष्टत: यह दिशा वही है, जो पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, बँगला, हिन्दी और उर्दू आदि भारतीय भाषाओं की रही है।

उद्‌भव

ग्रियर्सन ने जिन तर्कों के आधार पर कश्मीरी के "दारद" होने की परिकल्पना की थी, उन्हें फिर से परखना आवश्यक है, क्योंकि इससे भी कश्मीरी भाषा की गई गुत्थियाँ सुलझ नहीं पातीं। घोष महाप्राण के अभाव में जो दारद प्रभाव देखा गया है वह तो सिन्धी, पश्तू, पंजाबी, डोगरी के अतिरिक्त पूर्वी बँगला और राजस्थानी में भी दिखाई पड़ता है, पर क्रियापदों के संश्लेषण में कर्ता के अतिरिक्त कर्म के पुरुष, लिंग और वचन का जो स्पर्श पाया जाता है उस पर दारद भाषाएँ कोई प्रकाश नहीं डालतीं। सम्भवत: कश्मीरी भाषा "दारद" से प्रभावित तो है, पर उद्‌भूत नहीं।

लिपि

15वीं शती तक कश्मीरी भाषा केवल शारदा लिपि में लिखी जाती थी। बाद में फारसी लिपि का प्रचलन बढ़ता गया और अब इसी का एक अनुकूलित रूप स्थिर हो चुका है। सिरामपुर से बाइबल का सर्वप्रथम कश्मीरी अनुवाद

शारदा लिपि ही में छपा था, दूसरा फारसी लिपि में और कुछ संस्करण रोमन में भी निकले। देवनागरी को अपनाने के प्रयोग भी होते रहे हैं और आजकल यह देवनागरी में भी लिखी जा रही है।

कश्मीर का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

काश्मीर का प्रामाणिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास जानने के दो मुख्य स्रोत हैं। पहला 12 वीं शती में कल्हण द्वारा रचित राजतरंगिणी एवं दूसरा मज्जिन सेनाचार्य का नीलमत पुराण। नीलमत पुराण एक उपपुराण है। इसमें कश्मीर का वंशचरित, भूगोल का वर्णन है।

इसमें वर्षों से कश्मीर में प्रचलित कथाओं, पराम्पराओं, स्थानों का वर्णन किया गया है। नीलमत शिव को व्याल यज्ञोपवीति कहता है। अर्थात् जिसने सर्प को जनेऊ (यज्ञोपवीत) की तरह धारण किया हो। इस देश की उत्पत्ति कथा बहुत ही रोचक है। यह कश्यप के पुत्रों, जो नाग थे उनका देश है। उनका नाम नील था। यहाँ नाग कहता है कि मैं मनुष्य के साथ निवास नहीं कर सकता। इससे कुपित होकर कश्यप ने उन्हें पिशाचों के साथ रहने का शाप दिया।

कश्यप द्वारा शापित नील ने गरुड़ के भय के बारे में बताते हुए करबद्ध क्षमा याचना की। पिता ने उस हिमालय पर पिशाचों के साथ रहने को कहा। वहाँ निकुम्भ और दुष्ट पिशाचों के बीच छह माह चलने वाले युद्ध का वर्णन मिलता है। कश्यप ऋषि कहते हैं- निकुम्भ के चले जाने पर छह माह तक मानवी सेना के साथ रहो। पुराण में नागों के इस देश को कश्मीर कहा गया है।

तैनासौ निर्मितो देशः कश्मीराख्यो भविष्यति।

कश्मीर में शारदा पीठ है, अर्थात् ज्ञान का पीठ। यही पर ज्ञानियों की परीक्षा होती थी। इसी धरा पर ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी माँ शारदा विराजती है। हम प्रतिदिन उनकी प्रार्थना करते हैं।

नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनि।
त्वामहं प्रार्थये नित्यं विद्यादानं च देहि मे।।

कल्हण द्वारा लिखित राजतरंगिणी में कश्मीर के 2000 वर्षों का इतिहास वर्णित है। इसे पढ़े बिना कश्मीर के इतिहास और संस्कृति को समझना असंभव है।

राजतरंगिणी में कल्हण ने अनेक स्थलों पर नीलमत पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है। संस्कृत के ग्रन्थों में प्रवरसेन से लेकर चन्द्रापीड़ आदि राजाओं की कथा मिलती है। वहाँ 697 ई. से 738 ई. तक हिन्दू शासक ललितादित्य ने शासन किया। इसके बाद इनका का उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मन् बना। अवन्तिवर्मन् ने श्रीनगर के निकट अवंतिपुर बसाया। नीलमत पुराण 1924 में द पंजाब संस्कृत बुक डिपो लाहौर से प्रकाशित है।

नीलमतपुराण का अध्ययन करने पर यह बात निश्चित हो जाती है कि नीलमतपुराण वास्तव में कश्मीर का भूगोल है। यह पुराण कश्मीर के पर्वतों, नदियों, जलाशयों, तीर्थों, दैवस्थानों आदि का विशद विवरण करता है। उसमें जिन स्थानों, नदियों, पर्वत शिखरों, जलाशयों, तीर्थों तथा दैवस्थान का उल्लेख है वह आज भी अपने मूल अपभ्रंश अथवा परिवर्तित नामों के साथ मिलते हैं। यहाँ उसकी अवस्थिति जहाँ बतायी गयी है वहीं ये स्थल मिलते हैं।

उनकी दिशा, उनके समीप के वर्णित प्राकृतिक भौगोलिक स्थान, यथा स्थान मिलते हैं। बहुत से लुप्त स्थानों को नीलमत पुराण के आधार पर खोजा गया है। उल्लेखनीय है कि नीलमतपुराण कश्मीर की प्राचीन परंपरा, इतिहास, धर्म, आचार-विचार, रहन-सहन का सजीव चित्रण करता है। निस्संदेह तत्कालीन समाज का वास्तविक चित्र आँखों के सामने आ जाता है। नीलमत पुराण में वर्णित स्थानों, उपस्थानों को मूल श्लोकों से मिलाकर अध्ययन करने से वास्तविकता पर प्रकाश पड़ता है।

चीनी पर्यटक ह्वेनसांग कल्हण से पहले कश्मीर आ चुका था। उसने नीलमत पुराण द्वारा वर्णित कश्मीर के इतिहास तथा कथाओं का उल्लेख किया है। निस्संदेह तत्कालीन कश्मीर में नीलमतपुराण के प्रचलित होने की पुष्टि करता है।

कल्हण ने नीलमतपुराण से यथेष्ट ऐतिहासिक सामग्री लेकर राजतरंगिणी की रचना की है। कल्हण द्वारा उल्लिखित कम से कम दो बातें ह्वेनसांग के पर्यटन वर्णन में मिलती है। ह्वेनसांग ने संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। प्राचीन काल में कश्मीर विशाल सरोवर अर्थात "सतीसर" था। जल बह जाने के कारण भूमिमय उपत्यका बन गई थी। नाग जाति यहाँ की सरंक्षक थी। जल बह जाने पर सरोवर कश्मीर राज्य के रूप में परिणत हो गया। उस समय भी नाग जाति यहाँ पर थी।

ह्वेनसांग "मिहिर कुल" का वर्णन करता है वह कश्मीर का राजा था। राजतरंगिणी में कल्हण ने पहली घटना (सतीसर - जल प्लावन) का वर्णन 1:25-31 में किया है। दूसरी घटना (मिहिर कुल) के शासन और उसके राज्य काल के सन्दर्भ में इस विषय पर और प्रकाश डाला गया है। (तरंग -1, 289-325)

कश्मीर में मुस्लिम शासन हो जाने पर भी नीलमत पुराण की मान्यता थी। नीलमतपुराण की प्राचीनता तथा उसके उसके अस्तित्व का समर्थन श्री जोनराज द्वितीय राजतरंगिणी में करते हैं। परम्परागत रूप से कश्मीर का साहित्य संस्कृत में था। यहाँ भारतीय काव्यशास्त्र तथा शैवागम परम्परा का जन्म हुआ। नीचे कश्मीर के संस्कृत के प्रमुख साहित्यकारों के नाम और उनके समय का उल्लेख किया जा रहा हैं-

लगध, (1400-1200 ई, पू.) वेदाङग ज्योतिष के लेखक। चरक, (ई. के प्रशम शती से 300 ई, पू.तक) आयुर्वेदिक ग्रन्थ चरक संहिता के लेखक। विष्णु शर्मा, पंचतन्त्र के रचयिता य 300 ईसा पूर्व वाग्भट, 7 वीं शताब्दी। आयुर्वेद के 'त्रिमूर्ति' (चरक और सुश्रुत के साथ) के रूप में माना जाता है।

भामह, 7 वीं शताब्दी। कल्हणकृत राजतरंगिणी के अनुसार ये कश्मीर के शासक जयापीड की विद्वत्परिषद् के सभापति थे। इन्होंने काव्यशास्त्र पर काव्यालंकार नामक ग्रंथ लिखा। रविगुप्त, 700-725 कश्मीर के बौद्ध दार्शनिक आनन्दवर्धन, 820-890 ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य, 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के लेखक। वसुगुप्त, 860-925 वसुगुप्त को कश्मीर शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) की परम्परा का प्रणेता माना जाता है। उन्होंने शिवसूत्र की रचना की थी।

सोमानन्द, 875-925 कश्मीर के शैव दार्शनिक। वटेश्वर, 880, वैवस्वर-सिद्धान्त के लेखक। रुद्रट, 9वीं शती, अलंकार संप्रदाय के प्रमुख आचार्य। काव्यालंकार तथा शृंगार तिलक नामक ग्रन्थ के रचयिता। उद्भट, 9वीं शती का पूर्वार्द्ध। काव्यालंकारसारसंग्रह तथा भामह विवरण के लेखक।

शंकुक, 9वीं शती का आरम्भ। भरत के रस सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार। अनुमितिवाद या अनुकृतिवाद के जनक। जयन्त भट्ट, 9वीं शती भट्ट नायक, 9वीं - 10वीं शती, प्रसिद्ध काव्यशास्त्रकार। 'हृदयदर्पण' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थ के लेखक। ध्वनिविरोधी एवं रसनिष्पति सम्बन्धी सिद्धांतों के लिए जाने जाते हैं।

मेधातिथि, 9वीं - 10वीं शती, मनुस्मृति के टीकाकार।? अभिनव गुप्त, 950-1020 इनके बारे में एक पृथक् लेख में विस्तार पूर्वक लिख चुका हूँ।

मुकुल भट्ट, कल्लट के पुत्र। अभिधावृत्तिमातृका के लेखक। राजतरंगिणी के अनुसार भट्ट कल्लट कश्मीर नरेश अवंतिवर्मा के शासनकाल में वर्तमान थे। अवंतिवर्मा का समय सन् 857-884 ई. मान्य है अतः मुकुल भट्ट का समय नवीं शताब्दी का अंतिम चरण और दसवीं का प्रारंभ है।

वल्लभदेव, 10 वीं शताब्दी। कालिदास के रघुवंश पर रघुपंचिका नामक टीका लिखने वाले प्रथम टीकाकार।।

उत्पल देव, 10 वीं शताब्दी। एक महत्त्वपूर्ण गणितज्ञ।

क्षेमेन्द्र, 990-1070

क्षेमराज, 10 वीं शताब्दी के अंत/11 वीं शताब्दी की शुरुआत में

बिल्हण, ग्यारहवीं शताब्दी। कश्मीर के प्रसिद्ध कवि। चौरपंचाशिका तथा विक्रमांकदेवचरितम् के लेखक। विक्रमांकदेवचरितम् ऐतिहासिक काव्य है।

कल्हण, 12वीं शती। राजतरंगिणी के लेखक। इसमें कश्मीर के 2000 वर्षों का इतिहास वर्णित है।

जल्हण, बारहवीं शताब्दी। इन्होंने 380 संस्कृत कवियों के काम को उद्धृत करते हुए एक सूक्तमूक्तावली नामक ग्रंथ लिखा है।

शारंगदेव, 13 वीं सदी। संगीत रत्नाकर के लेखक,

केशव कश्मीरी भट्टाचार्य, 14 वीं शताब्दी, एक प्रमुख वेदांत दार्शनिक

जैयट, आचार्य मम्मट के पिता।

मम्मट, 995 से 1050 वीं सदी के मध्य, काव्यप्रकाश के रचनाकार, ये जैयट के पुत्र, महाभाष्य के टीकाकार कैयट तथा वेदभाष्यकार उवट के भाई तथा नैषधीयचरितम् के रचयिता श्रीहर्ष के मामा थे। काव्यप्रकाश के टीकाकार झलकीकर ने उव्वट के पिता का नाम वज्रट बताया है। वज्रट भोजराज के समकालीन थे। मम्मट भोजराज के पश्चाद्वर्ती थे। इनका काल महाराजा भोजदेव के बाद आता है।

कैयट, पतंजलि कृत व्याकरण महाभाष्य की 'प्रदीप' नामक टीका के रचयिता। कैयट पामपुर (या येच) गाँव के निवासी थे।

भट्ट लोल्लट, (उद्भट और अभिनव गुप्त के बीच का समय) भरत के रस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार। उत्पत्तिवाद या उपचयवाद, आरोपवाद सिद्धान्त के जनक। वर्तमान में भट्ट लोल्लट का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। आचार्य मम्मट में काव्यप्रकाश में लोल्लट के मत का उल्लेख किया है।

रुय्यक, 12वीं शती का मध्यकाल। अलंकारसर्वस्वम् के लेखक।

कुन्तक, 10वीं-11वीं शती। वक्रोक्तिजीवितम् के लेखक।

शंकुक, 9वीं शती का आरम्भ। भरत के रस सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार। अनुमितिवाद या अनुकृतिवाद के जनक।

गुणाढ्य, विद्वानों का एक वर्ग गुणाढ्य को कश्मीरी मानता है। पैशाची में बड्डकहा (संस्कृत–बृहत्कथा) नामक अनुपलब्ध आख्यायिका ग्रंथ के प्रणेता। क्षेमेंद्र कृत बृहत्कथा श्लोकसंग्रह (7500 श्लोक) और सोमदेव कृत कथासरित्सागर (2400 श्लोक) नामक संस्कृत रूपांतरों में उपलब्ध है।

सोमदेव (भट्ट)- कथासरित्सागर के लेखक, यह संस्कृत कथा साहित्य का शिरोमणि ग्रंथ है। इसकी रचना त्रिगर्त अथवा कुल्लू कांगड़ा के राजा की पुत्री, कश्मीर के राजा अनंत की रानी सूर्यमती के मनोविनोदार्थ 1063 ई और 1082 ई. के मध्य संस्कृत में की।

कश्मीर के अन्य विद्वानों का नामोल्लेख मात्र कर रहा हूँ।

पिंगल, जयदत्त, वामन, क्षीरस्वामी, मंख, पुष्पदन्त, जगधर भट्ट, रत्नाकर, माणिक्यचन्द्र

कवि क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र कश्मीरी महाकवि थे। वे संस्कृत के विद्वान तथा प्रतिभा संपन्न कवि थे। उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। क्षेमेन्द्र ने प्रसिद्ध आलोचक तथा तंत्रशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान अभिनवगुप्त से साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया था। इनके पुत्र सोमेन्द्र ने पिता की रचना बोधिसत्त्वावदानकल्पलता को एक नया पल्लव जोड़कर पूरा किया था। क्षेमेन्द्र संस्कृत में परिहास कथा के धनी थे। संस्कृत में उनकी जोड़ का दूसरा सिद्धहस्त परिहास कथा लेखक सम्भवतः और कोई नहीं है। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रंथों के रचना काल का उल्लेख किया है, जिससे इनके आविर्भाव के समय का परिचय मिलता है।

कश्मीर के नरेश अनंत (1028-1063 ई.) तथा उनके पुत्र और उत्तराधिकारी राजा कलश (1063-1089 ई.) के राज्य काल में क्षेमेन्द्र का जीवन व्यतीत हुआ। क्षेमेन्द्र के ग्रंथ समयमातृका का रचना काल 1050 ई. तथा इनके अंतिम ग्रंथ दशावतारचरित का निर्माण काल इनके ही लेखानुसार 1066 ई. है। क्षेमेन्द्र के पूर्वपुरूष राज्य के अमात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। फलतः इन्होंने अपने देश की राजनीति को बड़े निकट से देखा तथा परखा था। अपने युग के अशांत वातावरण से ये इतने असंतुष्ट और मर्माहत थे कि उसे सुधारने में, उसे

पवित्र बनाने में तथा स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना दृढ़ करने में इन्होंने अपना जीवन लगा दिया तथा अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को इसकी पूर्ति के निमित्त काव्य के नाना अंगों की रचना में लगाया। क्षेमेन्द्र संस्कृत में परिहास कथा के धनी थे। संस्कृत में उनकी जोड़ का दूसरा सिद्ध हस्त परिहास कथा लेखक कोई और नहीं है। उनकी सिद्ध लेखनी पाठकों पर चोट करना जानती थी, परंतु उसकी चोट मीठी होती थी।

कवि मंखक

मंखक (1100 से 1160 ईसवी लगभग) जन्म प्रवरपुर (कश्मीर में सिंधु और वितस्ता के संगम पर स्थित) आचार्य रुय्यक के शिष्य और संस्कृत के महाकवि। संस्कृत के महाकवि मंखक ने व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, ज्योतिष तथा अन्य लक्षण ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्य रुय्यक उनके गुरु थे। गुरु के अलंकारसर्वस्व ग्रंथ पर मंखक ने वृत्ति लिखी थी। मंखक के पितामह मन्मथ बड़े शिव भक्त थे। पिता विश्ववर्त भी उसी प्रकार दानी, यशस्वी एवं शिव भक्त थे। वे कश्मीर नरेश सुस्सल के यहाँ राजवैद्य तथा सभाकवि थे। मंखक से बड़े तीन भाई थे शृंगार, भृंग तथा लंक या अलंकार।

तीनों महाराज सुस्सल के यहाँ उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। महाराज सुस्सल के पुत्र जयसिंह ने मंखक को प्रजापालन-कार्य-पुरुष अर्थात धर्माधिकारी बनाया था। जयसिंह का सिंहासनारोहण 1127 ई. में हुआ। मंखक की जन्मतिथि 1100 ई. (1157 विक्रमी संवत्) के आसपास मानी जा सकती है। एक अन्य प्रमाण से भी यही निर्णय निकलता है कि मंखकोश की टीका का, जो स्वयं मंखक की है, उपयोग जैन आचार्य महेंद्र सूरि ने अपने गुरु हेमचंद्र के अनेकार्थ संग्रह (1180 ई.) की अनेकार्थ कैरवकौमुदी नामक स्वरचित टीका में किया है। अत: इस टीका के 20,25 वर्ष पूर्व अवश्य मंखकोश बन चुका होगा। इस प्रकार मंखक का समय 1100 से 1160 ई. तक माना जा सकता है।

श्रीकंठचरित् 25 सर्गों का ललित महाकाव्य है। श्रीकंठचरित् के अंतिम सर्ग में कवि ने अपना, अपने वंश का तथा अपने समकालिक अन्य विशिष्ट कवियों एवं नरेशों का सुंदर परिचय दिया है। अपने महाकाव्य को उन्होंने अपने बड़े भाई अलंकार की विद्वत्सभा में सुनाया था। उस सभा में उस समय कान्यकुब्जाधिपति गोविंदचंद (1120 ई.) के राजपूत महाकवि सुहल भी

उपस्थित थे। महाकाव्य का कथानक अति स्वल्प होते हुए भी कवि ने काव्य संबंधी अन्य विषयों के द्वारा अपनी कल्पना शक्ति से उसका इतना विस्तार कर दिया है। समुद्रबंध आदि दक्षिण के विद्वान टीकाकारों ने मंखक को ही अलंकारसर्वस्व का भी कर्ता माना है। किंतु मखक के ही भतीजे, बड़े भाई शृंगार के पुत्र जयरथ ने, जो अलंकारसर्वस्व के यशस्वी टीकाकार हैं, उसे आचार्य रुय्यक की कृति कहा है।

3

सिन्धी भाषा एवं साहित्य

सिंधी भारत के पश्चिमी हिस्से और मुख्य रूप से सिन्ध प्रान्त में बोली जाने वाली एक प्रमुख भाषा है। यह सिन्धी हिन्दू समुदाय (समाज) की मातृ-भाषा है। गुजरात के कच्छ जिले में सिन्धी बोली जाती है और वहाँ इस भाषा को 'कच्छी भाषा' कहते हैं।

इसका सम्बन्ध भाषाई परिवार के स्तर पर आर्य भाषा परिवार से है जिसमें संस्कृत समेत हिन्दी, पंजाबी और गुजराती भाषाएँ शामिल हैं। अनेक मान्य विद्वानों के मतानुसार, आधुनिक भारतीय भाषाओं में, सिन्धी, बोली के रूप में संस्कृत के सर्वाधिक निकट है। सिन्धी के लगभग 70 प्रतिशत शब्द संस्कृत मूल के हैं।

सिन्धी भाषा सिन्ध प्रदेश की आधुनिक भारतीय-आर्य भाषा है जिसका सम्बन्ध पैशाची नाम की प्राकृत और ब्राचड नाम की अपभ्रंश से जोड़ा जाता है। इन दोनों नामों से विदित होता है कि सिंधी के मूल में अनार्य तत्व पहले से विद्यमान थे, भले ही वे आर्य प्रभावों के कारण गौण हो गए हों।

सिन्धी के पश्चिम में बलोची, उत्तर में लहँदी, पूर्व में मारवाड़ी और दक्षिण में गुजराती का क्षेत्र है।

यह बात उल्लेखनीय है कि इस्लामी शासनकाल में सिन्ध और मुलतान (लहँदीभाषी) एक प्रान्त रहा है और 1843 से 1936 ई. तक सिन्ध, बम्बई प्रांत का एक भाग होने के नाते गुजराती के विशेष सम्पर्क में रहा है। पाकिस्तान में सिन्धी भाषा नस्तालिक (यानि अरबी लिपि) में लिखी जाती है जबकि भारत में इसके लिये देवनागरी और नस्तालिक दोनो प्रयोग किये जाते हैं।

सिन्धी भाषा की लिपियाँ

एक शताब्दी से कुछ पहले तक सिन्धी लेखन के लिए चार लिपियाँ प्रचलित थीं। हिन्दू पुरुष देवनागरी का, हिंदु स्त्रियाँ प्राय: गुरुमुखी का, व्यापारी लोग (हिंदू और मुसलमान दोनों) "हटवाणिको" का (जिसे 'सिंधी लिपि' भी कहते हैं) और मुसलमान तथा सरकारी कर्मचारी अरबी-फारसी लिपि का प्रयोग करते थे। सन 1853 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्णयानुसार लिपि के स्थिरीकरण हेतु सिंध के कमिश्नर मिनिस्टर एलिस की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अरबी-फारसी-उर्दू लिपियों के आधार पर "अरबी सिंधी "लिपि की सर्जना की। सिंधी ध्वनियों के लिए सवर्ण अक्षरों में अतिरिक्त बिंदु लगाकर नए अक्षर जोड़ लिए गए। अब यह लिपि सभी वर्गों द्वारा व्यवहृत होती है। हालांकि भारत के सिंधी लोग नागरी लिपि को अपना रहे हैं।

सिन्धी एक मात्र ऐसी भाषा है, जिसकी दो लिपियों को भारतीय संविधान की मान्यता है। सिंधी भाषा की लिपि को लेकर लंबा विवाद चला है और आज भी इसको लेकर विवाद होता रहता है। सिंधी किस लिपि में लिखी जाए, इसको लेकर सिंधी लेखकों व साहित्यकारों में दो धड़े हो चुके हैं। ये दोनों ही धड़े सिंधी भाषा को संविधान में मान्यता दिए जाने के दौरान आमने-सामने आ गए। दोनों एक-दूसरे का विरोध करने लगे तथा केन्द्रीय सरकार के ऊपर अपनी-अपनी लिपि सिंधी लिपि तथा देवनागरी लिपि को मान्यता देने के लिए दबाव डालते रहे। आखिरकार भारत सरकार ने 10 अप्रैल 1967 में सिंधी भाषा को संविधान में मान्यता प्रदान की, साथ-साथ सिंधी भाषा के लिए दोनों लिपियों अरबी-फारसी तथा देवनागरी लिपि को मंजूर किया। सिंधी भाषा भारतीय संविधान की एक मात्र ऐसी भाषा है, जिसके उपयोग के लिए दो लिपियों को मान्यता प्रदान की गई है।

ऐसा नहीं है कि लिपि को लेकर आजादी के बाद ही विवाद हुआ। संयुक्त हिंदुस्तान के समय भी देवनागरी लिपि अस्तित्व में आ चुकी थी। सिंधियों के जन्माक्षर देवनागरी लिपि में लिखे जाते थे। सन् 1923 में कराची सरकार ने पाठ्यक्रमों की पुस्तकें देवनागरी में प्रकाशित की थीं। गद्य की प्रारंभिक पुस्तकें, जो अंग्रेजों ने रची एवं प्रकाशित कीं, उन में कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें देवनागरी लिपि में थीं, जो इस प्रकार हैं–मती अजील बाइबल से सेन्ट मौथियूस का अनुवाद, 1825, ग्रामर ऑफ सिंधी लैंग्वेज, मी. प्रनेसप 1855, ए ग्रामर वोक्यूबलरी

ऑफ सिंधी लैंग्वेज-मी. वाथन 1836, वाक्यूबलरी ऑफ सिंधी लैंग्वेज-ईस्टविक 1849, ए ग्रामर वोक्यूबलरी ऑफ सिंधी लैंग्वेज- कैप्टन स्टैक 1849, ए डिक्शनरी-अंग्रेजी-सिंधी-कैप्टन स्टैक 1849।

सन् 1947 में जब देश का बंटवारा हुआ और सिंध के हिन्दू सिंधी भारत में आए और अनेक राज्यों में बस गए। भारत में फिर से लिपि के प्रश्न को उठाया गया। दिसम्बर 1942 में मुंबई में एक सिंधी साहित्य सम्मेलन हुआ था, जिसमें यह निर्णय भी हुआ था कि सिंधी भाषा को देवनागरी लिपि में लिखा जाए। यह प्रस्ताव सिंधी के सुप्रसिद्ध ग्रंथकार लालचंद अमरडिनो मल ने रखा था। साथ में स्वतंत्रता सेनानी, राज्य सभा के सदस्य और पूर्व केन्द्रीय मंत्री दादा जैरामदास दौलतराम तथा अन्य कांग्रेसी सिंधी स्वतंत्रता सेनानियों ने भारत की वस्तुस्थिति तथा हिन्दी देवनागरी लिपि की मांग को आगे बढ़ाया। इसका अरबी लिपि का उपयोग करने वाले सिंधी विद्वानों ने विरोध किया। अलवर में अखिल भारत सिंधी सम्मेलन में, अखिल भारत सिंधी बोली साहित्य सभा, जो सिंधी विद्वानों, शिक्षा शास्त्रियों, पत्रकारों तथा कलाकारों की प्रतिनिधि सभा थी, ने अरबी लिपि का प्रस्ताव किया, जिसमें गोविंद माल्ही, कीरत बाबाणी, पोपटी हीरानंदाणी, प्रो. मंघाराम मलकाणी तथा अन्य भाषा विज्ञानी व शिक्षाशास्त्री थे।

वैसे वस्तुस्थिति ये है कि प्राचीन-अर्वाचीन सिंधी साहित्य, लोक-साहित्य, धार्मिक सिंधी अरबी लिपि में ही प्रकाशित है। अरबी लिपि में ही अध्ययन एवं अध्यापन की ज्यादातर सुविधाएं हैं। लिपि के संबंध में स्वाधीनता के पश्चात आज तक संघर्ष चला आ रहा है। कोई एक स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाया है। चूंकि राष्ट्रभाषा की लिपि देवनागरी है और अन्य भाषाओं की अधिकतर लिपियां देवनागरी के नजदीक हैं, इसलिए हिन्दी प्रदेशों में सिंधी भाषा के लिए देवनागरी का प्रचलन कुछ ज्यादा है।

हिन्दी भाषा के लेखन के लिए एक ही लिपि देवनागरी लिपि का प्रयोग होता है, परन्तु सिंधी भाषा के लेखन में अरबी-फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों का प्रयोग होता है। इसलिए सिंधी भाषा की विशिष्ट ध्वनियों के लिए देवनागरी लेखन में विशेष चिन्ह लगाते हैं। उदाहरण के लिए देखें तो हिंदी में अन्त: स्फुरित ध्वनियां नहीं हैं, जब कि सिंधी की ग, ज, ब, ड ध्वनियों के अन्त:स्फुटिक रूप सिंधी में मिलते हैं। देवनागरी लिपि में उक्त लिपि-चिन्हों के नीचे पड़ी रेखा लगा कर अन्त:स्फुटिक ध्वनियों के लिए लिपि-चिन्ह लगाने की परम्परा है।

वर्तमान में भारत के अधिकतर राज्यों में सिंधी माध्यम के स्कूल बंद होते जा रहे हैं। स्कूलों-कॉलेजों में सिंधी एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। इसी कारण नई सिंधी युवा पीढ़ी सिंधी भाषा से विमुख हो रही है। अरबी-फारसी लिपि सीखना उनके लिए दुश्वार सा हो गया है। इसलिए युवा पीढ़ी में देवनागरी लिपि का प्रचलन हो रहा है। सभी राज्यों के युवा सिंधी लेखक देवनागरी लिपि में लेखन कार्य तथा प्रकाशन कार्य कर रहे हैं। सिंधी लिपि का बड़ी तेजी से व्यवहार में उपयोग कम होता जा रहा है। अधिकतर राज्य साहित्य अकादमियां भी अपना साहित्य देवनागरी लिपि में प्रकाशित कर रही हैं।

सिन्धी का भूगोल एवं उपभाषाएँ

सिंध के तीन भौगोलिक भाग माने जाते हैं-

(1) सिरो (शिरो भाग),

(2) विचोली (बीच का) और

(3) लाड़ (संस्कृत–लाट प्रदेश = नीचे का)।

सिरो की बोली सिराइकी कहलाती है, जो उत्तरी सिंध में खैरपुर, दादू, लाड़कावा और जेकबाबाद के जिलों में बोली जाती है। यहाँ बलोच और जाट जातियों की अधिकता है, इसलिए इसको 'बरीचिकी' और 'जतिकी' भी कहा जाता है। दक्षिण में हैदराबाद और कराची जिलों की बोली 'लाड़ी' है और इन दोनों के बीच में 'विचोली' का क्षेत्र है, जो मीरपुर खास और उसके आसपास फैला हुआ है।

विचोली सिंध की सामान्य और साहित्यिक भाषा है। सिंध के बाहर पूर्वी सीमा के आसपास 'थड़ेली', दक्षिणी सीमा पर 'कच्छी' और पश्चिमी सीमा पर 'लासी' नाम की सम्मिश्रित बोलियाँ हैं। 'धड़ेली' (धर = थल = मरुभूमि) जिला नवाबशाह और जोधपुर की सीमा तक व्याप्त है जिसमें मारवाड़ी और सिंधी का सम्मिश्रण है।

कच्छी (कच्छ, काठियावाड़ में) गुजराती और सिंधी का एवं 'लासी' (लासबेला, बलोचिस्तान के दक्षिण में) बलोची और सिंधी का सम्मिश्रित रूप है। इन तीनों सीमावर्ती बोलियों में प्रधान तत्व सिंधी ही का है। भारत के विभाजन के बाद इन बोलियों के क्षेत्रों में सिंधियों के बस जाने के कारण सिंधी का प्राधान्य और बढ़ गया है। सिंधी भाषा का क्षेत्र 65 हजार वर्ग मील है।

व्याकरण

सिन्धी शब्द

सिन्धी के सब शब्द स्वरान्त होते हैं। इसकी ध्वनियों में ग, घ, ध, और, अतिरिक्त और विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में सवर्ण ध्वनियों के साथ ही स्वर तन्त्र को नीचा करके काकल को बन्द कर देना होता है जिससे द्वित्व का सा प्रभाव मिलता है। ये भेदक स्वनग्राम है। संस्कृत के त वर्ग + र के साथ मूर्धन्य ध्वनि आ गई है, जैसे पुट्ट, या पुट्टु (पुत्र), मण्ड (मन्त्र), निण्ड (निन्द्रा), घेह (द्रोह)। संस्कृत का संयुक्त व्यंजन और प्राकृत का द्वित्व रूप सिन्धी में समान हो गया है किन्तु उससे पहले का ह्रस्व स्वर दीर्घ नहीं होता जैसे धातु (हिन्दी, भात), जिभ (जिह्वा), खट (खट्वा, हिन्दी, खाट), सुठो (सुष्ठु)। प्रायः ऐसी स्थिति में दीर्घ स्वर भी ह्रस्व हो जाता है, जैसे डिघो (दीर्घ), सिसी (शीर्ष), तिखो (तीक्ष्ण)। जैसे संस्कृत दत्तः और सुप्तः से दतो, सुतो बनते हैं, ऐसे ही सादृश्य के नियम के अनुसार कृतः से कीतो, पीतः से पीतो आदि रूप बन गए हैं यद्यपि मध्यम-त-का लोप हो चुका था। पश्चिमी भारतीय आर्य भाषाओं की तरह सिन्धी में भी महाप्राणत्व को संयत करने की प्रवृत्ति है जैसे साडा (सार्ध, हिन्दी, साढे), खाधो (हिन्दी, खाना), खुलण (हिन्दी, खुलना), पुचा (संस्कृत, पृच्छा)।

संज्ञा

संज्ञाओं का वितरण इस प्रकार से पाया जाता है - अकारान्त संज्ञाएँ सदा स्त्रीलिंग होती है, जैसे खट (खाट), तार, जिभ (जीभ), बाँह, सूँह (शोभा), ओकरान्त संज्ञाएँ सदा पुल्लिंग होती हैं, जैसे घोड़ों, कुतों, महिनों (महीना), हफ्तो, दूँहो (धूम), -आ-, इ और - ई में अन्त होने वाली संज्ञाएँ बहुधा स्त्रीलिंग हैं, जैसे हवा, गरोला (खोज), मखि राति, दिलि (दिल), दरी (खिड़की), (घोड़ों, बिल्ली-अपवाद रूप से सेठी (सेठ), मिसिरि (मिसर), पखी, हाथी, साँइ और संस्कृत के शब्द राजा, दाता पुल्लिंग हैं, -उ-, -ऊ में अन्त होने वाले संज्ञाप्रद प्रायः पुल्लिंग हैं, जैसे किताब, धरु, मुँह, माण्ह (मनुष्य), रहाकू (रहने वाला) -अपवाद है, विजु (विद्युत), खण्ड (खाण्ड), आबरू, गऊ। पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए -इ, -ई, -णि और -आणी प्रत्यय लगाते हैं -कुकुरि (मुर्गी), छोकरिय झिर्की (चिड़िया), बकिरी, कुत्ती, घोबिणी, शीहणि, नोकिर्वाणी, हायाणी।

लिंग दो ही हैं-स्त्रीलिंग और पुल्लिंग। वचन भी दो ही हैं-एकवचन और बहुवचन। स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन ऊँकारान्त होता है, जैसे जालूँ (स्त्रियाँ), खटूँ (चारपाइयाँ), दवाऊँ (दवाएँ) अख्यूँ (आँखें)य पुल्लिंग के बहुरूप में वैविध्य हैं। ओकारांत शब्द आकारान्त हो जाते हैं-घोड़ों से घोड़ा, कपड़ों से कपड़ा आदि, उकारान्त शब्द अकारान्त हो जाते हैं-घरु से घर, वणु (वृक्ष) से वणय इकारांत शब्दों में-ऊँ बढ़ाया जाता है, जैसे सेठ्यूँ। ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द वैसे ही बने रहते हैं।

संज्ञाओं के कारक

संज्ञाओं के कारकीय रूप परसर्गों के योग से बनते हैं - कर्ता-य कर्म-के, खेय करण-साँय संप्रदान- के, खे, लाइय अपादान-काँ, खाँ, ताँ (पर से), माँ (में से), सम्बन्ध- पु. एकव. जो, बहुव. जो, स्त्रीलिंग एकव. जी. बहुव. जूँ, अधिकरण- में, ते (पर)। कुछ पद अपादान और अधिकरण कारक में विभक्त्यन्त मिलते हैं- गोठूँ (गाँव से), घरूँ (घर में), पटि (जमीन पर), वेलि (समय पर)। बहुवचन में संज्ञा के तिर्यक् रूपृ -उनि प्रत्यय (तुलना कीजिए, हिन्दी-ओं) से बनता है- छोकर्युनि, दवाउनि, राजाउनि, इत्यादि।

सर्वनाम

सर्वनामों की सूची मात्र से इनकी प्रकृति को जाना जा सकेगा-

1. माँ, आऊँ (मैं), असीं (हम), तिर्यक क्रमशः मूँ तथा असाँय
2. तूँ य तव्हीं, अव्हीं (तुम), तिर्यक रूप तो, तव्हाँय
3. पुँ. हू अथवा ऊ (वह, वे), तिर्यक् रूप हुन, हुननिय स्त्री. हूअ, हू, तिर्यक रूप उहो, उहेय पुँ. ही अथवा हीउ (यह, ये) तिर्यक् रूप हि, हिननिय स्त्री. इहो, इहे, तिर्यक् रूप इन्हें। इझी (यही), उझो (वही), बहुव. इझे, उझेय जो, जे (हिं. जो), छा, कुजाड़ी (क्या), केरु, कहिड़ी (कौन), को (कोई), की, कुझु (कुछ), पाण (आप, खुद)।

विशेषण

विशेषणों में ओकारान्त शब्द विशेष्य के लिंग, कारक के तिर्यक् रूप और वचन के अनुरूप बदलते हैं, जैसे सुठो छोकरो, सुठा छोकरा, सुठी छोकरी, सुठ्यनि छोकर्युनि खे।

शेष विशेषण अविकारी रहते हैं।

संख्यावाची विशेषणों में अधिकतर को हिंदीभाषी सहज में पहचान सकते हैं। ब (दो), टे (तीन), दाह (दस), अरिदह (18), वीह (20), टीह, (30), पंजाह, (50), साढा दाह (10।।), वीणो (दूना), टीणो (तिगुना), सजो (सारा), समूरो (समूचा) आदि कुछ शब्द निराले जान पड़ते हैं।

क्रिया

संज्ञार्थक क्रिया णुकारान्त होती है- हलणु (चलना), बधणु (बाँधना), टपणु (फाँदना) घुमणु, खाइणु, करणु, अचणु (आना) वअणु (जानवा, विहणु (बैठना) इत्यादि। कर्मवाच्य प्राय: धातु में- इज -या- ईज (प्राकृत अज्ज) जोड़कर बनता है, जैसे मारिजे (मारा जाता है), पिटिजनु (पीटा जाना), अथवा हिंदी की तरह वंणु (जाना) के साथ संयुक्त क्रिया बनाकर प्रयुक्त होता है, जैसे माओ वँ थो (मारा जाता है)। प्रेरणार्थक क्रिया की दो स्थितियाँ हैं- लिखाइणु (लिखना), लिखराइणु (लिखवाना)य कमाइणु (कमाना), कमाराइणु (कमवाना),

कृदंतों में वर्तमानकालिक- हलन्दों (हिलता), भजदो (टूटता) -और भूतकालिक-बच्यलु (बचा), मार्यलु (मारा)-लिंग और वचन के अनुसार विकारी होते हैं। वर्तमानकालिक कृदन्त भविष्यत् काल के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। हिन्दी की तरह कृदंतों में सहायक क्रिया (वर्तमान आहे, था, भूत हो, भविष्यत् हूँदो आदि) के योग से अनेक क्रिया रूप सिद्ध होते हैं।

पूर्वकालिक कृदन्त धातु में -इ- या -ई लगाकर बनाया जाता है, जैसे खाई (खाकर), लिखी (लिखकर), विधिलिंग और आज्ञार्थक क्रिया के रूप में संस्कृत प्राकृत से विकसित हुए हैं- माँ हलाँ (मैं चलूँ), असीं हलूँ (हम चलें), तूँ हलीं (तू चले), तूँ हल (तू चल), तब्हीं हलो (तुम चलो), हू हले, हू हलीन। इनमें भी सहायक क्रिया जोड़कर रूप बनते हैं। हिंदी की तरह सिंधी में भी संयुक्त क्रियाएँ पवणु (पड़ना), रहणु (रहना), वठणु (लेना), विझणु (डालना), छदणु (छोड़ना), सघणु (सकना) आदि के योग से बनती हैं।

विविध

सिंधी की एक बहुत बड़ी विशेषता है उसके सार्वनामिक अन्त्यय जो संज्ञा और क्रिया के साथ संयुक्त किए जाते हैं, जैसे पुट्रऊँ (हमारा लड़का), भासि (उसका भाई), भाउरनि (उनके भाई)य चयुमि (मैंने कहा), हुजेई (तुझे हो),

मारियाई (उसने उसको मारा), मारियाईमि (उसने मुझको मारा)। सिन्धी अव्यय संख्या में बहुत अधिक हैं। सिन्धी के शब्द भण्डार में अरबी-फारसी-तत्व अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक हैं। सिन्धी और हिन्दी की वाक्य रचना, पदक्रम और अन्वय में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

4

पंजाबी भाषा एवं साहित्य

पंजाबी एक हिंद-आर्यन भाषा है और ऐतिहासिक पंजाब क्षेत्र (अब भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजित) के निवासियों तथा प्रवासियों द्वारा बोली जाती है। इसके बोलने वालों में सिख, मुसलमान और हिंदू सभी शामिल हैं। पाकिस्तान की 1998 की जनगणना और 2001 की भारत की जनगणना के अनुसार, भारत और पाकिस्तान में भाषा के कुल वक्ताओं की संख्या लगभग 9-13 करोड़ है, जिसके अनुसार यह विश्व की 11वीं सबसे व्यापक भाषा है। कम से कम पिछले 300 वर्षों से लिखित पंजाबी भाषा का मानक रूप, माझी बोली पर आधारित है, जो ऐतिहासिक माझा क्षेत्र की भाषा है।

पंजाबी भाषा पंजाब की आधुनिक भारतीय आर्यभाषा है। ग्रियर्सन ने (लिंग्विस्टिक सर्वे भाग 1, 8 तथा 9 में) पूर्वी पंजाबी को "पंजाबी" और पश्चिमी पंजाबी को "लहँब्रा" कहा है। वास्तव में पूर्वी पंजाबी और पश्चिमी पंजाबी पंजाबी की दो उपभाषाएँ हैं जैसे पूर्वी हिंदी और पश्चिमी हिंदी हिंदी की। यह अलग बात है कि पाकिस्तान बन जाने के कारण दोनों भाषाओं का विकास इतनी भिन्न दिशाओं में हो रहा है कि इनके अलग-अलग भाषाएँ हो जाने की संभावना है। पंजाबी की एक तीसरी उपभाषा "डोगरी" है, जो जम्मू-कश्मीर के दक्षिण-पूर्वी प्रदेश और काँगड़ा के आसपास बोली जाती है। साहित्य में मध्यकाल में लहँदी का मुलतानी रूप और आधुनिक काल में अमृतसर और उसके आसपास प्रचलित पूर्वी पंजाबी का माझी रूप व्यवहृत होता रहा है। अमृतसर सिक्खों का प्रधान धार्मिक तीर्थ और केंद्र है। ईसाई मिशनरियों ने लुधियाना-पटियाला की मलबई बोली को टकसाली बनाने का प्रयत्न किया। उसका परिणाम इतना तो हुआ है कि मलबई का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है, किंतु आदर्श साहित्यिक भाषा

के रूप में माझी ही सर्वमान्य रही है। पश्चिमी पंजाब की बोलियों में मुलतानी, डेरावाली, अवाणकारी और पोठोहारी, एव पूर्वी पंजाबी की बोलियों में पहाड़ी, माझी, दूआबी, पुआधी, मलवई और राठी प्रसिद्ध हैं। पश्चिमी पंजाबी और पूर्वी पंजाबी की सीमारेखा रावी नदी मानी गई है।

"पंजाबी" नाम बहुत पुराना नहीं है। "पंजाब" असल में दो फारसी शब्द "पंज" और "आब" का मेल है। "पंज" का मतलब "पांच" है और "आब" का मतलब "पानी" है। इस प्रदेश का प्राचीन नाम 'सप्तसिंधु' है। भाषा के लिए "पंजाबी" शब्द 1670 ई. में हाफिज बरखुदार (कवि) ने पहली बार प्रयुक्त किया, किंतु इसका साधारण नाम बाद में भी "हिंदी" या "हिंदवी" रहा है, यहाँ तक कि रणजीतसिंह का दरबारी कवि हाशिम महाराज के सामने अपनी भाषा (पंजाबी) को हिंदी कहता है। वस्तुत: 19वीं सदी के अंत तक हिंदू और सिक्खों की भाषा का झुकाव ब्रजभाषा की ओर रहा है। यह अवश्य है कि मुसलमान जो इस देश की किसी भी भाषा से परिचित नहीं थे, लोकभाषा और विशेषत: लहँदी का प्रयोग करते रहे हैं। मुसलमान कवियों की भाषा सदा अरबी-फारसी लहँदी-मिश्रित पंजाबी रही है।

पिछले वर्षों में साहित्यिक पंजाबी ने नए मोड़ लिए हैं। 20वीं सदी के पूर्वार्ध में पंजाबी ने फारसी और अँगरेजी शब्दावली और प्रयोगों का ग्रहण किया, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से हिंदी के राजभाषा हो जाने के कारण अब इसमें अधिकाधिक संस्कृत हिंदी के शब्द आ रहे हैं।

पंजाबी और हिंदी खड़ी बोली में बहुत अंतर है। पुल्लिंग एकवचन शब्दों की आकारांत रचना और इनसे विशेषण और क्रिया का सामंजस्य, संज्ञाओं और सर्वनामों के प्रत्यक्ष और तिर्यक रूप, क्रियाओं कालादि भेद से जुड़नेवाले प्रत्यय दोनों भाषाओं में प्राय: एक से हैं। पंजाबी के कारकचिह्न इस प्रकार हैं - नेय नूँ (हिं. को), थों या ओं (हिं से), दा, दे, दी (हिं. का, के, की), विच (हिं. में)। पुंलिंग और स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन तिर्यक रूप - आँ होता है, बाताँ, कुड़ियाँ, मुड्याँ, पथराँ, साधुआँ। यह स्वरसामंजस्य संज्ञा, विशेषण और क्रिया में बराबर बना रहता है, जैसे छोट्याँ मूंड्याँ, द्याँ माप्याँ नूं (हिं. छोटे लड़कों के माँ बाप को), छटियाँ कुड़ियाँ जाँ दियाँ हैन (हिं. छोटी लड़कियाँ जाती हैं)।

ध्वनिविकास की दृष्टि से पंजाबी अभी तक अपनी प्राकृत अवस्था से बहुत आगे नहीं बढ़ी है। तुलना कीजिए पंजाबी हत्थ, कन्न, जंघ, सत्त, कत्तणा, छडणा और हिंदी हाथ, कान, जाँघ, सात, कातना, छोड़ना आदि। पूर्वी पंजाबी में

सघोष महाप्राण ध्वनियाँ (घ, झ, ढ, ध, भ) अघोष आरोही सुर के साथ बोली जाती हैं। यह पंजाबी की अपनी विशेषता है। पंजाबी बोलनेवालों की कुल संख्या करोड़ों में है।

विशेषताएँ

• पंजाबी भाषा भारत तथा पाकिस्तान में बोली जाती है। भारत में यह लगभग ढाई करोड़ नागरिकों की 'मातृभाषा' है। भारत के पंजाब राज्य में इसका उपयोग स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में माध्यम भाषा के रूप में भी होता है।

• आधुनिक पंजाबी की सबसे प्रमुख विशेषता, इसकी तीन प्रकार की स्वर प्रणाली है, जिसके उच्च, मध्यम और निम्न स्वर हैं। स्वर विज्ञान की दृष्टि से इन्हें उच्च उतार-चढ़ाव, मध्य उतार-चढ़ाव, तथा बहुत निम्न चढ़ाव वाली रूपरेखा के रूप में वर्णित किया जा सकता है, जो दो सतत अक्षरों पर अनुभूत होती है।

• दूसरी सबसे बड़ी विशेषता इसमें शब्दों की विशाल संख्या, विशेषकर प्राचीन स्थानों के नाम तथा उनसे उत्पन्न संज्ञाएं व विशेषण और मूर्धन्य स्वर (तालू को मुड़ी हुई जिह्वा के शीर्ष के स्पर्श से उच्चारित ध्वनि) है। ऐसे अधिकांश शब्द पश्चिमी पुरा-आर्य सभ्यताओं में पाए जाते हैं।

• पंजाबी में सबसे पुरानी रचनाएं नाथयोगी काल की हैं, जो नौवीं से चौदहवीं शताब्दी की है, जब पंजाब सामाजिक, धार्मिक आंदोलनों का मुख्य केंद्र था। बनावट की दृष्टि से इन रचनाओं की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश के निकट है हालांकि शब्द संग्रह तथा लय पर बोलचाल की भाषा और लोकभाषा का काफी गहरा प्रभाव है।

• 11वीं से 14वीं शताब्दी के बीच एक सबसे महत्त्वपूर्ण भाषाई और सांस्कृतिक आंदोलन का नेतृत्व सूफी संतों ने किया। मुख्यधारा की रूढ़िवादिता के खिलाफ अस्तित्वात्मक विचारधारा पर बल देने में वे योगियों के समान थे। शास्त्रीय ब्राह्मणवाद में योगी थे और रूढ़िवादी इस्लाम में सूफी। भाषा के मामले में परिवर्तन अधिक व्यापक था। योगी तो भारतीय धार्मिक परंपरा के भीतर ही कार्यरत थे, अत: उनकी भाषा लगातार अपभ्रंश रूप-विधान और वाक्य विन्यास से समृद्ध होती रही। सूफियों को सब कुछ नये ढंग से शुरू करना पड़ा, फारसी शब्द संग्रह के आध्यात्मिक स्वरों से अलग सूफियों ने अपने भाषाई उपदेशों को

सबसे लोकप्रिय लोकस्तर पर कायम किया। कई मायनों में वे पंजाबी भाषा के पहले कवि थे, जिन्होंने साहित्य की योगी परंपरा को जारी रखते हुए पंजाब के मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन के प्रत्येक आयाम में प्रवेश किया।

• गुरु नानक (1469-1539) पंजाबी भाषा, साहित्य और संस्कृति के जनक हैं। प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने पुराने, शब्दादेशी ढांचे को रूपमय मानस छवियों में बदल दिया। उन्होंने कदम-कदम पर भाषाई पाठ को उदाहरणमय रूपकों में समझाया। बोलचाल की पंजाबी भाषा के बल पर गुरु नानक ने भारतीय संस्कृति के एक बेहद सुसंस्कृत आध्यात्मिक उपदेश-संग्रह की रचना की।

• भाषा शास्त्रीय दृष्टि से पंजाब भाषा धार्मिक उपदेशों से हटकर धर्मनिरपेक्ष और ऐंद्रिक स्वच्छंद स्वरूपों में आ गई है। 20वीं सदी के पंजाब में कई सामाजिक और धार्मिक राजनीतिक आंदोलनों का प्रभाव रहा, जिसमें ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया से विखंडन हुआ। अब तक पजाबी भाषा, साहित्य और संस्कृति सभी पंजाबियों की विरासत थी।

• पारंपरिक धार्मिक स्वर से आच्छादित इन आंदोलनों के फलस्वरूप मुसलमानों ने उर्दू, हिंदुओं में हिन्दी और सिक्खों ने पंजाबी को अपना लिया, हालांकि इससे बोली पर बहुत कम प्रभाव पड़ा, लेकिन लिखित, मानक भाषा का शब्द-विन्यास विशिष्ट सिक्ख संस्कृति से प्रभावित हो गया है।

भौगोलिक क्षेत्र

पंजाबी पाकिस्तान में सबसे बड़ी भाषा है। यह 45 फीसद पकिस्तानियों की मातृभाषा जब कि 70 फीसद पाकिस्तानी इस को बोलना जानते हैं। पंजाबी की कई उपभाषाएँ हैं परन्तु एक-दूसरे से करीबी होने के कारण सब को आसानी से समझा जा सकता है। पंजाब के साथ यह पूरे आजाद कश्मीर में बोली और समझी जाती है। इसके अलावा भारत की सिर्फ 3 फीसद आबादी पंजाबी बोलती है, परंतु पंजाबी को भारत के सूबा पंजाब में सरकारी बोली और दिल्ली और हरियाणा में दूसरी बोली का दर्जा है।

पंजाबी, अंग्रेज के आने से पहले और भारत और मिल मारने से पहले दिल्ली से लेकर पेशावर तक फैले हुए पंजाब के छोटे छोटे फर्कों के साथ बोली जाने वाली बोली थी। 1901ई. में अंग्रेजों ने उस समय पंजाब के ऊपर वाले लेते तरफ को काट कर सूबा सरहद बना दिया और फिर 1947ई. में पंजाब भी दो टुकड़ों: चढ़ते पंजाब और उतरते पंजाब में बँटा गया। में इस चढ़ते या भारती

पंजाब के भी 3 टुकड़े करके हिमाचल प्रदेश, हरियाणा और पंजाब में बाँट दिया गया। अंग्रेजी पंजाबी भी भाग गई। और राजनैतिक फायदे के लिए इसको हिमाचल प्रदेश में हिंदी का एक लहजा बताया गया जबकि हिमाचल प्रदेश में बोली जाने वाली बोली पंजाबी का अंगीठी लहजा है।

इस समय पर पंजाबी पाकिस्तान के सूबा पंजाब में लहजों के मामूली फर्क साथ और सूबा सरहद में कोहाट, बनेगा और पेशावर के आसपास (हिंदको के नाम साथ) डेरा इस्माइल खान में (डेरी के नाम साथ) और एबटाबाद, हरी परंतु और हजारा डिविजन के दूसरे स्थानों में (हिंदको के नाम साथ), आजाद कश्मीर के स्थानों में (पहाड़ी और गुजरी के नाम साथ) और सिंध के पंजाब साथ लगते इलाकों में और भारत में पंजाब, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा के काफी इलाकों में दिल्ली और राजस्थान के पंजाब साथ लगते जिले और कब्जा किया हुआ जम्मू और कश्मीर में जम्मू के जिले में बोली जाती है। इसके अलावा अमेरीका, कैनेडा, ऑस्ट्रेलिया और बरतानिया में अकलियती जबान के तौर पर बोली जाती है।

पंजाबी साहित्य

पंजाबी साहित्य का आरंभ कब से होता है, इस विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। फरीद को पंजाबी का आदि कवि कहा जाता है, किंतु यदि इस बात को स्वीकार किया जाय कि जिन फरीद की बाणी "आदि ग्रंथ" में संगृहीत है वे फरीद सानी ही थे तो कहना पड़ेगा कि 16वीं शती से पहले का पंजाबी साहित्य उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से गुरु नानक को ही पंजाबी का आदि कवि मानना होगा। "आदि ग्रंथ" पंजाबी का आदि ग्रंथ है। इसमें सात गुरुओं और 16 भक्तों की वाणियाँ संगृहीत हैं। पदों की कुल संख्या 3384 है। गुरु नानक की रचनाओं में सर्वप्रसिद्ध "जपुजी" है, इसके अतिरिक्त "आसा दी वार," "सोहिला" और "रहिरास" तथा लगभग 500 फुटकर पद और हैं। भाव और अभिव्यक्ति एवं कला और संगीत की दृष्टि से यह बाणी अत्यंत सुंदर और प्रभावपूर्ण है। भक्ति में "सिमरन" और जीवन में "सेवा" नानक की वाणी के दो प्रमुख स्वर हैं। परवर्ती सिक्ख गुरुओं ने गुरु नानक के भावों की प्रायः अनुकृति और व्याख्या की है। गुरु रामदास (1534-1581 ई.) की कविता में काव्यगुण अधिक है। गुरु अर्जुनदेव (1561-1606 ई.) की वाणी में ज्ञान और विचार की प्रधानता है। "आदि" ग्रंथ में सबसे अधिक पद (1000 से कुछ ऊपर) इन्हीं के हैं। यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि पूरे ग्रंथ में कुल मिलाकर 350-400 पद पंजाबी

के होंगे। गुरु गोविंदसिंह के "दशम ग्रंथ" में भी "चंडी दी वार" एकमात्र पंजाबी की कृति है, जो सिरखंडी छंद में रचना है। इसमें दुर्गा देवी और दैत्यों के युद्ध का वर्णन है। सिक्ख गुरुओं के अतिरिक्त भाई गुरुदास (1558-1637 ई.) की वाणी को गुरुमत साहित्य के अंतर्गत मान्यता दी जाती है। उनके कवित्त और सवैए ब्रजभाषा में हैं, वारें और गीत शुद्ध साहित्यिक पंजाबी में हैं।

सूफी कवियों में फरीद के बाद लुत्फ अली का नाम आता है। इनकी रचना "सैफलमलूक" संवेदना, वैराग्य भावना और सरसता के लिए बहुत प्रसिद्ध है। परवर्ती सूफियों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव रहा है। प्रेम, विरह और वैराग्य से भरे शाह हुसेन लाहौरी (1538-1599 ई.) के गीत बड़े प्रभावोत्पादक और कवित्वपूर्ण हैं। इनकी काफियों में निरपेक्ष प्रेम का स्वर है। इस्लाम की शरअ से विद्रोह करनेवाला दूसरा कवि सुल्तान बाहू (1629-1690 ई.) हुआ है। इसने अपनी "सीहर्फियों" में अहंकार के त्याग, गुरु की कृपा और सहायता, अंतर्निरीक्षण और आत्मचिंतन पर बल दिया है और उस दुनिया में रहने की आकांक्षा प्रकट की है जहाँ "मैं" और "मेरे" का बखेड़ा नहीं है। शाह शरफ की काफियों में रूपकों द्वारा इश्क हकीकी के रहस्य समझाए गए हैं। पंजाबी सूफी साहित्य के प्रसिद्धतम कवि बुल्लेशाह कसूरी प्रेम, साधना और मिलन के साधक हैं। उनकी कविता की सबे बड़ी विशेषता है भाषा का ओज और प्रभाव। अली हैदर (1690-1785 ई.) की सीहफिंयाँ और काफियाँ कुछ दुरूह और दार्शनिक होने के कारण सर्वप्रिय नहीं हैं। परवर्ती सूफियों में वजीद, फरीद (1720-90 ई.), गुलाम जीलानी (1749-1819), हाशिम (1753-1823), बहादुर (1750-1850 ई.) आदि प्रसिद्ध हैं। पंजाबी सूफी साहित्य प्रायः गेय मुक्तक काव्य है।

इस युग का लौकिक साहित्य विशेषतया वारों और शृंगाररस प्रधान किस्सों के रूप में उपलब्ध है। हीर राँझा का किस्सा सबसे अधिक पुरातन और प्रसिद्ध है। सबसे श्रेष्ठ रचना बारिस शाह (1738-1798 ई.) की "हीर" है। वारिस शाह बड़े अनुभवी, प्रतिभाशाली और बहुज्ञ कवि थे। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। "मिरजा साहिबाँ" की प्रेमकथा को भी कई कवियों ने काव्यबद्ध किया, पर सबसे पुरातन और उत्तम किस्सा जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में पीलू ने लिखा। पीलू के बाद हाफिज बरखुरदार ने भी मिरजासाहिबाँ का किस्सा लिखा। उसने "यूसूफ-जुलेखा" और "सस्सी पुन्नू" की प्रेमकथाएँ भी लिखीं। सस्सी और पुन्नू बिलोचिस्तन के एवं जुलेखा और यूसुफ मिस्र के थे। हाशिम (1753-1823 ई.) की "सस्सी" इस नाम के किस्सों में सबसे अधिक

लोकप्रिय है। इसके अतिरिक्त उनकी "सोहनी महीवाल," "शीरीं फरहाद" और "लैला मजनूँ" प्रबंध कृतियाँ हैं। पिछले दो किस्से फारसी से लिए गए हैं और "सोहनी महीवाल" गुजरात (पंजाब) की लोकवार्ता से। भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए हाशिम अद्वितीय है। अहमदयार (1768-1845) ने 40 किस्से लिखे, जिनमें "हीर राँझा," "सस्सी पुन्नू," "कामरूप","राजबीबी," "चंदरबदन" उच्चकोटि के हैं। इनके काव्य की विशेषता है वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं का तारतम्य, संयत वर्णन एवं आलंकारिक भाषा शैली: किंतु विषय की मैलिकता कम है। अमामबख्श की कृतियों में "बहराम गोर" उत्तम काव्य के अंतर्गत गिना जाता है। इसी समय का एक और कवि कादरयार हुआ है। उसकी प्रसिद्धि "पूरनभगत" और "राजा रसालू" के किस्सों के कारण है। पूरन और रसालू दोनों स्यालकोट के राजा शालिवाहन के पुत्र थे।

पंजाबी का वीर साहित्य बहुत समृद्ध है। इसके अंतर्गत गुरु गोविंदसिंह की "चंडी दी वार" शिरोमणि रचना है। नजाबत की "नादिरशाह दी हीर" और शाह मुहम्मद (1782-1862 ई.) की अपने आश्रयदाता महाराजा रणजीतसिंह की कथा भी उल्लेखनीय है। मुकबल (1696 ई.) का "जगनामा", जिसमें हसन हुसैन और यजीद के युद्धों का मार्मिक वर्णन है, शिया मुसलमानों में बड़े चाव से पढ़ा जाता है।

प्रारंभिक काल का पंजाबी गद्य साहित्य महापुरुषों की जन्मसाखियों, गोष्ठों और टीकाओं के रूप में प्राप्त होता है। भाई बालाकृत गुरु नानक की जन्मसाखी (1535 ई.) सबसे प्राचीन है। बाद में सेवासिंह (1588 ई.) और मनीसिंह (1737 ई.) ने भी गुरुनानक का जीवनचरित लिखा। भाई मनीसिंह की "ग्यान रतनावली" पंजाबी गद्य की उत्तम कृति है। उन्हीं की एक-दूसरी गद्यरचना "भगत रतनावली" है जिसमें पहले पाँच गुरुओं के समकालीन कुछ प्रेमी भक्तों की कथाएँ है। इनके अतिरिक्त "पारसभाग," "भरथरी","मैनावत," हजरत मुहम्मद साहब, कबीर और रविदास की जीवनियाँ,"सतयुग कथा," "पकी रोटी," "गीतासार","लवकुश संवाद," "जपु परमार्थ" "सिंहासनबत्तीसी" और "विवेक" आदि छोटी बड़ी गद्यकृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

अमृता प्रीतम

आधुनिक पंजाबी साहित्य मुख्यत: सिक्खों की देन है और उसमें सिक्खपन का अधिक स्थान मिला है। किंतु जीवन की एकांगिता रहते हुए भी

साहित्य प्राय: लौकिक है। इस युग के आदि कवि भाई वीरसिंह (1872-1957 ई.) माने जाते हैं। उनका "राण सूरतसिंह" (1915) 35 सर्गों का अतुकांत प्रबंध काव्य है। इसका उद्देश्य सिक्ख सिद्धांतों की प्रतिष्ठा है। उनकी "लहराँ दे हार" रहस्यवादी रचना है। "मटक हुलारे" में प्रकृतिचित्रण और "बिजलियाँ दे हार" में देशप्रेम मिलता है। प्रो. पूर्ण सिंह (1882-1932 ई.) की कविता में वेदांती बौद्ध और पाश्चात्य विचारों का गूढ़ प्रभाव है। इनके विचारों और अलंकारों में अपनी मौलिकता भी स्पष्टत: लक्षित होती है। धनीराम चात्रिक (जन्म 1876 ई.) यथार्थवादी किंतु निराशावादी कवि हैं। उनके "भरथरी हरि" और "नल दमयंती" में शैली और विचारधारा पुरानी है, बाद की कविताओं में शहरी जीवन का चित्रण मौलिक ढंग से हुआ है। पंजाबी काव्य को नए मोड़ देनेवाले कवियों में प्रो. मोहनसिंह (जन्म 1905 ई.) सर्वविदित हैं। ईश्वर, जीवन, प्रेम, समाज और प्रकृति के प्रति उनकी नवीन और मौलिक दृष्टि है। "सावे पत्तर" "कसुंभड़े" में वे शरीरवादी और मानववादी हैं तो "अधवाटे" में समाजवादी और छायावादी बनकर आए हैं। मोहनसिंह गीतकार भी हैं और शैलीकार भी। काव्य में उन्होंने कई नए प्रयोग चलाए हैं। अमृता प्रीतम (जन्म 1909) के अनेक कवितासंग्रह प्रकाशित हैं। ये बड़ी सफल गीतकार हैं। इनकी कविता की प्रेरक शक्ति प्रेम है, जो अब मानव प्रेम में परिवर्तित होता जा रहा है। गोपालसिंह दर्दी का "हनेरे सवेरे" काव्य संग्रह उल्लेखनीय है। वे समाज के पापों का चित्रण करने में दक्ष हैं।

5

हिन्दी भाषा एवं साहित्य

हिन्दी जिसके मानकीकृत रूप को मानक हिंदी कहा जाता है, विश्व की एक प्रमुख भाषा है एवं भारत की एक राजभाषा है। केन्द्रीय स्तर पर भारत में सह-आधिकारिक भाषा अंग्रेजी है। यह हिन्दुस्तानी भाषा की एक मानकीकृत रूप है जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक है और अरबी-फारसी शब्द कम हैं। हिन्दी संवैधानिक रूप से भारत की राजभाषा और भारत की सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है क्योंकि भारत के संविधान में किसी भी भाषा को ऐसा दर्जा नहीं दिया गया है। एथनोलॉग के अनुसार हिन्दी विश्व की तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। विश्व आर्थिक मंच की गणना के अनुसार यह विश्व की दस शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।

भारत की जनगणना 2011 में 57.1% भारतीय जनसंख्या हिन्दी जानती है जिसमें से 43.63% भारतीय लोगों ने हिन्दी को अपनी मूल भाषा या मातृभाषा घोषित किया था। इसके अतिरिक्त भारत, पाकिस्तान और अन्य देशों में 14 करोड़ 10 लाख लोगों द्वारा बोली जाने वाली उर्दू, व्याकरण के आधार पर हिन्दी के समान है, एवं दोनों ही हिन्दुस्तानी भाषा की परस्पर-सुबोध्य रूप हैं। एक विशाल संख्या में लोग हिन्दी और उर्दू दोनों को ही समझते हैं। भारत में हिन्दी, विभिन्न भारतीय राज्यों की 14 आधिकारिक भाषाओं और क्षेत्र की बोलियों का उपयोग करने वाले लगभग 1 अरब लोगों में से अधिकांश की दूसरी भाषा है। हिन्दी भारत में सम्पर्क भाषा का कार्य करती है और कुछ हद तक पूरे भारत में सामान्यत: एक सरल रूप में समझी जानेवाली भाषा है। कभी-कभी 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग नौ भारतीय राज्यों के सन्दर्भ में भी उपयोग किया जाता है,

जिनकी आधिकारिक भाषा हिन्दी है और हिन्दी भाषी बहुमत है, अर्थात् बिहार, छत्तीसगढ़, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखण्ड, जम्मू और कश्मीर (2020 से) उत्तर प्रदेश और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली का।

हिन्दी और इसकी बोलियाँ सम्पूर्ण भारत के विविध राज्यों में बोली जाती हैं। भारत और अन्य देशों में भी लोग हिन्दी बोलते, पढ़ते और लिखते हैं। फिजी, मॉरिशस, गयाना, सूरीनाम, नेपाल और संयुक्त अरब अमीरात में भी हिन्दी या इसकी मान्य बोलियों का उपयोग करने वाले लोगों की बड़ी संख्या मौजूद है। फरवरी 2019 में अबू धाबी में हिन्दी को न्यायालय की तीसरी भाषा के रूप में मान्यता मिली।

'देशी','भाखा' (भाषा),'देशना वचन' (विद्यापति),'हिन्दवी','दक्खिनी', 'रेखता','आर्यभाषा' (दयानन्द सरस्वती),'हिन्दुस्तानी','खड़ी बोली','भारती' आदि हिन्दी के अन्य नाम हैं, जो विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में एवं विभिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी, यूरोपीय भाषा-परिवार के अन्दर आती है। ये हिन्द ईरानी शाखा की हिन्द आर्य उपशाखा के अन्तर्गत वर्गीकृत है।

नामोत्पत्ति

हिन्दी शब्द का सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'सिन्धु' से माना जाता है। 'सिन्धु' सिन्धु नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को सिन्धु कहने लगे। यह सिन्धु शब्द ईरानी में जाकर 'हिन्दू', हिन्दी और फिर 'हिन्द' हो गया। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा हिन्द शब्द पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का ईक प्रत्यय लगने से (हिन्द्ईक) 'हिन्दीक' बना जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इण्डिका' या लैटिन 'इण्डेया' या अंग्रेजी शब्द 'इण्डिया' आदि इस 'हिन्दीक' के ही दूसरे रूप हैं। हिन्दी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी' के 'जफरनामा'(1424) में मिलता है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने अपने "हिन्दी एवं उर्दू का अद्वैत" शीर्षक आलेख में हिन्दी की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा है कि ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में 'स' ध्वनि नहीं बोली जाती थी बल्कि 'स' को 'ह' की तरह बोला जाता था। जैसे संस्कृत शब्द 'असुर' का अवेस्ता में सजाति समकक्ष शब्द

'अहुर' था। अफगानिस्तान के बाद सिन्धु नदी के इस पार हिन्दुस्तान के पूरे इलाके को प्राचीन फारसी साहित्य में भी 'हिन्द','हिन्दुश' के नामों से पुकारा गया है तथा यहाँ की किसी भी वस्तु, भाषा, विचार को विशेषण के रूप में 'हिन्दीक' कहा गया है जिसका मतलब है 'हिन्द का' या 'हिन्द से'। यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता हुआ ग्रीक में 'इण्डिके','इण्डिका', लैटिन में 'इण्डेया' तथा अंग्रेजी में 'इण्डिया' बन गया। अरबी एवं फारसी साहित्य में भारत (हिन्द) में बोली जाने वाली भाषाओं के लिए 'जबान-ए-हिन्दी' पद का उपयोग हुआ है। भारत आने के बाद अरबी-फारसी बोलने वालों ने 'जबान-ए-हिन्दी', 'हिन्दी जबान' अथवा 'हिन्दी' का प्रयोग दिल्ली-आगरा के चारों ओर बोली जाने वाली भाषा के अर्थ में किया।

भाषायी उत्पत्ति और इतिहास

हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक सहस्र वर्ष पुराना माना गया है। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था 'अवहट्ठ' से हिन्दी का उद्भव स्वीकार करते हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अवहट्ठ को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया। अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रान्तिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। 1000 ई. के आसपास इसकी स्वतन्त्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक सन्दर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुईं। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था - वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।

अपभ्रंश के सम्बन्ध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह कि देशीय शब्द किस भाषा के थे? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है 'जो संस्कृत के तत्सम एवं सद्भव रूपों से भिन्न है। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतः अप्रभंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परन्तु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गयी।

शैलियाँ

भाषाशास्त्र के अनुसार हिन्दी के चार प्रमुख रूप या शैलियाँ हैं–

(1) मानक हिन्दी – हिन्दी का मानकीकृत रूप, जिसकी लिपि देवनागरी है। इसमें संस्कृत भाषा के कई शब्द हैं, जिन्होंने फारसी और अरबी के कई शब्दों की जगह ले ली है। इसे शुद्ध हिन्दी भी कहते हैं। आजकल इसमें अंग्रेजी के भी कई शब्द आ गये हैं (विशेष तौर पर बोलचाल की भाषा में)। यह खड़ीबोली पर आधारित हैं, जो दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती थी।

(2) दक्खिनी – उर्दू-हिन्दी का वह रूप जो हैदराबाद और उसके आसपास की जगहों में बोला जाता है। इसमें फारसी-अरबी के शब्द उर्दू की अपेक्षा कम होते हैं।

(3) रेख्ता – उर्दू का वह रूप जो शायरी में प्रयुक्त होता था।

(4) उर्दू – हिन्दवी का वह रूप जो देवनागरी लिपि के बजाय फारसी-अरबी लिपि में लिखा जाता है। इसमें संस्कृत के शब्द कम होते हैं, और फारसी-अरबी के शब्द अधिक। यह भी खड़ीबोली पर ही आधारित है।

हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाकर हिन्दुस्तानी भाषा कहा जाता है। हिन्दुस्तानी मानकीकृत हिन्दी और मानकीकृत उर्दू के बोलचाल की भाषा है। इसमें शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फारसी-अरबी दोनों के शब्द कम होते हैं और तद्भव शब्द अधिक। उच्च हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा है (अनुच्छेद 343, भारतीय संविधान)। यह इन भारतीय राज्यों की भी राजभाषा है–उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली। इन राज्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिम बंगाल, पंजाब और हिन्दी भाषी राज्यों से लगते अन्य राज्यों में भी हिन्दी बोलने वालों की अच्छी संख्या है। उर्दू पाकिस्तान की और भारतीय राज्य जम्मू और कश्मीर की राजभाषा है, इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, बिहार, तेलंगाना और दिल्ली में द्वितीय राजभाषा है। यह लगभग सभी ऐसे राज्यों की सह-राजभाषा है, जिनकी मुख्य राजभाषा हिन्दी है।

हिन्दी एवं उर्दू

भाषाविद हिन्दी ब्लॉग एवं उर्दू को एक ही भाषा समझते हैं। हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर अधिकांशतः

संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करती है। उर्दू, नास्तिलिक लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर फारसी और अरबी भाषाओं का प्रभाव अधिक है। हालाँकि व्याकरणिक रूप से उर्दू और हिन्दी में कोई अन्तर नहीं है मगर कुछ विशेष क्षेत्रों में शब्दावली के स्रोत (जैसा कि ऊपर लिखा गया है) में अन्तर है। कुछ विशेष ध्वनियाँ उर्दू में अरबी और फारसी से ली गयी हैं और इसी प्रकार फारसी और अरबी की कुछ विशेष व्याकरणिक संरचनाएँ भी प्रयोग की जाती हैं। उर्दू और हिन्दी को खड़ीबोली की दो आधिकारिक शैलियाँ हैं।

मानकीकरण

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हिन्दी और देवनागरी के मानकीकरण की दिशा में निम्नलिखित क्षेत्रों में प्रयास हुये हैं–

हिन्दी व्याकरण का मानकीकरण

वर्तनी का मानकीकरण

शिक्षा मंत्रालय के निर्देश पर केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा देवनागरी का मानकीकरण

वैज्ञानिक ढंग से देवनागरी लिखने के लिये एकरूपता के प्रयास

यूनिकोड का विकास

बोलियाँ

हिन्दी का क्षेत्र विशाल है तथा हिन्दी की अनेक बोलियाँ (उपभाषाएँ) हैं। इनमें से कुछ में अत्यन्त उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना भी हुई है। ऐसी बोलियों में ब्रजभाषा और अवधी प्रमुख हैं। ये बोलियाँ हिन्दी की विविधता है और उसकी शक्ति भी। वे हिन्दी की जड़ों को गहरा बनाती हैं। हिन्दी की बोलियाँ और उन बोलियों की उपबोलियाँ हैं, जो न केवल अपने में एक बड़ी परम्परा, इतिहास, सभ्यता को समेटे हुए हैं वरन स्वतन्त्रता संग्राम, जनसंघर्ष, वर्तमान के बाजारवाद के विरुद्ध भी उसका रचना संसार सचेत है।

हिन्दी की बोलियों में प्रमुख हैं- अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुन्देली, बघेली, भोजपुरी, हरयाणवी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, मालवी, नागपुरी, खोरठा, पंचपरगनिया, कुमाउँनी, मगही आदि। किन्तु हिन्दी के मुख्य दो भेद हैं - पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी।

लिपि

हिन्दी को देवनागरी लिपि में लिखा जाता है। इसे नागरी के नाम से भी जाना जाता है। देवनागरी में 11 स्वर और 33 व्यंजन हैं। इसे बाईं से दाईं ओर लिखा जाता है।

शब्दावली

हिन्दी शब्दावली में मुख्यत: चार वर्ग हैं।

तत्सम शब्द- ये वे शब्द हैं जिनको संस्कृत से बिना कोई रूप बदले ले लिया गया है। जैसे अग्नि, दुग्ध दन्त, मुख। (परन्तु हिन्दी में आने पर ऐसे शब्दों से विसर्ग का लोप हो जाता है जैसे संस्कृत 'नाम:' हिन्दी में केवल 'नाम' हो जाता है।)।

तद्भव शब्द- ये वे शब्द हैं जिनका जन्म संस्कृत या प्राकृत में हुआ था, लेकिन उनमें बहुत ऐतिहासिक बदलाव आया है। जैसे–आग, दूध, दाँत, मुँह।

देशज शब्द- देशज का अर्थ है - 'जो देश में ही उपजा या बना हो'। तो देशज शब्द का अर्थ हुआ जो न तो विदेशी भाषा का हो और न किसी दूसरी भाषा के शब्द से बना हो। ऐसा शब्द जो न संस्कृत का हो, न संस्कृत-शब्द का अपभ्रंश हो। ऐसा शब्द किसी प्रदेश (क्षेत्र) के लोगों द्वारा बोल-चाल में यों ही बना लिया जाता है। जैसे- खटिया, लुटिया

विदेशी शब्द- इसके अतिरिक्त हिन्दी में कई शब्द अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी आदि से भी आये हैं। इन्हें विदेशी शब्द कहते हैं।

जिस हिन्दी में अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द लगभग पूर्ण रूप से हटा कर तत्सम शब्दों को ही प्रयोग में लाया जाता है, उसे "शुद्ध हिन्दी" या "मानकीकृत हिन्दी" कहते हैं।

भाषा के संबंध में संविधान

भारत बहुभाषी देश है। इसलिए हमारे संविधान निर्माताओं ने राज्य के कार्यों में इस्तेमाल की जाने वाली भाषाओं को निर्दिष्ट करने की आवश्यकता महसूस की। इसलिए भारतीय संविधान का 17वां भाग अस्तित्व में आया जो न केवल संघ की आधिकारिक भाषा (अनुच्छेद 343-344) और राज्यों की आधिकारिक भाषाओं (अनुच्छेद 345) का प्रावधान करता है बल्कि अंतरराज्यीय संचार की भाषा (अनुच्छेद 346-347) भी प्रदान करता है, अदालतों और विधायी

प्रक्रियाओं (अनुच्छेद 348) में भाषा का उपयोग किया जाएगा। इन प्रावधानों के अलावा, कुछ विशेष निर्देश भी हैं (अनुच्छेद 350-351). वास्तव में, यह अध्याय मुंशी-अयंगर फार्मूले पर आधारित है और तदनुसार भाषा नीति चार भागों में प्रदान की गई है-संघ की भाषा, क्षेत्रीय भाषाएं, न्यायालयों की भाषाएं और विशेष निर्देश।

संघ की भाषा– अनुच्छेद 343 के अनुसार देवनागरी लिपि में भारत संघ की राजभाषा हिंदी है। अंग्रेजी को हिंदी से बदलने की मंशा संविधान निर्माताओं में हमेशा से रही थी जब भी हिंदी अंग्रेजी को सभी संदर्भों जहां पिछले 100 वर्षों से उसका इस्तेमाल हो रहा है बदलने में सक्षम हो जाए तो उस समय हिंदी का प्रयोग सुनिश्चित किया जाए। लेकिन संविधान के शुरू होने की तारीख से 15 साल की अवधि इसके राजभाषा के रूप में उपयोग के लिए एक अंतरिम अवधि के रूप में प्रदान की गई, जिसके बाद हिंदी को संघ की एकमात्र राजभाषा बनाना था। हालांकि, जब 15 साल की अवधि खत्म होने वाली थी, संसद ने पाया कि हिंदी को एकमात्र राजभाषा के रूप में लागू करने का समय अभी भी परिपक्व नहीं है। इसके अलावा दक्षिण भारत में हिंसा की संभावनाएं भी थीं, जहां लोग अभी भी हिंदी को राष्ट्रभाषा मानने को तैयार नहीं थे। इसलिए, संसद अनुच्छेद 343 (3) और 120 (2) के तहत अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए राजभाषा अधिनियम 1963 पारित किया जिसमें संघ के सभी कार्यकारी कार्यों के लिए और संसद के सभी विधायी कार्यों के लिए हिंदी के अलावा आधिकारिक भाषा के रूप में अंग्रेजी को जारी रखने का प्रावधान था। लेकिन यह अधिनियम किसी भी तरह से हिंदी के प्रगतिशील उपयोग और राजभाषा के रूप में इसके संवर्धन को प्रतिबंधित नहीं करता है।

भारतीय संघ बनाम वी.मुरासोलीमारन मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि अंग्रेजी भाषा के उपयोग के लिए समय बढ़ाना संघ की राजभाषा के रूप में हिंदी के उपयोग में प्रगति का परित्याग करने के संदर्भ से उत्तरदायी नहीं है। इसने राष्ट्रपति के उस आदेश को भी बरकरार रखा, जिसके लिए प्रशासनिक कर्मियों को एक निश्चित तिथि से पहले निःशुल्क हिंदी प्रशिक्षण प्राप्त करना था और इस तरह के प्रशिक्षण से गुजरने में विफलता के लिए कोई दंड नहीं है, क्योंकि हिंदी को बढ़ावा देने के लिए अनुच्छेद 343 (2) के तहत प्रदान की गई शक्ति का वैध अभ्यास यही है। कोर्ट ने कहा कि इस तरह के आदेश से किसी भी वर्ग पर विकलांगता या अनुचित बाध्यता नहीं थोपी गई। इसके बजाय,

इसने व्यवसायों में समान दक्षता पर जोर दिया। चूंकि अनुच्छेद 343 के तहत परंतुक में प्रावधान है कि राष्ट्रपति हिंदी के उपयोग के लिए आदेश जारी कर सकते हैं, इसलिए राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर इसका प्रयोग निम्नलिखित के रूप में किया गया–

1952– इस आदेश के माध्यम से, एक राज्य के राज्यपाल और सुप्रीम कोर्ट और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के वारंट जारी करने के उद्देश्य से हिंदी को अंग्रेजी के अलावा इस्तेमाल करने के लिए अधिकृत किया गया था।

1955– "जनता के साथ पत्राचार, प्रशासन, कार्यालय पत्रिकाओं और संसद, सरकार के प्रस्तावों को रिपोर्ट तैयार करने के साथ उन राज्य सरकारों के साथ पत्राचार जिन्होंने हिंदी को राजभाषा के रूप में अपनाया है, संधियों और समझौतों, विदेशी अधिकारियों और राजदूतों और कांसुलर प्रतिनिधियों और अंतरराष्ट्रीय संगठनों के लिए भारतीय प्रतिनिधियों के साथ पत्राचार, सिफारिशें और विधायी अधिनियम, के उद्देश्य से अंग्रेजी के अलावा हिंदी के उपयोग के लिए आदेश जारी किया गया था।

1960– प्रशासनिक कर्मियों के प्रशिक्षण में हिंदी भाषा के उपयोग के लिए आदेश का प्रावधान किया गया।

चूंकि हिंदी को अंग्रेजी की जगह लेने के योग्य नहीं माना जाता रहा, तो अनुच्छेद 344 के तहत इसके विकास के लिए प्रावधान किया गया, जिसमें संघ के आधिकारिक उद्देश्य के लिए हिंदी भाषा की प्रगतिशीलता के बारे में राष्ट्रपति को सिफारिशें करने के कार्य के साथ राजभाषा पर एक आयोग के गठन का प्रावधान किया गया, अंग्रेजी के उपयोग पर प्रतिबंध को लेकर अदालतों और अधिनियमों, विधेयकों आदि के लिए भाषा का उपयोग किया जाएगा। अनुच्छेद 344 का उप-खंड (3) अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी से हिंदी के संक्रमण प्रक्रिया में शामिल कठिनाइयों को दर्शाता है क्योंकि दोषयुक्त संचार आसानी से संभव था। यहाँ तक कि उस समय भारत के संविधान का हिंदी में अनुवाद भी नहीं हो सका था। इस उद्देश्य के लिए भारत की सांस्कृतिक और वैज्ञानिक प्रगति आयोग द्वारा गैर-हिंदी भाषी क्षेत्रों से संबंधित व्यक्तियों के दावों और हितों को उचित सम्मान दिया जाना था। साथ ही आयोग की सिफारिशों की जांच करने और राष्ट्रपति को उनकी राय पर रिपोर्ट देने के लिए एक संसदीय समिति का गठन किया जाना था, जिसमें तीस सदस्य (लोकसभा से बीस सदस्य और

राज्यसभा से दस) हैं। देसी भाषाएं: अनुच्छेद 345 से 347 सरकारी कार्यों में राज्यों द्वारा क्षेत्रीय भाषाओं को मान्यता देने का प्रावधान है। ये लेख महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि भारत को भाषाई आधार पर फिर से तैयार प्रशासित किया गया है और इसलिए सभी राज्यों में क्षेत्रीय भाषाएं प्रमुख हैं। अनुच्छेद 345 राज्य को अपने आधिकारिक उपयोग के लिए किसी भी क्षेत्रीय भाषा को चुनने और अपनाने का अधिकार देता है कि ऐसी भाषा को आठवीं अनुसूची में सूचीबद्ध किया जा सकता है या नहीं किया जा सकता। इसके अलावा जब तक ऐसा कानून नहीं बन जाता, तब तक अंग्रेजी ऐसे राज्य की भाषा होगी।

अनुच्छेद 345 स्वतंत्र है क्योंकि यह हिंदी को अपनाने के बाद अंग्रेजी को प्रतिबंधित नहीं करता है और इसलिए यह पहले से ही किए गए आदेश या किसी अन्य आधिकारिक कार्यवाही को शून्य करता है क्योंकि वे अंग्रेजी भाषा में किए गए थे। लेकिन ऐसा तब हो सकता है जब राज्य विधायिका अंग्रेजी के उपयोग को छोड़कर इस संबंध में कोई प्रावधान करे। अंतर-सरकारी संचार के उद्देश्य से अंग्रेजी का इस्तेमाल किया जाना था लेकिन केंद्र और राज्य के बीच संचार के लिए राजभाषा का इस्तेमाल किया जाना था।

इसके विपरीत राज्य एक-दूसरे के साथ हिंदी का इस्तेमाल करने के लिए सहमत हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, संघ में आधिकारिक उपयोग के लिए अपनाई गई भाषा भी संचार के लिए राज्यों के बीच इस्तेमाल की जाने वाली भाषा थी। हालांकि, अगर दो या दो से अधिक राज्यों ने हिंदी को उनके बीच संचार की भाषा के रूप में इस्तेमाल करने का फैसला किया तो वे ऐसा कर सकते थे। अनुच्छेद 347 ने यह बशर्ते, "जहां इस संबंध में मांग की जा रही है, राष्ट्रपति इस बात से संतुष्ट हैं कि किसी राज्य की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त किसी भी भाषा के उपयोग की इच्छा रखता है, वह यह निर्देश दे सकता है कि ऐसी भाषा को भी आधिकारिक तौर पर उस राज्य में मान्यता दी जाएगी या उसके किसी भी हिस्से को ऐसे प्रयोजनों के लिए मान्यता दी जाएगी जैसा कि वह निर्दिष्ट कर सकता है।" राज्यों के भाषाई संगठन की सीमाओं से उत्पन्न क्षेत्रीय स्तर पर भाषा के मामले में बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक संघर्ष को हल करने में, यह प्रावधान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह द्विभाषी नीति सुनिश्चित करने में मदद करता है।

अनुच्छेद 343 और 345 में क्रमश: 'करेंगे' और 'शायद' शब्दों के उपयोग ने एक विवाद पैदा कर दिया है। एक तरफ, अनुच्छेद 343 में कहा गया है कि

"संघ की राजभाषा हिंदी होगी", दूसरी ओर अनुच्छेद 345 राज्यों को विवेकाधीन शक्ति प्रदान करता है कि "राज्य की विधायिका कानून द्वारा स्थापित राज्य के सभी या किसी भी आधिकारिक उद्देश्य के लिए राज्य के लिए प्रयुक्त या हिंदी में से किसी भी एक या अधिक भाषाओं को अपना सकती है" इस प्रकार दो विरोधाभासी प्रावधान प्रदान करते हुए राज्यों के बीच और राज्यों और संघ के बीच हिंदी की भाषा को राजभाषा के रूप में इस्तेमाल करने पर संघर्ष की स्थिति पैदा हो गई है।

विशेष निर्देश–भारतीय संविधान का अध्याय चतुर्थ भाषाओं के संदर्भ में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से विशेष निर्देशों से संबंधित है। अनुच्छेद 350 में प्रावधान है कि कोई व्यक्ति संघ या राज्य की किसी भी भाषा में अपनी शिकायत के निवारण के लिए प्रत्यावेदन प्रस्तुत कर सकता है चाहे वह संघ या राज्य के किसी भी अधिकारी को संबोधित करे। अनुच्छेद 350। राज्य और स्थानीय प्राधिकारियों को अपनी सीमा के भीतर एक निर्देश जारी करता है, ताकि भाषाई अल्पसंख्यक समूहों से संबंधित बच्चों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में अनुदेश के लिए पर्याप्त सुविधाएं प्रदान करने का प्रयास किया जा सके। इस अनुच्छेद को सातवें संशोधन के माध्यम से संविधान में शामिल किया गया था।

अनुच्छेद 350उ में राष्ट्रपति द्वारा भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति के लिए उन सुरक्षो पायों से संबंधित मामलों की जांच करने का निर्देश दिया गया है जिनके लिए संविधान प्रावधान के अनुसार भाषाई अल्पसंख्यक हकदार हैं। अनुच्छेद 351 में भारत की समग्र संस्कृतियों के लिए अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हिंदी भाषा के विकास और संवर्धन और संस्कृत और अन्य भाषाओं से शब्दावली बनाने का प्रावधान है। इस प्रकार, दो पहलू थे- (क) हिंदी के संवर्धन और प्रसार के लिए प्रयास (ख) भारत की समग्र संस्कृति का प्रतीक बनने के लिए अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के भाषाई तत्वों को शामिल करना।

अदालतों की भाषा–भारत के संविधान के अध्याय III में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के साथ-साथ अधिनियमों, विधेयकों आदि के लिए भाषा का उपयोग करने का प्रावधान है। अनुच्छेद 348 में कहा गया है कि न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी होगी हालांकि राज्यपाल राज्य के आधिकारिक उद्देश्य

के लिए और उपरोक्त अदालतों के समक्ष कार्यवाही के लिए हिंदी या किसी अन्य भाषा के उपयोग को प्राधिकृत कर सकते हैं। लेकिन अदालतों के फैसले, फरमान और आदेश अंग्रेजी में होंगे। यह विश्लेषण किया गया था कि "अनुच्छेद 348 के आधार पर (1) (ख) सभी आदेशों के आधिकारिक पाठ, नियम, संविधान या कानूनों और सभी अधिनियमों के तहत जारी किए गए विनियम और उप-कानून, राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित विधेयक, अध्यादेश उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के समक्ष कार्यवाही के उद्देश्य से अंग्रेजी भाषा में होंगे, अनुच्छेद 394-ए अदालतों में आवेदन के लिए अंग्रेजी पाठ के बराबर एक आसन पर हिंदी संस्करण का प्रयोग नहीं करता है।" अदालतों को अंग्रेजी का इस्तेमाल जारी रखना था। इसका कारण श्री अयंगर ने बताया,

"हमारी अदालतें अंग्रेजी की आदी हैं, वे अंग्रेजी में मसौदा तैयार कानूनों के आदी हो गए हैं, वे अंग्रेजी में व्याख्या करने के आदी हो गए हैं। हिंदी भाषा में अंग्रेजी शब्द के बराबर का उचित शब्द खोजना और फिर सभी उदाहरणों और फैसलों के साथ इसकी व्याख्या करने के लिए आगे बढ़ना हमेशा संभव नहीं होता है।" यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि हिंदी द्वारा अंग्रेजी के प्रतिस्थापन के लिए 15 वर्षों की समयबद्धता उच्चतम न्यायालयों और उच्च न्यायालयों की कार्यवाही पर लागू नहीं थी।

मथुरा प्रसाद बनाम बिहार राज्य, पटना उच्च न्यायालय ने माना कि एक कानून के अंग्रेजी अनुवाद का प्रकाशन न करना, जो मूल रूप से हिंदी में था, अनुच्छेद 348 (1) (बी) (iii) का उल्लंघन नहीं करता था। हाल ही में विधि आयोग की एक रिपोर्ट (216) ने भी अदालतों में अंग्रेजी जारी रखने की सिफारिश की है।

अनुच्छेद 349 में भाषा से संबंधित कुछ कानूनों के अधिनियमन के लिए एक विशेष प्रक्रिया का पालन करने का प्रावधान है जिसके तहत राष्ट्रपति अनुच्छेद 344 के तहत गठित आयोग और समिति पर विचार करने के अलावा भाषा से संबंधित विधेयक पेश करने की अनुमति नहीं देंगे।

जहां अनुच्छेद 120 और 210 के तहत विधानमंडलों में इस्तेमाल की जाने वाली भाषाओं के प्रावधान किए गए हैं, वहीं न्यायपालिका और कार्यपालिका के कार्यों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली भाषाओं का प्रावधान भारत के संविधान के भाग XVII में किया गया है।

आठवीं अनुसूची– आठवीं अनुसूची मुंशी–अयंगर फार्मूले का परिणाम है जिसने भाषा आयोग को सभी क्षेत्रीय भाषा को शामिल करने की सिफारिश की थी। आठवीं अनुसूची में उन भाषाओं का नाम शामिल है जिन्हें राजभाषा के रूप में मान्यता दी गई है। 92वें संशोधन के माध्यम से नवीन भाषाओं को जोड़ कर वर्तमान में अनुसूची में भाषाओं की गणना बाईस हो गई है। यह अनुसूची दो उद्देश्यों को पूरा करती है–

इन भाषाओं का प्रतिनिधित्व आधिकारिक आयोग में किया जाना है।

अनुच्छेद 51 के तहत दिए गए हिंदी के विकास के लिए इन भाषाओं से शब्दावली ली जा सकती है।

1956–1966 के बीच की अवधि के दौरान भाषाओं के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बाद इन क्षेत्रीय भाषाओं को महत्त्व मिला। हालांकि अनुसूची में किसी भाषा के प्रवेश के लिए कोई विशिष्ट स्पष्ट मानदंड नहीं है, मोटे तौर से निम्न अलिखित मानदंडों का पालन किया जाता है–

अलग साहित्यिक परंपराओं का अस्तित्व

विशिष्ट स्वतंत्र लिपि

भाषा को बोलने वालों की बड़ी संख्या जो किसी क्रमिक सतत भौगोलिक क्षेत्र में या व्याप्त हो, संस्कृति और विरासत की अभिव्यक्ति का माध्यम हो ताकि यह अन्य साहित्यिक भाषाओं के आधुनिकीकरण के लिए एक संसाधन भाषा बन सके। इन भाषाओं को अनुसूची में शामिल करने से उन भाषाओं के वक्ताओं और समर्थकों को एक पहचान के साथ-साथ भावनात्मक संतुष्टि मिलती है। कन्हैया लाल सेठिया बनाम भारत संघ मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि "किसी विशेष भाषा को अनुसूची 8 में शामिल करना और शामिल नहीं करना केंद्र सरकार का नीतिगत मामला है और न्यायालय इस मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इसके अलावा यह भी है कि किसी को भी केंद्र को विशेष भाषा को शामिल करने के लिए बाध्य करने का कोई मौलिक अधिकार नहीं है।

हिंदी साहित्य

हिन्दी भारत और विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है। उसकी जड़ें प्राचीन भारत की संस्कृत भाषा तक जातीं हैं परन्तु मध्ययुगीन

भारत के अवधी, मागधी, अर्धमागधी तथा मारवाड़ी जैसी भाषाओं के साहित्य को हिन्दी का आरम्भिक साहित्य माना जाता हैं। हिंदी साहित्य ने अपनी शुरुआत लोकभाषा कविता के माध्यम से की और गद्य का विकास बहुत बाद में हुआ। हिंदी का आरंभिक साहित्य अपभ्रंश में मिलता है।

हिंदी में तीन प्रकार का साहित्य मिलता है–गद्य, पद्य और चम्पू। जो गद्य और पद्य दोनों में हो उसे चंपू कहते हैं। खड़ी बोली की पहली रचना कौन सी है इस विषय में विवाद है लेकिन ज्यादातर साहित्यकार लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखे गये उपन्यास परीक्षा गुरु को हिन्दी की पहली प्रामाणिक गद्य रचना मानते हैं।

हिंदी साहित्य का काल विभाजन

हिंदी साहित्य का काल विभाजन के कई आधार हो सकते हैं। कर्ता के आधार पर –प्रसाद युग, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग। प्रवृत्ति के आधार पर–भक्तिकाल, संतकाव्य, सूफीकाव्य, रीतिकाल, छायावाद, प्रगतिवाद। विकासवादिता के आधार पर–आदिकाल, आधुनिक काल, मध्यकाल। सामाजिक तथा सांस्कृतिक घटनाओं के आधार पर–राष्ट्रीय धारा, स्वातंत्र्योनर काल, स्वच्छंदतावाद, आदि।

इस संबंध में उल्लेखनीय हैं– काल विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियों की समानता के आधार पर होना चाहिए। कालों का नामकरण यथासंभव मूल चेतना प्रमाान प्रवृत्ति को आधार बनाकर करना चाहिए। युगों कालों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के आरंभ और समापन के अनुसार होना चाहिए।

काल की मूल प्रवृत्ति का निर्माण प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर करना चाहिए।

हिंदी साहित्य का काल विभाजन

1. गार्सा–द–तासी, शिवसिह सेंगर का काल विभाजन – गार्सा–द–तासी, शिवसिह सेंगर ने काल विभाजन का कोई प्रयास नहीं किया।

2. ग्रियर्सन का काल विभाजन –ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' को ग्यारह अध्यायों में विभक्त किया है। प्रत्येक अध्याय एक काल खंड को व्यक्त करता है। इन्होंने लेखकों एवं कवियों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया है। इस काल विभाजन में वैज्ञानिकता का अभाव है तथा अध्यायों की संख्या अधिक होने से उसे काल विभाजन मानना उपयुक्त नहीं है।

3. मिश्र बंधुओं का काल विभाजन - मिश्र बंधुओं ने अपनी पुस्तक 'मिश्र बंधु विनोद' 1913 ई. में काल विभाजन प्रस्तुत किया-

आरंभिक काल -
पूर्वारंभिक काल (700 - 1343 वि.)
उनरारंभिक काल (1344 - 1444 वि-)
माध्यमिक काल -
पूर्व माध्यमिक काल (1445 - 1560 वि.)
प्रौढ़ मामयमिक काल (1561 - 1680 वि.)
अलंकृत काल -
पूर्वालंकृत काल (1681 - 1790 वि.)
उनरालंकृत काल (1791 - 1889 वि.)
परिवर्तन काल -
(1890 - 1925 वि.)
वर्तमान काल -
(1926 वि. से अब तक)

4. मिश्र बंधुओं के काल विभाजन की त्रुटियां - काल खंडों के नामकरण में एक जैसी पण्ति नहीं अपनाई गई। आरंभिक, माध्यमिक, वर्तमान काल विकासवादिता के आधार पर हैं तो अलंछत काल आंतरिक प्रवृत्ति के आधार पर।

इस काल विभाजन का कोई सुस्पष्ट आधार नहीं है।

हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ 700 वि. (64 ई.) से मानकर हिंदी के अंतर्गत अपभ्रंश की रचनाओं को समेट लिया गया है। हिंदी साहित्य का प्रारंभ 1000 ई. के आसपास हुआ था। परिवर्तन काल असंगत है तथा कालों की संख्या भी अधिक है। इन्हीं न्यूनताओं को मयान में रखकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उक्त काल विभाजन पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-"सारे रचना काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उनर, इत्यादि खंडों में आँख मूंदकर बाट देना-यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है और क्या नहीं-किसी वृन संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।''

5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल का काल विभाजन- आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास' (1929 ई.) में काल विभाजन किया-

वीरगाथा काल (संवत् 1050-1375 वि.)

भक्तिकाल (संवत् 1375-1700 वि.)
रीति काल (संवत् 1700-1900 वि.)
गद्य काल (संवत् 1900-1984 वि.)

वस्तुतः शुक्लजी ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में दोहरा नामकरण करते हुए उसका प्रारूप निम्न प्रकार से दिया है-

आदिकाल (वीरगाथा काल) (1050-1375 वि.)
पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) (1375-1700 वि.)
उनर मध्यकाल (रीति काल) (1700-1900 वि.)
आधुनिक काल (गद्य काल) (1900-1984 वि.)

स्पष्ट है कि लोग जिसे आदिकाल कहते हैं शुक्लजी उस काल में 'वीरता' की प्रवृनि को प्रधान मानकर उसका नाम वीरगाथा काल रखना चाहते हैं। इसी प्रकार पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल, उनर मध्यकाल को रीति काल तथा आधुनिक काल को वे गद्यकाल कहे जाने के पक्ष में है। उनके अनुसार वीरगाथाकाल में वीरता की, भक्तिकाल में भक्ति की, रीतिकाल में रीति तत्व निरूपण की और आमुनिक काल में गद्य की प्रधानता है, इसलिए प्रधान प्रवृत्ति के आधार पर ही इन कालखंडों का नामकरण करना उचित है। शुक्ल जी काल विभाजन पद्धति के दो आधार हैं-

प्रधान प्रवृत्ति,
ग्रंथों की प्रसिद्धि।

जिस कालखंड में एक विशेष ढंग की रचनाएँ अधिक मिलीं उसे एक अलग कालखंड माना गया और रचनाओं की प्रचुरता के आधार पर प्रधान प्रवृत्ति का निर्धारण कर लिया गया। प्रधान प्रवृत्ति के लिए लोक प्रसिद्ध ग्रंथों को ही आधार बनाया गया है। शुक्लजी के काल विभाजन में सर्वधिक आपत्ति विद्वानों को वीरगाथाकाल नाम पर है। इस काल की अधिकांश सामग्री आधार हीन एवं अप्रामाणिक है।

अतः उसके आधार पर प्रधान प्रवृत्ति का निर्माण नहीं हो सकता। कुछ आलोचकों ने इस नाम को अनुचित बताकर इसे आदिकाल कहना ही उपयुक्त माना है। एक प्रवृत्ति को प्रधानता देकर शेष को गौण मान लेने का दृष्टिकोण भी कुछ लोगों के मत से एकांगी है, जो इतिहास की अधूरी एवं एक पक्षीय व्याख्या करता है जिसे वैज्ञानिक नहीं कह सकते। फिर भी यह कहना उचित है कि शुक्लजी की काल विभाजन का आधार तर्क संगत एवं पुष्ट है। उनका काल

विभाजन सरल एवं सुस्पष्ट है। अधिकतर परवर्ती इतिहासकारों ने उसी का आधार ग्रहण किया है।

6. डॉ. राम कुमार वर्मा का काल विभाजन–डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास ग्रंथ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938 ई.) में इस प्रकार काल विभाजन किया–

संधिकाल (750 वि. - 1000 वि.),
चारणकाल (1000 वि. - 1375 वि.),
भक्तिकाल (1375 वि. - 1700 वि.),
रीतिकाल (1700 वि. - 1900 वि.)।

आधुनिक काल (1900 वि. - अब तक)

संधिकाल में उन्होंने अपभ्रंश की रचनाएं समाविष्ट की हैं। चारणकाल और शुक्लजी के वीरगाथाकाल में कोई मौलिक अंतर नहीं है। वीरगाथाओं के रचयिता चारण कहलाते थे। शुक्लजी ने नामकरण रचना की प्रवृत्ति के आधार पर किया जबकि डॉ. वर्मा ने रचनाकार के आधार पर किया।

डॉ. गणपति चंद्र गुप्त का काल विभाजन–

इन्होंने हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' (1965 ई.) में निम्न काल विभाजन किया–

प्रारंभिक काल - (1184–1350 ई.)

मध्यकाल - 1. पूर्व मध्यकाल (1350–1500 ई.) 2. उनर मध्यकाल (1500–1857)

आधुनिक काल - (1857–1965 ई.)

टास्क मिश्रबंधुओं के काल विभाजन की त्रुटियों से क्या तात्पर्य है? डॉ. गणपति चंद्र गुप्त का यह भी मत है कि हिंदी के प्रारंभिक काल एवं मध्यकाल में तीन प्रकार का काव्य मिलता है–(v) धर्माश्रित काव्य, (ii) राज्याश्रित काव्य, (iii) लोकाश्रित काव्य।

विभिन्न काल खंडों के नामकरण

1. आदिकाल -

वीरगाथाकाल - आचार्य रामचंद्र शुक्ल,
आदिकाल - हजारी प्रसाद द्विवेदी,
चारणकाल - डॉ. रामवुफमार वर्मा,
बीज वपन काल - महावीर प्रसाद द्विवेदी,

सिद्द सामंत युग - राहुल सांकृत्यायन,
आरंभिक काल - मिश्र बंधु,
प्रारंभिक काल - डॉ. गणपति चंद्र गुप्त,

2. पूर्व मध्यकाल-भक्तिकाल।

3. उत्तर मध्यकाल-रीति काल, अलंकृत काल, श्रृंगारकाल, कला काल।

4. आधुनिक काल-गद्य काल, वर्तमान काल।

स्पष्ट है कि प्रथम काल खंड के नामकरण पर ही अधिक विवाद है। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में जो नाम सर्वाधिक प्रचलित हैं, वे इस प्रकार हैं-

आदिकाल (1000 ई. से 1350 ई.),
भक्तिकाल (1350 ई. से 1650 ई.),
रीति काल (1650 ई. से 1850 ई.),
आधुनिक काल (1850 ई. से अब तक)।

उक्त नाम ही अब सर्वस्वीकृत हैं। इतिहास ग्रंथों में इन्हीं का प्रयोग होता है।

आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य

हिंदी गद्य के आरंभ के संबंध में विद्वान एकमत नहीं है। कुछ 10वीं शताब्दी मानते हैं कुछ 11 वीं शताब्दी, कुछ 13 शताब्दी। राजस्थानी एवं ब्रज भाषा में हमें गद्य के प्राचीनतम प्रयोग मिलते हैं। राजस्थानी गद्य की समय सीमा 11वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी तथा ब्रज गद्य की सीमा 14वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक मानी जाती है। ऐसा माना जाता है कि 10वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के मध्य ही हिंदी गद्य की शुरुआत हुई थी। खड़ी बोली के प्रथम दर्शन अकबर के दरबारी कवि गंग द्वारा रचित चंद छंद बरनन की महिमा में होते हैं अध्ययन की दृष्टि से हिंदी गद्य साहित्य के विकास को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है। हिन्दी गद्य के विकास को विभिन्न सोपानों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) पूर्व भारतेंदु युग (प्राचीन युग)- 13 वीं शताब्दी से 1868 ईस्वी तक।
(2) भारतेंदु युग(नवजागरण काल)- 1868ईस्वी से 1900 ईस्वी तक।
(3) द्विवेदी युग- 1900 ईस्वी से 1922 ईस्वी तक।
(4) शुक्ल युग(छायावादी युग)- 1922 ईस्वी से 1938 ईस्वी तक
(5) शुक्लोत्तर युग(छायावादोत्तर युग)- 1938 ईस्वी से अब तक।

19वीं सदी से पहले का हिन्दी है

हिन्दी गद्य के उद्‌भव को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान हिन्दी गद्य की शुरुआत 19वीं सदी से ही मानते हैं जबकि कुछ अन्य हिन्दी गद्य की परम्परा को 11वीं-12वीं सदी तक ले जाते हैं। आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की निम्न परम्पराएं मिलती हैं-

(1) राजस्थानी में हिन्दी गद्य–राजस्थानी गद्य के प्राचीनतम रूप 10 वीं शताब्दी के दान पत्रों, पट्टे-परवानों, टीकाओं व अनुवाद ग्रंथों में देखने को मिलता है। आराधना, बाल शिक्षा, तत्त्व विचार, धनपाल कथा आदि रचनाओं में राजस्थानी गद्य के प्राचीनतम प्रयोग दृष्टिगत होते हैं।

(2) मैथिली में हिन्दी गद्य–कालक्रम की दृष्टि से राजस्थानी के बाद मैथिली में हिन्दी गद्य के प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। मैथिली में प्राचीन हिन्दी गद्य ग्रन्थ ज्योतिरिश्वर की रचना वर्ण रत्नाकर है। इसका रचना काल 1324 ईस्वी सन् है।

(3) ब्रजभाषा में हिन्दी गद्य–ब्रजभाषा में हिन्दी गद्य की प्राचीनतम रचनाएँ 1513 ईस्वी से पूर्व की प्रतीत नहीं होती. इनमें गोस्वामी विट्‌ठलनाथ कृत "श्रृंगार रस मंडन","यमुनाष्टाक","नवरत्न सटीक", चतुर्भुज दास कृत षड्‌ऋतु वार्ता", गोकुल नाथ कृत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता","दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" गोस्वामी हरिराम कृत "कृष्णावतार स्वरूप निर्णय","सातों स्वरूपों की भावना","द्वादश निकुंज की भावना", नाभादास कृत "अष्टयाम", बैकुंठ मणि शुक्ल कृत "अगहन माहात्म्य","वैशाख माहात्म्य" तथा लल्लू लाल कृत "माधव विलास" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(4) दक्खिनी में हिन्दी गद्य–गेसुदराज कृतष्मेराजुलआशिकीन" तथा मूल्ला वजही कृत "सबरस" में प्राचीन दक्खिनी हिन्दी गद्य रुप को देखा जा सकता है।

भारतेंदु पूर्व युग

खड़ीबोली हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आसपास हुआ। इस विकास में कोलकाता के फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय सदासुखलाल ने सुखसागर तथा मुंशी इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की

कहानी' की रचना की इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आनेवाली खड़ी बोली को स्थान मिला। ये सभी कृतियाँ सन् 1803 में रची गयी थीं। आधुनिक खड़ी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा जिसमें ईसाई धर्म का भी योगदान रहा। बंगाल के राजा राम मोहन राय ने 1815 ईस्वी में वेदांत सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में बंगदूत नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र उदंतमार्तंड कलकत्ता से निकाला। इसी समय गुजराती भाषी आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में लिखा।

भारतेंदु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) को हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका निकाली। साथ ही अनेक नाटकों की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं- चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए। इस काल में निबंध नाटक उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ-साथ पत्रकार भी थे।

श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षागुरू को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। बाबू देवकीनंदन खत्री का चंद्रकांता तथा चंद्रकांता संतति आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि इनको पढ़ने के लिये बहुत से अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की राजा भोज का सपना महत्त्वपूर्ण है।

बलदेव अग्रहरि की सन 1887 में प्रकाशित नाट्य पुस्तक 'सुलोचना सती' में सुलोचना की कथा के साथ आधुनिक कथा को भी स्थान दिया गया हैं, जिसमे संपादकों और देश सुधारकों पर व्यंग्य किया गया है। कई नाटको में मुख्य कथानक ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। बलदेव अग्रहरि की सुलोचना सती में भिन्नतुकांत छंद का आग्रह भी दिखाई देता है।

द्विवेदी युग

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। सन 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकुंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है।

हिंदी कहानी का वास्तविक विकास द्विवेदी युग से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए। इस युग ने कई सम्पादकों को जन्म दिया। पण्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आधा दर्जन से अधिक पत्रों का सम्पादन किया। शिव पूजन सहाय उनके योग्य शिष्यों में शुमार हुए। इस युग में हिन्दी आलोचना को एक दिशा मिली। इस युग ने हिन्दी के विकास की नींव रखी। यह कई मायनों में नई मान्यताओं की स्थापना करने वाला युग रहा।

शुक्ल युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। पं रामचंद्र शुक्ल (1884–1941) ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों पर हिंदी में पहली बार निबंध लेखन किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता

बनाए हुए हैं। जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली। सेवा सदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन एवं गोदान आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियां मानसरोवर के आठ भागों में तथा गुप्तधन के दो भागों में संग्रहित हैं। पूस की रात, कफन, शतरंज के खिलाडी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा तथा ईदगाह आदि उनकी कहानियां खूब लोकप्रिय हुईं। इसकाल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

शुक्लोत्तर युग

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डॉ. रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय, ने ललित निबंधों की रचना की है।

हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी तथा के पी सक्सेना के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय, तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नई विधाओं जैसे यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएं एक-दूसरे से मिल रही हैं।

आधुनिक हिंदी पद्य साहित्य

आधुनिक काल 1850 से हिंदी साहित्य के इस युग को भारत में राष्ट्रीयता के बीज अंकुरित होने लगे थे। स्वतंत्रता संग्राम लड़ा और जीता गया। छापेखाने का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन आम आदमी के जीवन का हिस्सा बने, जन संचार के विभिन्न साधनों का विकास हुआ, रेडिओ, टी वी व समाचार पत्र हर घर का हिस्सा बने और शिक्षा हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार। इन सब परिस्थितियों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर अनिवार्यत: पड़ा। आधुनिक काल का हिंदी पद्य साहित्य पिछली सदी में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा। जिसमें अनेक विचार धाराओं का बहुत तेजी से विकास हुआ। जहाँ काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग, नई कविता युग और साठोत्तरी कविता इन नामों से जाना गया, छायावाद से पहले के पद्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र युग और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के दो और युगों में बाँटा गया। इसके विशेष कारण भी हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता (1850-1900)

ईस्वी सन 1850 से 1900 तक की कविताओं पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का गहरा प्रभाव पड़ा है। वे ही आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह हैं। उन्होंने भाषा को एक चलता हुआ रूप देने की कोशिश की। आपके काव्य-साहित्य में प्राचीन एवं नवीन का मेल लक्षित होता है। भक्तिकालीन, रीतिकालीन परंपराएं आपके काव्य में देखी जा सकती हैं तो आधुनिक नूतन विचार और भाव भी आपकी कविताओं में पाए जाते हैं। आपने भक्ति-प्रधान, श्रृंगार-प्रधान, देश-प्रेम-प्रधान तथा सामाजिक-समस्या-प्रधान कविताएं की हैं। आपने ब्रजभाषा से खड़ीबोली

की ओर हिंदी-कविता को ले जाने का प्रयास किया। आपके युग में अन्य कई महानुभाव ऐसे हैं जिन्होंने विविध प्रकार हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। इस काल के प्रमुख कवि हैं-

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,
प्रताप नारायण मिश्र,
बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
राधाचरण गोस्वामी,
अम्बिका दत्त व्यास।

महावीर प्रसाद द्विवेदी युग की कविता (1900-1920)

सन 1900 के बाद दो दशकों पर पं महावीर प्रसाद द्विवेदी का पूरा प्रभाव पड़ा। इस युग को इसीलिए द्विवेदी-युग कहते हैं। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में आप उस समय पूरे हिंदी साहित्य पर छाए रहे। आपकी प्रेरणा से ब्रज-भाषा हिंदी कविता से हटती गई और खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। भाषा को स्थिर, परिष्कृत एवं व्याकरण-सम्मत बनाने में आपने बहुत परिश्रम किया। कविता की दृष्टि से वह इतिवृत्तात्मक युग था। आदर्शवाद का बोलबाला रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश-भक्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा-प्रेम वगैरह कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारण शृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा-काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। भाषा खुरदरी और सरल रही। मधुरता एवं सरलता के गुण अभी खड़ी-बोली में आ नहीं पाए थे। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रज भाषा में सरस रचनाएं प्रस्तुत कीं। इस युग के प्रमुख कवि-

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध',
रामचरित उपध्याय,
जगन्नाथ दास रत्नाकर,
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही',
श्रीधर पाठक,
राम नरेश त्रिपाठी,
मैथिलीशरण गुप्त,
लोचन प्रसाद पाण्डेय,

सियारामशरण गुप्त,
छायावादी युग की कविता (1920-1936)।

सन 1920 के आसपास हिंदी में कल्पनापूर्ण स्वछंद और भावुक कविताओं की एक बाढ़ आई। यह यूरोप के रोमांटिसिज्म से प्रभावित थी। भाव, शैली, छंद, अलंकार सब दृष्टियों से इसमें नयापन था। भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद लोकप्रिय हुई इस कविता को आलोचकों ने छायावादी युग का नाम दिया। छायावादी कवियों की उस समय भारी कटु आलोचना हुई परंतु आज यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक हिंदी कविता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि इसी समय के कवियों द्वारा हुई। जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा इस युग के प्रधान कवि हैं।

उत्तर-छायावाद युग-(1936-1943)

यह काल भारतीय राजनीति में भारी उथल-पुथल का काल रहा है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, कई विचारधाराओं और आन्दोलनों का प्रभाव इस काल की कविता पर पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणामों के प्रभाव से भी इस काल की कविता बहुत हद तक प्रभावित है। निष्कर्षत: राष्ट्रवादी, गांधीवादी, विप्लववादी, प्रगतिवादी, यथार्थवादी, हालावादी आदि विविध प्रकार की कवितायें इस काल में लिखी गई। इस काल के प्रमुख कवि हैं–

माखनलाल चतुर्वेदी
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन',
सुभद्रा कुमारी चौहान,
रामधारी सिंह 'दिनकर',
हरिवंश राय 'बच्चन',
भगवतीचरण वर्मा,
नरेन्द्र शर्मा,
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल',
शिवमंगल सिंह 'सुमन',
नागार्जुन,
केदारनाथ अग्रवाल,
त्रिलोचन,
रांगेयराघव।

प्रगतिवादी युग की कविता (1936)

छायावादी काव्य बुद्धिजीवियों के मध्य ही रहा। जन-जन की वाणी यह नहीं बन सका। सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों का सीधा प्रभाव इस युग की कविता पर सामान्यत: नहीं पड़ा। संसार में समाजवादी विचारधारा तेजी से फैल रही थी। सर्वहारा वर्ग के शोषण के विरुद्ध जनमत तैयार होने लगा। इसकी प्रतिच्छाया हिंदी कविता पर भी पड़ी और हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी युग का जन्म हुआ। 1930 के बाद की हिंदी कविता ऐसी प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित है। 1936 में "प्रगतिशील लेखक संघ" के गठन के साथ हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरुआत हुई। इसका सबसे अधिक दूरगामी प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा। मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास को वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास आरंभ किया। प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के साथ नई कविता के कवि मुक्तिबोध और शमशेर को भी रखा जाता है।

प्रयोगवाद-नयी कविता युग की कविता (1943-1960)

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात संसार भर में घोर निराशा तथा अवसाद की लहर फैल गई। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'अज्ञेय' के संपादन में 1943 में 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ। तब से हिंदी कविता में प्रयोगवादी युग का जन्म हुआ ऐसी मान्यता है। इसी का विकसित रूप नयी कविता कहलाता है। दुर्बोधता, निराशा, कुंठा, वैयक्तिकता, छंदहीनता के आक्षेप इस कविता पर भी किए गए हैं। वास्तव में नई कविता नई रुचि का प्रतिबिंब है। इस धारा के मुख्य कवि हैं-

अज्ञेय,
गिरिजाकुमार माथुर,
प्रभाकर माचवे,
भारतभूषण अग्रवाल,
बिहारी लाल हरित,
मुक्तिबोध,
शमशेर बहादुर सिंह,
धर्मवीर भारती,
नरेश मेहता,

रघुवीर सहाय,
जगदीश गुप्त,
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना,
कुंवर नारायण,
केदार नाथ सिंह।

इस प्रकार आधुनिक हिंदी खड़ी बोली कविता ने भी अल्प समय में उपलब्धि के उच्च शिखर सर किए हैं। क्या प्रबंध काव्य, क्या मुक्तक काव्य, दोनों में हिंदी कविता ने सुंदर रचनाएं प्राप्त की हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी कई सुंदर रचनाएं हिंदी को मिली हैं। आकार और प्रकार का वैविध्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है। संगीत-रूपक, गीत-नाटय वगैरह क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। कविता के बाह्य एवं अंतरंग रूपों में युगानुरूप जो नये-नये प्रयोग नित्य-प्रति होते रहते हैं, वे हिंदी कविता की जीवनी-शक्ति एवं स्फूर्ति के परिचायक हैं।

6

बंगाली भाषा एवं साहित्य

बांग्ला भाषा या बंगाली भाषा बांग्लादेश और भारत के पश्चिम बंगाल और उत्तर-पूर्वी भारत के त्रिपुरा तथा असम राज्यों के कुछ प्रान्तों में बोली जानेवाली एक प्रमुख भाषा है। भाषाई परिवार की दृष्टि से यह हिन्द यूरोपीय भाषा परिवार का सदस्य है। इस परिवार की अन्य प्रमुख भाषाओं में हिन्दी, नेपाली, पंजाबी, गुजराती, असमिया, ओड़िया, मैथिली इत्यादि भाषाएँ हैं। बंगाली बोलने वालों की सँख्या लगभग 23 करोड़ है और यह विश्व की छठी सबसे बड़ी भाषा है। इसके बोलने वाले बांग्लादेश और भारत के अलावा विश्व के बहुत से अन्य देशों में भी फैले हैं।

उद्‌भव

भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तरह बंगाली भाषा का भी उत्पत्तिकाल सन् 1, 000 ई. के आसपास माना जा सकता है। अपभ्रंश से या मगध की भाषा से पृथक् रूप ग्रहण करने के बाद से ही उसमें गीतों और पदों की रचना होने लगी थी। जैसे-जैसे वह जनता के भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने का साधन बनती गई, उसमें विविध रचनाओं, काव्यग्रंथों तथा दर्शन, धर्म आदि विषय कृतियों का समावेश होता गया, यहाँ तक कि आज भारतीय भाषाओं में उसे यथेष्ट ऊँचा स्थान प्राप्त हो गया है।

लिपि

बंगाली लिपि नागरी लिपि से कुछ कुछ भिन्न है किन्तु दोनों में बहुत अधिक साम्य भी है। हिंदी की तरह उसमें भी 14 स्वर तथा 33 व्यंजन हैं।

बंगाली में "व" का उच्चारण प्रायः "ब" की तरह (कभी कभी "उ" की तरह या "भ" की तरह) किया जाता है और आत्मा, लक्ष्मी, महाशय आदि शब्द आत्ताँ, लक्खी, मोशाय जैसे उच्चरित होते हैं।

बंगाली साहित्य

बँगला भाषा का साहित्य स्थूल रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है-
प्राचीन साहित्य (950-1, 200 ई.),
मध्यकालीन साहित्य (1, 200-1, 800 ई.), तथा
आधुनिक साहित्य (1, 800 के बाद)।

प्रारंभिक साहित्य बंगाल के जीवन तथा उसके गुण-दोष-विवेचन की दृष्टि से ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। चंडीदास, कृतिवास, मालाधर, पिपलाई, लोचनदा, ज्ञानदास, कविकंकण, मुकुन्दराम, कृष्णदास, काशीराम दास, भारतचन्दराय, गुणाकार आदि कवि इसी काल में हुए हैं।

प्राचीन बँगला साहित्य (950 से 1200 ई. तक)

भारत के अन्य विद्वानों की तरह बंगाल के भी विद्वान् संस्कृत की रचनाओं को ही विशेष महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि में वही "अमर भारती" का पद सुशोभित कर सकती थी। बोलचाल की भाषा को वे परिवर्तनशील और अस्थायी मानते थे। किन्तु जनसाधारण तो अपने विचारों और भावों को प्रकट करने के लिए उसी भाषा को पसन्द कर सकते थे जो उनके हृदय के अधिक निकट हो। उसी भाषा में वे उपदेश और शिक्षा ग्रहण कर सकते थे।

पुरातन बंगाल में इस तरह की दो भाषाएँ प्रचलित थीं-एक तो स्थानीय भाषा, जिसे हम प्राचीन बँगला कह सकते हैं, दूसरी अखिल भारतीय जन साहित्यिक भाषा, जो सामान्यतः समूचे उत्तर भारत में समझी जा सकती थी। इसे नागर या शौरसेनी अपभ्रंश कह सकते हैं, जो मोटे तौर से पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब तथा राजस्थान की भाषा थी।

सामान्य जनता के लिए इन दोनों भाषाओं में थोड़ा-सा साहित्य विद्यमान था। प्रेम और भक्ति के गीत, कहावतें और लोकगीत मातृभाषा में पाए जाते थे। बौद्ध तथा हिंदू धर्म के उपदेशक जनता में प्रचार करने के लिए जो रचनाएँ तैयार करते थे वे प्रायः पुरानी बँगला तथा नागर अपभ्रंश, दोनों में होती थीं।

पुरातन बँगला की उपलब्ध रचनाओं में 47 चर्यापद विशेष महत्त्व के हैं। ये प्रायः आठ (या कुछ अधिक) पंक्तियों के रहस्यमय गीत हैं जिनका संबंध महायान बौद्धधर्म तथा नाथपंथ, दोनों से संबद्ध गुप्त संप्रदाय से है। इनका सामान्य बाहरी अर्थ तो प्रायः यों ही समझ में आ जाता है और गूढ़ अर्थ भी साथ की संस्कृत टीका की सहायता से, जो इस संग्रह के साथ ही श्री हरप्रसाद शास्त्री को प्राप्त हुई थी, समझा जा सकता है। इन गीतों या पद्यों में "कविता" नाम की चीज तो नहीं है किंतु जीवन की एकाध झलक अवश्य किसी किसी में देख पड़ती है। इससे मिलती-जुलती कुछ अन्य पद्यात्मक रचनाएँ नेपाल से भी डॉ. प्रबोधचंद्र बागची तथा राहुल सांकृत्यायन आदि को प्राप्त हुई थीं'।

12वीं शताब्दी के अंत तक पुरातन बँगला में यथेष्ट साहित्य तैयार हो चुका था जिससे उस समय के एक बंगाली कवि ने यह गर्वोक्ति की थी "लोग जैसा गंगा में स्नान करने से पवित्र हो जाते हैं, वैसे ही वे 'बंगाल वाणी' में स्नात होकर पवित्र हो सकते हैं।" किंतु दुर्भाग्यवश उक्त 47 चर्यापदों तथा थोड़े से गीतों या पदों के सिवा उस काल की अन्य बहुत ही कम रचनाएँ आज उपलब्ध हैं।

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव बंगाल के हिंदू राजा लक्ष्मण सेन (लगभग 1180 ई.) के शासनकाल में विद्यमान थे। राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन करनेवाले इस सुन्दर काव्य में 24 गीत हैं, जो अतुकान्त न होकर, सबके सब तुकान्त हैं। संस्कृत में प्रायः तुकान्त नहीं मिलता। यह तो अपभ्रंश या नवोदित भारतीय-आर्य भाषाओं की विशेषता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इन पदों की रचना मूलतः पुरानी बँगला में या अपभ्रंश में की गई थी और फिर उनमें थोड़ा परिवर्तन कर संस्कृत के अनुरूप बना दिया गया। इस तरह जयदेव पुरातन बंगाल के प्रसिद्ध कवि माने जा सकते हैं जिन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त संभवतः पुरानी बँगला में भी रचना की। जो हो, बंगाल के कितने ही परगामी कवियों को उनसे प्रेरणा मिली, इसमें संदेह नहीं।

मध्यकालीन बँगला साहित्य (1200 से 1800 ई. तक)

पुरानी बँगला में कोई बड़ा प्रबंध काव्य रचा गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय ऐसी रचनाएँ बंगाल में भी प्रायः अपभ्रंश में ही होती थीं। जो हो, मिथिला (बिहार) के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने जब प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य (कीर्तिलता) की रचना की (लगभग 1410 ई.) तब उन्होंने भी इसका प्रणयन अपनी मातृभाषा मैथिली में न कर अपभ्रंश में ही किया, यद्यपि

बीच-बीच में इसमें मैथिल शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 15वीं शती तथा विशेष रूप से 16वीं शती से ही बड़े प्रबंध काव्यों एवं वर्णनात्मक रचनाओं का निर्माण प्रारंभ हुआ, उदाहरणार्य आदर्श नारी बिहुला और उसके पति लखीधर की कथा, कालकेतु और फुल्लरा का कथानक, इत्यादि।

संक्रमणकालीन साहित्य (1200-1350)

इस समय की साहित्यिक रचनाओं के कोई विशिष्ट प्रामाणिक ग्रंथ नहीं बताए जा सकते। पुराने गायकों और लोकगीतकारों में बिहुला आदि की जो कथाएँ प्रचलित थीं, उन्हीं के आधार पर कुछ अज्ञात कवियों ने रचनाएँ प्रस्तुत की जिन्हें बँगला के प्रारंभिक प्रबंध काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इसी अवधि में बँगला भाषी मुसलिम आबादी का उद्‌भव हुआ और उसमें क्रमशः वृद्धि होती गई। तुर्क आक्रमणकारियों में से बहुतों ने बंगाल की स्त्रियों से ही विवाह कर लिया और धीरे-धीरे "यहाँ की भाषा, रहन सहन आदि को" अपना लिया। तुर्की को वे भूल ही गए और अरबी केवल धर्म-कर्म की भाषा रह गई। बंगाल में हिंदू जमींदारों और सामंतों की ही व्यवस्था अभी प्रचलित थी, फलतः मुसलिम विचारों और पद्धतियों का जनजीवन पर अभी दृष्टिगोचर होने योग्य विशेष प्रभाव नहीं पड़ने पाया था।

प्रारम्भ का मध्यकालीन साहित्य (1350 से 1607 तक)

कुछ काल के अनंतर बंगाल में शांति स्थापित होने पर जब फिर संस्कृत के अध्ययन, प्रचार आदि की सुविधा प्राप्त हुई तब शिक्षा और साहित्य का मानो प्राथमिक पुनर्जागरण प्रारंभ हुआ। माध्यमिक बँगला के प्रथम महाकवि, जिनके संबंध में हमे कुछ जानकारी है, संभवतः कृत्तिवास ओझा थे (जन्म लगभग 1399 ई.)। संस्कृत रामायण को बँगला में प्रस्तुत करनेवाले (लगभग 1418 ई) वे पहले लोकप्रिय कवि थे जिन्होंने राम का चित्रण वाल्मीकि की तरह शुद्ध मानव और वीर पुरुष के रूप में न कर भगवान के करुणामय अवतार के रूप में किया जिसकी ओर सीधी सादी भक्तिमय जनता का हृदय सहज भाव से आकर्षित हो सकता था। इसी तरह कृष्णागाथा का वर्णन उसी शताब्दी में (1475 ई.) मालाधर बसु ने किया। यह भागवत पुराण पर आधारित है।

बिहुला की कथा, जो विवाह की प्रथम रात्रि में ही मनसा देवी द्वारा प्रेषित सर्प के द्वारा पति के डसे जाने पर विधवा हो गई थी और जिसने बड़ी-बड़ी

कठिनाइयाँ झेलकर देवताओं को तथा मनसा देवी को भी प्रसन्न कर पति को पुन: जीवित करा लेने में सफलता प्राप्त की थी, पतिव्रता नारी के प्रेम और साहस की वह अपूर्व परिकल्पना है जिसका आविर्भाव कभी किसी भारतीय मस्तिष्क में हुआ हो। यह कथा शायद मुसलमानों के आगमन के पहले से ही प्रचलित थी किंतु उसपर आधारित प्रथम कथाकाव्य बँगला में 15वीं शती में रचे गए। इनमें से एक के रचयिता विजयगुप्त और दूसरी के विप्रदास पिपलाई माने जाते हैं।

पूर्वमाध्यमिक बँगला के एक प्रसिद्ध कवि चंडीदास माने जाते हैं। इनके नाम से कोई 1200 पद या कविताएँ प्रचलित हैं। उनकी भाषा, शैली आदि में इतना अंतर है कि वे एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं जान पड़तीं। ऐसा प्रतीत होता है कि माध्यमिक बँगला में इस नाम के कम से कम तीन कवि हुए। पहले चंडीदास (अनंत बडु चंडीदास) श्रीकृष्णकीर्तन के प्रणेता थे जो चैतन्य के पहले, लगभग 1400 ई. में, विद्यमान थे। दूसरे चंडीदास द्विज चंडीदास थे जो चैतन्य के बाद में या उत्तर काल में हुए। इन्होंने ही राधा कृष्ण के प्रेमविषयक उन अधिकांश गीतों की रचना की जिनसे चंडीदास को इतनी लोकप्रसिद्धि प्राप्त हुई। तीसरे चंडीदास दीन चंडीदास हुए जो संग्रह के तीन-चौथाई भाग के रचयिता प्रतीत होते हैं। चंडीदास की कीर्ति के मुख्य आधार प्रथम दो चंडीदास ही थे, इसमें संदेह नहीं जान पड़ता।

15वीं शताब्दी में बंगाल पर तुर्क तथा पठान सुलतानों का शासन था पर उनमें यथेष्ट बंगालीपन आ गया था और वे बँगला साहित्य के समर्थक बन गए थे। ऐसा एक शासक हुसेनशाह था (1493-1519)। उसने चटगाँव के अपने सूबेदारों और पुत्र नासिरुद्दीन नसरत के द्वारा महाभारत का अनुवाद बँगला में करवाया। यह रचना "पांडवविजय" के नाम से कवींद्र द्वारा प्रस्तुत की गई थी।

इसी समय प्रसिद्ध वैष्णव कवि चैतन्य का आविर्भाव हुआ (1486-1533)। समसामयिक कवियों और विचारकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। उनके आविर्भाव और मृत्यु के उपरांत संतों तथा भक्तों के जीवनचरित्रों के निर्माण की परंपरा चल पड़ी। इनमें से कुछ ये हैं-वृंदावनदास कृत चैतन्यभागवत (लग. 1573), लोचनदास कृत चैतन्यमंगल, जयानंद का चैतन्यमंगल तथा कृष्णदास कविरत्न का चैतन्यचरितामृत (लग. 1581)। कृष्ण और राधा के दिव्य प्रेम संबंधी बहुत से गीत और पद भी इस समय रचे गए। बंगाल के इस वैष्णव गीत साहित्य पर मिथिला के विद्यापति का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

इसी समय के लगभग बँगला पर "ब्रजबुलि" का भी प्रभाव पड़ा। मिथिला का राज्य मुसलिम आक्रमणों से प्रायः अछूता रहा। बंगाल के कितने ही शिक्षार्थी स्मृति, न्याय, दर्शन आदि का अध्ययन करने वहाँ जाया करते थे। मिथिला के संस्कृत के विद्वान् अपनी मातृभाषा में भी रचना करते थे। स्वयं विद्यापति ने संस्कृत में ग्रंथरचना की किंतु मैथिली में भी उन्होंने बहुत सुंदर प्रेमगीतों का निर्माण किया। उनके ये गीत बंगाल में बड़े लोकप्रिय हुए और उनके अनुकरण में यहाँ भी रचना होने लगी। बंकिमचंद्र तथा रवींद्रनाथ ठाकुर तक ने इस तरह के गीतों की रचना की।

वैष्णव प्रेमगीतकार के रूप में जयदेव कवि की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। उनके बाद बडुचंडीदास तथा चैतन्य के अनुयायी आते हैं। इनमें उड़ीसा के एक क्षत्रप रामानंद थे जिन्होंने संस्कृत में भी रचना की। गोविंददास कविराज (1512-1) ने ब्रजबुलि में कितने ही सुंदर गीत प्रस्तुत किए। बर्दवान जिले के कविरंजन विद्यापति ने भी ब्रजवुलि में प्रेमगीत लिखे जिनके कारण वे "छोटे विद्यापति" के नाम से प्रसिद्ध हुए। 16वीं शती के दो कवियों ने कालकेतु और उसकी स्त्री फुल्लरा तथा धनपति और उसके पुत्र श्रीमंत के आख्यान की रचना की जिसमें चंडी या दुर्गादेवी की महिमा वर्णित की गई। कविकंकण मुकुंददास चक्रवर्ती ने चंडीकाव्य बनाया जो आज भी लोकप्रिय है। इसमें तत्कालीन बँगला जीवन की अच्छी झलक देख पड़ती है। पद्यलेखक होते हुए भी वे एक तरह से बंकिमचंद्र तथा शरच्चंद्र चटर्जी के पूर्वज माने जा सकते हैं।

उत्तरकालीन माध्यमिक बांग्ला साहित्य (1600-1800)

वैष्णव गीतकारों तथा जीवनी लेखकों की परंपरा 17वीं शती में चलती रही। जीवनीलेखकों में ईशान नागर (1564) और नित्यानंद (1600 ई.) के बाद यदुनंदनदास (कर्णानंद के लेखक, 1607), राजवल्लभ (कृति मुरलीविलास), मनोहरदास (1652, कृति "अनुरागवल्ली") तथा घनश्याम चक्रवर्ती (कृति, भक्तिरत्नाकर तथा नरोत्तमविलास) का नाम लिया जा सकता है। गीतलेखकों की संख्या 200 से अधिक है। वैष्णव विद्वानों तथा कवियों ने इनके कई संग्रह तैयार किए थे जिनमें से वैष्णवदास (1770 ई.) का "पदकल्पतरु" विशेष प्रसिद्ध है। इसमें 170 कवियों द्वारा रचित 3101 पद आए हैं।

इसी समय कुछ धार्मिक ढंग की कथाएँ भी लिखी गईं। इनमें रूपराम कृत धर्ममंगल विशेष प्रसिद्ध है जिसमें लाऊसैन के साहसिक कार्यों का वर्णन है। इस

कथा के ढंग पर मानिक गांगुलि तथा घनराम चक्रवर्ती ने भी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। एक और कथानक जिसके आधार पर 17वीं, 18वीं शती में रचनाएँ प्रस्तुत की गईं, राजा गोपीचंद का है। वे राजा मानिकचंद्र के पुत्र थे। जब वे गद्दी पर बैठे तो उनकी माता मयनामती को पता चला कि उनके पुत्र को राजपाट तथा स्त्री का परित्याग कर योगी बन जाना चाहिए, नहीं तो उनकी अकालमृत्यु की संभावना है। अत: माता के आदेश से उन्हें ऐसा ही करना पड़ा। भवानीदासकृत "मयनामतिर गान" तथा दुर्लभ मलिक की रचना "गोविंदचंद्र गीत" इसी कथानक पर आधारित हैं।

बिहुला की कथा पर 18वीं शती में भी प्रबंध काव्य वंशीदास, केतकादास तथा क्षेमानंद इत्यादि द्वारा-रचे गए। आल्हा के ढंग पर कुछ वीरकाव्य या गाथाकाव्य भी 17वीं शती में रचे गए। इनका एक संग्रह अंग्रेजी अनुवाद सहित दिनेशचंद्र सेन ने तैयार किया जो कलकत्ता वि. विद्यालय द्वारा प्रकाशित किया गया। इसी समय बंगाली मुसलमान लेखकों ने अरबी और फारसी की प्रेम तथा धर्म कथाएँ बंगला में प्रस्तुत करने का प्रयत्न आरंभ किया।

इन कवियों ने उस समय के उपलब्ध बँगला साहित्य का ही अध्ययन नहीं किया वरन् संस्कृत, अरबी तथा फारसी के ग्रंथों का भी अनुशीलन किया। उन्होंने अवधी या कोशली से मिलती जुलती एक और भाषा-गोहारी या गोआरी-भी सीखी। इसी तरह पूर्वी हिंदी के क्षेत्र से जो सूफी मुसलमान पूर्वी बंगाल पहुँचे, वे अपने साथ नागरी वर्णमाला भी लेते गए। सिलहट के मुसलमान कवि बहुत दिनों तक इसी सिलेटी नागरी लिपि में बँगला लिखते रहे। उस समय के कुछ मुसलमान कवि ये हैं-

दौलत काजी, जिसने "लोरचंदा" या "सती मैना" शीर्षक प्रेमकाव्य लिखा, कुरेशी मागन ठाकुर जिसने "चंद्रावती" की रचना की, मुहम्मद खाँ, जिसकी दो रचनाएँ (मौतुलहुसेन तथा केयामतनामा) प्रसिद्ध हैं, तथा अब्दुल नबी जिसने बड़ी सुंदर शैली में "आमीर हामजा" का प्रणयन किया। इनके सिवा 17वीं शती के एक और प्रसिद्ध मुसलिम कवि आलाओल हैं जिनकी कृति "पद्मावती" (1651) यथेष्ट लोकप्रिय रही। यह हिंदी कवि मलिक मुहम्मद जायसी की इसी नाम की रचना का रूपांतर है। इनकी अन्य रचनाएँ हैं-सैफुल मुल्क बदीउज्जमाँ (सहस्ररजनीचरित्र के आधार पर रचित प्रेमकाव्य), हफ्त पैकार, सिकंदरनामा तथा तोहफा।

17वीं शती के तीन हिंदू कवियों - काशीरामदास, जिन्होंने महाभारत का अनुवाद बँगला पद्य में किया, उनके बड़े भाई कृष्णकिंकर, जिन्होंने श्रीकृष्णविलास बनाया, तथा जगन्नाथमंगल के लेखक गदाधर।

18वीं शती के कुछ प्रसिद्ध कवि ये हैं - रामप्रसाद सेन (मृत्यु 1775) जिनके दुर्गा संबंधी गीत आज भी लोकप्रिय हैं, भारतचंद्र, जिनका "अन्नदामंगल" (या कालिकामंगल) काव्य बँगला की एक परिष्कृत रचना है, राजा जयनारायण, जिन्होंने पद्मपुराण के काशीखंड का बँगला में अनुवाद किया और उस समय के बनारस का बहुत ही मनोरंजक विवरण उसमें समाविष्ट कर दिया। इस काल में हलके-फुलके गीतों तथा समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गए सद्यः प्रस्तुत पद्यों का काफी जोर रहा। कुछ मुसलमान कवियों ने मुहर्रम तथा कर्बला के संबंध में रचनाएँ प्रस्तुत कीं (मुहर्रम पर्व या जंगनामा हायत मुहम्मद, नसरुल्ला खाँ तथा याकूब अली द्वारा रचित)। लैला मजनू पर दौलत वजीर बहराम ने लिखा और मुहम्मद साहब के जीवन पर भी ग्रंथ प्रस्तुत किए गए।

बँगला गद्य के कुछ नमूने सन् 1550 के बाद पत्रों तथा दस्तावेजों के रूप में उपलब्ध हैं। कैथलिक धर्म संबंधी कई रचनाएँ पोर्तगाली तथा अन्य पादरियों द्वारा प्रस्तुत की गईं और 1778 में नथेनियल ब्रासी हलहद ने बंगला व्याकरण तैयार कर प्रकाशित किया। 1799 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद बाइबिल के अनुवाद तथा बँगला गद्य में अन्य ग्रंथ तैयार कराने का उपक्रम किया गया।

आधुनिक बँगला साहित्य (1800 से 1950 तक)

19वीं सदी में अंग्रेजी भाषा के प्रसार और संस्कृत के नवीन अध्ययन से बँगला के लेखकों में नए जागरण और उत्साह की लहर सी दौड़ गई। एक ओर जहाँ कंपनी सरकार के अधिकारी बँगला सीखने के इच्छुक अंग्रेज कर्मचारियों के लिए बँगला की पाठ्यपुस्तकें तैयार करा रहे थे और बेपतिस्त मिशन के पादरी कृत्तिवासीय रामायण का प्रकाशन तथा बाइबिल आदि का बँगला अनुवाद प्रस्तुत कराने का प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर बंगाली लेखक भी गद्य-ग्रंथलेखन की ओर ध्यान देने लगे थे। रामराम बसु ने राजा प्रतापादित्य की जीवनी लिखी और मृत्युजंय विद्यालंकार ने बँगला में "पुरुष परीक्षा" लिखी। 1818 में "समाचारदर्पण" नामक साप्ताहिक के प्रकाशन से बँगला पत्रकारिता की भी नींव पड़ी।

राजा राममोहन राय ने भारतीयों के "आधुनिक" बनने पर बल दिया। उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उन्होंने कतिपय उपनिषदों का बँगला अनुवाद तैयार किया। अंग्रेजी में बँगला व्याकरण (1826) लिखा और अपने धार्मिक तथा सामाजिक विचारों के प्रचारार्थ बँगला और अंग्रेजी, दोनों में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। इसी समय राजा राधाकांत देव ने "शब्दकल्पद्रुम" नामक संस्कृत कोष तैयार किया और भवानीचरण बनर्जी ने कलकतिया समाज पर व्यंग्यात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

प्रारंभिक गद्यलेखकों की भाषा, प्रचलित संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण, कुछ कठिन थी किंतु 1850 के लगभग अधिक सरल और प्रभावपूर्ण शैली का प्रचलन आरंभ हो गया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, प्यारीचंद मित्र आदि का इसमें विशेष हाथ था। विद्यासागर ने अंग्रेजी तथा संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद बँगला में किया और गद्य की सुंदर, सरल शैली का विकास किया। प्यारीचंद मित्र ने "आलालेर घरेर दुलाल" नामक सामाजिक उपन्यास लिखा (1858)। अक्षयकुमार दत्त ने विविध विषयों पर कई निबंध लिखे। अन्य गद्यलेखक थे - राजनारायण बसु, ताराशंकर तर्करत्न (जिन्होंने "कादंबरी" का संक्षिप्त रूपांतर बँगला में प्रस्तुत किया) तथा तारकनाथ गांगुलि (जिन्होंने प्रथम यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास "स्वर्णलता" प्रकाशित किया)।

माइकेल मधुसूदन दत्त को हम उस समय के "युवक बंगाल" का प्रतिनिधि मान सकते हैं जिसके हृदय में अन्य युवकों की तरह आत्मविकास तथा आत्माभिव्यक्ति का बहुत सीमित अवकाश ही हिंदू समाज में मिलने के कारण एक प्रकार का असंतोष सा व्याप्त हो उठा था। इसका एक विशेष कारण उनका अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी साहित्य के संपर्क में आना था। ईसाई धर्म में अभिषिक्त होने के बाद मधुसूदन ने पहले अंग्रेजी में, फिर बँगला में लिखना आरंभ किया। उन्होंने भारतीय विषयों पर ही लेखनी चलाई पर उन्हें युरोपीय ढंग पर सँवारा, सजाया। उनकी मुख्य रचनाएँ हैं - मेघनादवध काव्य, वीरांगना काव्य तथा व्रजांगना काव्य। उन्होंने बँगला में अनुप्रासहीन कविता का प्रचलन किया और इटैलियन सोनेट की तरह चतुर्दशपदियों की भी रचना की।

बंकिमचंद्र चट्टोपध्याय रवींद्रनाथ ठाकुर के आगमन के पूर्व बँगला के सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते हैं। उनका साहित्यिक जीवन अंग्रेजी में लिखित "राजमोहन की स्त्री" नामक उपन्यास (1864) से आरंभ होता है। बँगला में पहला उपन्यास उन्होंने दुर्गेशनंदिनी (1865) के नाम से लिखा। इसके बाद

उन्होंने एक दर्जन से अधिक सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनके कारण बँगला साहित्य में उन्हें स्थायी स्थान प्राप्त हो गया और आधुनिक भारत के विचारशील लेखकों तथा चिंतकों में उनकी गणना होने लगी। 1872 में उन्होंने "बंगदर्शन" नामक साहित्यिक पत्र निकाला जिसने बँगला साहित्य को नया मोड़ दिया। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में राजसिंह, सीताराम, तथा चंद्रशेखर मुख्य हैं। सामाजिक उपन्यासों में "विषवृक्ष" तथा "कृष्णकांतेर विल" का स्थान ऊँचा है। उनका "कपालकुंडला" शुद्ध प्रेम और कल्पना का उत्कृष्ट नमूना माना जा सकता है। "आनंदमठ" प्रसिद्ध राजनीतिक उपन्यास है जिसका "वंदेमातरम्" गीत चिरकाल तक भारत का राष्ट्रीयगान माना जाता रहा और आज भी इस रूप में इसका समादर है। उनके उपन्यासों तथा अन्य रचनाओं का भारत की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

एक और प्रसिद्ध व्यक्ति जिसे भारत के पुनर्जागरण में मुख्य स्थान प्राप्त हैं, स्वामी विवेकानंद हैं। भारत की गरीब जनता (दरिद्रनारायण) की सेवा ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने अमरीका और यूरोप जाकर अपने प्रभावकारी भाषणों द्वारा हिंदू धर्म का ऐसा विशद विवेचन उपस्थित किया कि उसे पश्चिमी देशों में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। बँगला तथा अंग्रेजी, दोनों के वे प्रभावशील लेखक थे। रंगलाल बंद्योपाध्याय ने राजपूतों की वीरगाथाओं के आधार पर "पद्मिनी" (1858), कर्मदेवी (1862) तथा सूरसुंदरी (1868) की रचना की। कालिदास के "कुमारसंभव" का बँगला अनुवाद भी उन्होंने प्रस्तुत किया।

बँगला नाटकों का उदय 1870 के आसपास माना जा सकता हैं, यद्यपि इसके पहले भी इस दिशा में कुछ प्रयास किया जा चुका था। बंगाल में पहले एक तरह के धार्मिक नाटक प्रचलित थे जिन्हें "यात्रा" नाटक कहते थे। इनमें दृश्य और परदे नहीं होते थे, गायन और वाद्य की प्रधानता होती थी। एक रूसी नागरिक जेरासिम लेबेडेव ने 1795 में कलकत्ता आकर बँगला की प्रथम नाट्यशाला स्थापित की, जो चली नहीं। संस्कृत नाटकों के सिवा अंग्रेजी नाटकों तथा कलकत्ते में स्थापित अंग्रेजी रंगमंच से बँगला लेखकों को प्रेरणा मिली। दीनबंधु मित्र ने कई सुखांत नाटक लिखे। उनके एक नाटक नीलदर्पण (1860) में निलहे गोरों के उत्पीड़न का मार्मिक चित्रण हुआ था जिससे इस प्रथा की बुराइयाँ दूर करने में सहायता मिली।

राजा राजेंद्रलाल मित्र (1822-91) इतिहास लेखक और प्रथम बंगाली पुरातत्वज्ञ थे। भूदेव मुखोपाध्याय (1825-94) शिक्षाशास्त्री, गद्यलेखक और

पत्रकार थे। समाज और संस्कृति के संरक्षण तथा पुनरुद्धार संबंधी उनके लेखों का आज भी यथेष्ट महत्त्व है। कालीप्रसन्न सिंह कट्टर हिंदू समाज के एक और प्रगतिशील लेखक थे। उन्होंने महाभारत का बँगला गद्य में तथा संस्कृत के दो नाटकों का भी अनुवाद किया। उन्होंने कलकत्ते की बोलचाल की बँगला में "हुतोम पेंचार नक्शा" नामक रचना प्रस्तुत की जिसमें उस समय के कलकतिया समाज का अच्छा चित्रण किया गया था। बँगला के प्रतिष्ठित साहित्य में इसकी गणना है। हेमचंद बंदोपाध्याय (1838-1903) ने शेक्सयिर के दो नाटकों 'रोमियों और जूलियट' तथा 'टेंपेस्ट' का बँगला में अनुवाद किया। मेघनादवध से प्रोत्साहित होकर उन्होंने "वृत्तसंहार" नामक महाकाव्य की रचना की। नवीनचंद्र सेन (1847- 1909) ने कुरुक्षेत्र, रैवतक तथा प्रभास नाटक बनाए तथा बुद्ध, ईसा और चैतन्य के जीवन पर अमिताभ, ख्रीष्ट तथा अमृताभ नामक लंबी कविताएँ लिखीं। पलासीर युद्ध तथा रंगमती और भानुमती के भी लेखक वही थे। पाँच खंडों में अपनी जीवनी "आमार जीवन" भी उन्होंने लिखी।

रवींद्रानाथ ठाकुर के सबसे बड़े भाई द्विजेंद्रनाथ ठाकुर (1840-1926) कवि, संगीतज्ञ तथा दर्शनशास्त्री थे। उनकी प्रसिद्ध रचना "स्वप्नप्रयाण" है। रवींद्रनाथ के एक और बड़े भाई ज्योतींद्रनाथ ठाकुर थे। उनके लिखे चार नाटक बड़े लोकप्रिय थे - पुरुविक्रम, सरोजिनी, आशुमती तथा स्वप्नमयी। उन्होंने फ्रेंच भाषा, अंग्रेजी तथा मराठी से भी कई ग्रंथों का अनुवाद किया।

रमेशचंद्र दत्त ने ऋग्वेद का बँगला अनुवाद किया। भारतीय अर्थशास्त्र के भी वे लेखक थे और उन्होंने कई उपन्यास भी लिखे- 1. राजपूत जीवनसंध्या, 2. महाराष्ट्र जीवनसंध्या, 3. माधवी कंकण, 4. संसार, तथा 5. समाज। इनके समसामयिक गिरीशचंद्र घोष बँगला के महान नाटककार थे। उन्होंने 90 नाटक, प्रहसन आदि लिखे, जिनमें से कुछ ये हैं - बिल्वमंगल, प्रफुल्ल, पांडव गौरव, बुद्धदेवचरित, चैतन्य लीला, सिराजुद्दौला, अशोक, हारानिधि, शंकराचार्य, शास्ति की शांति। शेक्सपियर के मेकबेथ नाटक का बँगला अनुवाद भी उन्होंने किया। अमृतलाल बसु भी गिरीशचंद्र घोष की तरह अभिनेता नाटककार थे। हास्य रस से पूर्ण उनके नाटक तथा प्रहसन बँगला भाषियों में काफी लोकप्रिय हैं। वे बंगाल के मोलिए कहलाते थे, जिस तरह गिरीशचंद्र बंगाली शेक्सपियर माने जाते थे।

हास्यरस के दो और बँगला लेखक इस समय हुए - त्रैलोक्यनाथ मुखेपाध्याय (1847-1919), उपन्यासकार तथा लघुकथा लेखक और इंद्रनाथ बंदोपाध्याय (1849-1911), निबंधलेखक तथा व्यंग्यकार।

संस्कृत और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् हरप्रसाद शास्त्री (1853-1931) का उल्लेख पहले 47 चर्यापद के सिलसिले में किया जा चुका है। वे उपन्यासकार और अच्छे निबंधलेखक भी थे। उनके दो उपन्यास हैं- "बेणेर मेये" तथा "कांचनमाला"। भारतीय साहित्य, धर्म तथा सभ्यता के संबंध में उनके लेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनका लिखा "वाल्मीकिर जय" नामक गद्यकाव्य बड़ी सुन्दर और प्रभावोत्पादक बँगला में लिखा गया है।

राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत 1857 के आसपास हो चुकी थी। 1885 में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना से इसे बल मिला और 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा किए गए बंगाल के विभाजन ने इसमें आग फूँक दी। स्वदेशी का जोर बढ़ा और भाषा तथा साहित्य पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। सन् 1913 में रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार मिलने से बंगाल तथा भारत में राष्ट्रीय भावना की प्रबलता बढ़ गई और बँगला साहित्य में एक नए युग का आरंभ हुआ जिसे हम "रवींद्रनाथ युग" की संज्ञा दे सकते हैं।

रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941) में महान लेखक होने के लक्षण शुरू से ही देख पड़ने लगे थे। क्या कविता और क्या नाटक, उपन्यास और लघु कथा, निबंध और आलोचना, सभी में उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने नया चमत्कार उत्पन्न कर दिया। उनके विचारों और शैली ने बँगला साहित्य को मानो नया मोड़ दे दिया। व्यापक दृष्टि और गहरी भावना से संपृक्त उत्कृष्ट सौंदर्य तथा अज्ञात की रहस्यमय अनुभूति उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर अभिव्यक्त होती देख पड़ती हैं। गीत रचनाकार के रूप में वे अद्वितीय हैं। प्रेम, प्रकृति, ईश्वर और मानव पर लिखे गए उनके गीतों की संख्या 200 से ऊपर है। ये गीत परमात्म और आधिदैविक शक्ति की रहस्यमय भावना से ओतप्रोत हैं, इस कारण संसार के महान रहस्यवादी लेखकों में उनकी गणना की जाती है। उनके निबंध स्वस्थ चिंतन एव सुस्पष्ट विवेचन के लिए प्रसिद्ध हैं। वे बुद्धिपरक भी हैं तथा कल्पनाप्रधान भी, याथार्थिक भी हैं और काव्यमय भी। उनके उपन्यास तथा लघुकथाएँ तथ्यात्मक, नाटकीयता पूर्ण एवं अंर्तदृष्टि प्रेरक हैं। वे अंतरराष्ट्रीयता एवं मानव एकता के बराबर समर्थक रहे हैं। उन्होंने अथक रूप से इस बात का प्रयत्न किया कि भारत अपनी गौरवपूर्ण प्राचीन बातों की रक्षा करते हुए भी विश्व के अन्य देशों से एकता स्थापित करने के लिए तत्पर रहे।

रवींद्रनाथ के समसामयिक लेखकों में कितने ही विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके नाम हैं-

1. गोर्विंदचंद्रदास, कवि,
2. देवेंद्रनाथ सेन, कवि,
3. अक्षयकुमार बड़ाल, कवि,
4. श्रीमती कामिनी राय, कवयित्री,
5. श्रीमती सुवर्णकुमारी देवी, कवयित्री,
6. अक्षयकुमार मैत्रेय, इतिहासलेखक,
7. रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी, निबंधलेखक, वैज्ञानिक एवं दर्शनशास्त्री,
8. प्रभातकुमार मुखर्जी, उपन्यासकार तथा लघुकथा लेखक,
9. द्विजेंद्रलाल राय, कवि तथा नाटककार,
10. क्षीरोदचंद्र विद्याविनोद, लगभग 50 नाटकों के प्रणेता,
11. राखालदास वंद्योपाध्याय, इतिहासकार और ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक,
12. रामानंद चटर्जी, सुप्रसिद्ध पत्रकार जिन्होंने 40 वर्ष तक माडर्न रिव्यू तथा बँगला प्रवासी का संपादन किया,
13. जलधर सेन, उपन्यासलेखक तथा पत्रकार,
14. श्रीमती निरुपमा देवी तथा
15. श्रीमती अनुरूपा देवी, सामाजिक उपन्यासों की लेखिका।

आधुनिक बँगला के सर्वप्रसिद्ध उपन्यासकार शरच्चंद्र चटर्जी (1876–1938) माने जाते हैं। सरल और सुंदर भाषा में लिखे गए इनके कुछ उपन्यास ये हैं – श्रीकांत, गृहदाह, पल्ली समाज, देना पावना, देवदास, चंद्रनाथ, चरित्रहीन, शेष प्रश्न आदि।

यद्यपि समस्त बँगाल प्रदेश में परिनिष्ठ बँगला का ही साहित्य में विशेष प्रयोग होता है फिर भी बहुत से ग्रंथ कलकत्ता तथा आसपास की बोलचाल की भाषा में लिखे गए हैं तथा लिखे जा रहे हैं। उपन्यासों में रंगमंच पर तथा रेडियो और सिनेमा में उसका प्रयोग बहुलता से होता है। पिछले 30–35 वर्ष में, रवींद्रयुग की प्रधानता होते हुए भी, कितने ही युवक लेखकों ने नग्न यथार्थवाद के पथ पर चलने का प्रयत्न किया, यद्यपि इसमें अब यथेष्ट शिथिलता आ गई है। इसके बाद कुछ लेखकों में समाजवाद तथा साम्यवाद (कम्यूनिज्म) की भी प्रवृत्ति देख पड़ी। इसी तरह अंग्रेजी तथा रूसी साहित्य का भी बहुत कुछ प्रभाव बँगला लेखकों पर पड़ा। किंतु वर्तमान बँगला साहित्य में कथासाहित्य की ही विशेष प्रधानता है, जिसका लक्ष्य मानव जीवन और मानव स्वभाव का सम्यग् रूप से

चित्रण करना ही है। कितने ही लेखक रवींद्र तथा शरद् बाबू की परंपरा पर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ के नाम ये हैं - (कवियों में) जतींद्रमोहन बागची, करुणानिधान बंद्योपाध्याय, कुमुदरंजन मलिक, कालिदास राय, मोहितलाल मजूमदार, श्रीमती राधारानी देवी, अमिय चक्रवर्ती प्रेगेंद्र मित्र, सुधींद्रनाथ दत्त, विमलचंद्र घोष, विष्णु दे इत्यादि। गद्यलेखकों में इनके नाम लिए जा सकते हैं- ताराशंकर बैनर्जी, विभूतिभूषण बैनर्जी (पथेर पांचाली, आरण्यक के लेखक जिन्होंने बंगाल के ग्राम्य जीवन का चित्रण किया है), राजशेखर वसु (हास्य कथालेखक), आनंदशंकर राय, डॉ. बलाईचाँद मुखर्जी, सतीनाथ भादुड़ी, मानिक बैनर्जी, शैलजान मुखर्जी, प्रथमनाथ वसु, नरेंद्र मित्र, गौरीशंकर भट्टाचार्य, समरेश वसु, वाजिद अली, बुद्धदेव, काजी अब्दुल वदूद, नरेंद्रदेव, डॉ. सुकुमार सेन, गोपाल हालदार, श्रीमती शांतादेवी, सीतादेवी, अवधूत, इत्यादि।

यहाँ श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर (1871-1951) का भी उल्लेख कर देना चाहिए। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें बालकों की दृष्टि से लिखीं और उनकी चित्रसज्जा स्वयं प्रस्तुत की। ये पुस्तकें कल्पनात्मक साहित्य के अन्य प्रेमियों के लिए भी अत्यंत रोचक हैं। उन्होंने कुछ छोटे-छोटे नाटक भी लिखे और कला पर कुछ गंभीर निबंध भी प्रकाशित किए। इसी तरह योगी अरविंद घोष का भी नाम यहाँ लिया जाना चाहिए जिनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से बँगला साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायता मिली।

यद्यपि विभाजन के पूर्व कुछ मुसलिम राजनीतिज्ञों की राय थी कि बँगला में मुसलिम भावनाओं से प्रेरित स्वतंत्र मुसलिम साहित्य का विकास होना चाहिए किंतु श्रेष्ठ मुसलिम लेखकों ने भाषा में इस तरह के पार्थक्य की कभी कल्पना नहीं की, भले ही कुछ लेखकों ने अपनी कृतियों में हिंदुओं की अपेक्षा अधिक अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग करना शुरू कर दिया। पुराने मुसलिम कवियों में कैकोवाद अधिक प्रसिद्ध है और उपन्यासलेखकों में मशरफ हुसेन का नाम लिया जा सकता है जिनके जंगनामा की तर्ज पर लिखित "विषाद सिंधु" के एक दर्जन से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। शिक्षित मुसलिम समाज में कितने ही लेखक उपन्यास, कहानी, आलोचना तथा निबंध लिखने में ख्याति प्राप्त कर रहे हैं। उपन्यासकार काजी अब्दुल वदूद का नाम ऊपर लिया जा चुका है। उन्होंने रवींद्र साहित्य पर विवेचनात्मक पुस्तक लिखने के बाद गेटे पर भी एक ग्रंथ दो खंडों में प्रकाशित किया। केंद्रीय सरकार के पूर्वकालीन वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्री हुमायूँ कबीर बँगला के प्रतिभावान् कवि तथा अच्छे गद्यलेखक हैं। कुछ अन्य

मुसलिम लेखकों के नाम ये हैं - (कवि) गुलाम मुस्तफा, अब्दुल कादिर, बंदे अली, फारुख अहमद, एहसान हवीब आदि, (गद्यलेखक) डॉ. मुहम्मद शहीदुल्ला, अवू सैयद अयूब, मुताहर हुसेन चौधरी, श्रीमती शमसुन नहर, अबुल मंसूर अहमद, अबुल फजल, महबूबुल आलम। विभाजन के बाद यद्यपि पाकिस्तान सरकार ने प्रयत्न किया कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान अपनी भाषा अरबी लिपि में लिखने लगें, पर इसमें सफलता नहीं मिली। मुसलिम छात्रों तथा अन्य लोगों ने इस प्रयत्न का तथा बंगालियों पर उर्दू लादने का जोरदार विरोध किया और बंगलादेश का उदय हुआ।

आधुनिक युग के बाद

तीस के दशक में जो कविगण आये वे बांग्ला कविता की जगत में पश्चिमी प्रभाव को पनपने का अवसर दिया और रबिन्द्रनाथ के बाद के कविता को एक नई दिशा दी। उनमें प्रधान थे बुद्धदेब बसु, सुधीन्द्रनाथ दत्त, विष्णु दे, जीवनानंद दास प्रमुख। चालीस के दशक में बामपंन्थी कवियों का बोलबला रहा जिसमें प्रधान थे बीरेन्द्रनाथ चट्टोपध्याय, सुभाष मुखोपाध्याय, कृष्ण धर प्रमुख। पचास के दशक से पत्रिका-केन्द्रित कवियों का आविर्भाव हुया, जैसे कि शतभिषा, कृत्तिबास इत्यादि। शतभिषा के आलोक सरर्का, अलोकरजन दाशगुप्ता प्रमुखों ने नाम कमाये, जबकि कृत्तिबास के सुनील गंगोपाध्याय, शरतकुमार मुखोपाध्याय, तारापदो राय, समरेन्द्र सेनगुप्ता नाम किये। साठ के दशक में शुरू हुये अंदोलनसमूह ने कविता का चरित्र ही बदल डाला। आंदोलन में प्रधान था भूखी पीढ़ी (हंगरी जेनरेशन) जिसके कवि-लेखकों पर बहुत सारे आरोप लगाये गये। भूखी पीढ़ी के सदस्यों ने समाज को ही बदलने का ऐलान कर डाला। उन लोगों के लेखनप्रक्रिया से बंगाली समाज भी खफा हो गये थे। सदस्यों के विरुद्ध मुकदमें दायर हुये एवम आखिरकार मलय राय चौधरी को उनके कविता के चलते कारावास का दण्ड दिया गया था।

7

असमिया भाषा एवं साहित्य

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला में पूर्वी सीमा पर अवस्थित असम की भाषा को असमी, असमिया कहा जाता है। असमिया भारत के असम प्रांत की आधिकारिक भाषा तथा असम में बोली जाने वाली प्रमुख भाषा है। इसको बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ से अधिक है। भाषाई परिवार की दृष्टि से इसका संबंध आर्य भाषा परिवार से है और बांग्ला, मैथिली, उड़िया और नेपाली से इसका निकट का संबंध है।

गियर्सन के वर्गीकरण की दृष्टि से यह बाहरी उपशाखा के पूर्वी समुदाय की भाषा है, पर सुनीतिकुमार चटर्जी के वर्गीकरण में प्राच्य समुदाय में इसका स्थान है। उड़िया तथा बंगला की भांति असमी की भी उत्पत्ति प्राकृत तथा अपभ्रंश से भी हुई है।

यद्यपि असमिया भाषा की उत्पत्ति सत्रहवीं शताब्दी से मानी जाती है किंतु साहित्यिक अभिरुचियों का प्रदर्शन तेरहवीं शताब्दी में रुद्र कंदलि के द्रोण पर्व (महाभारत) तथा माधव कंदलि के रामायण से प्रारंभ हुआ। वैष्णवी आंदोलन ने प्रांतीय साहित्य को बल दिया। शंकर देव (1449-1568) ने अपनी लंबी जीवन-यात्रा में इस आंदोलन को स्वरचित काव्य, नाट्य व गीतों से जीवित रखा।

सीमा की दृष्टि से असमिया क्षेत्र के पश्चिम में बंगला है। अन्य दिशाओं में कई विभिन्न परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से तिब्बती, बर्मी तथा खासी प्रमुख हैं। इन सीमावर्ती भाषाओं का गहरा प्रभाव असमिया की मूल प्रकृति में देखा जा सकता है। अपने प्रदेश में भी असमिया एकमात्र बोली नहीं हैं। यह प्रमुखतः मैदानों की भाषा है।

असमिया एवं बंगला

बहुत दिनों तक असमिया को बंगला की एक उपबोली सिद्ध करने का उपक्रम होता रहा है। असमिया की तुलना में बंगला भाषा और साहित्य के बहुमुखी प्रसार को देखकर ही लोग इस प्रकार की धारणा बनाते रहे हैं। परंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से बंगला और असमिया का समानांतर विकास आसानी से देखा जा सकता है। मागधी अपभ्रंश के एक ही स्रोत से निःसृत होने के कारण दोनों में समानताएँ हो सकती हैं, पर उनके आधार पर एक-दूसरी की बोली सिद्ध नहीं किया जा सकता।

क्षेत्रविस्तार एवं सीमाएँ

क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से असमिया के कई उपरूप मिलते हैं। इनमें से दो मुख्य हैं - पूर्वी रूप और पश्चिमी रूप। साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से पूर्वी रूप को ही मानक माना जाता है। पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी रूप में बोलीगत विभिन्नताएँ अधिक हैं। असमिया के इन दो मुख्य रूपों में ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द समूह, इन तीनों ही दृष्टियों से अंतर मिलते हैं। असमिया के शब्द समूह में संस्कृत तत्सम, तद्भव तथा देशज के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। अनार्य भाषा परिवारों से गृहीत शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। भाषा में सामान्यतः तद्भव शब्दों की प्रधानता है। हिंदी उर्दू के माध्यम से फारसी, अरबी तथा पुर्तगाली और कुछ अन्य यूरोपीय भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं।

शब्दसमूह

भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला में पूर्वी सीमा पर स्थित होने के कारण असमिया कई अनार्य भाषा परिवारों से घिरी हुई है। इस स्तर पर सीमावर्ती भाषा होने के कारण उसके शब्दसमूह में अनार्य भाषाओं के कई स्रोतों के लिए हुए शब्द मिलते हैं। इन स्रोतों में से तीन अपेक्षाकृत अधिक मुख्य हैं–

(1) ऑस्ट्रो-एशियाटिक

(अ) खासी, (आ) कोलारी, (इ) मलायन

(2) तिब्बती-बर्मी-बोडो

(3) थाई-अहोम

शब्दसमूह की इस मिश्रित स्थिति के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि खासी, बोडो तथा थाई तत्व तो असमिया में उधार लिए गए हैं, पर

मलायन और कोलारी तत्वों का मिश्रण इन भाषाओं के मूलाधार के पास्परिक मिश्रण के फलस्वरूप है। अनार्य भाषाओं के प्रभाव को असम के अनेक स्थान नामों में भी देखा जा सकता है। ऑस्ट्रिक, बोडो तथा अहोम के बहुत से स्थान नाम ग्रामों, नगरों तथा नदियों के नामकरण की पृष्ठभूमि में मिलते हैं। अहोम के स्थाननाम प्रमुखत: नदियों को दिए गए नामों में हैं।

लिपि

असमिया लिपि मूलत: ब्राह्मी का ही एक विकसित रूप है। बंगला से उसकी निकट समानता है। लिपि का प्राचीनतम उपलब्ध रूप भास्करवर्मन का 610 ई. का ताम्रपत्र है। परंतु उसके बाद से आधुनिक रूप तक लिपि में "नागरी" के माध्यम से कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं।

इतिहास

असमिया भाषा का व्यवस्थित रूप 13वीं तथा 14वीं शताब्दी से मिलने पर भी उसका पूर्वरूप बौद्ध सिद्धों के "चर्यापद" में देखा जा सकता है। "चर्यापद" का समय विद्वानों ने ईसवी सन् 600 से 1000 के बीच स्थिर किया है। इन दोहों के लेखक सिद्धों में से कुछ का तो कामरूप प्रदेश से घनिष्ठ संबंध था। "चर्यापद" के समय से 12वीं शताब्दी तक असमी भाषा में कई प्रकार के मौखिक साहित्य का सृजन हुआ था। मणिकोंवर-फुलकोंवर-गीत, डाकवचन, तंत्र मंत्र आदि इस मौखिक साहित्य के कुछ रूप हैं। असमिया भाषा का पूर्ववर्ती, अपभ्रंशमिश्रित बोली से भिन्न रूप प्राय: 18वीं शताब्दी से स्पष्ट होता है। भाषागत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए असमिया के विकास के तीन काल माने जा सकते हैं–

प्रारंभिक असमिया

14वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी के अंत तक। इस काल को फिर दो युगों में विभक्त किया जा सकता है–(अ) वैष्णव-पूर्वयुग तथा (आ) वैष्णव। इस युग के सभी लेखकों में भाषा का अपना स्वाभाविक रूप निखर आया है, यद्यपि कुछ प्राचीन प्रभावों से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा में पर्याप्त एकरूपता नहीं मिलती। परंतु असमिया के प्रथम महत्त्वूपर्ण लेखक शंकरदेव (जन्म–1449) की भाषा में ये त्रुटियाँ नहीं मिलती।

वैष्णव-पूर्व-युग की भाषा की अव्यवस्था यहाँ समाप्त हो जाती है। शंकरदेव की रचनाओं में ब्रजबुलि प्रयोगों का बाहुल्य है।

मध्य असमिया

17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक। इस युग में अहोम राजाओं के दरबार की गद्यभाषा का रूप प्रधान है। इन गद्यकर्ताओं को बुरंजी कहा गया है। बुरंजी साहित्य में इतिहास लेखन की प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य से भिन्न है। बुरंजियों की भाषा आधुनिक रूप के अधिक निकट है।

आधुनिक असमिया

19वीं शताब्दी के प्रारंभ से। 1819 ई. में अमरीकी बप्तिस्त पादरियों द्वारा प्रकाशित असमिया गद्य में बाइबिल के अनुवाद से आधुनिक असमिया का काल प्रारंभ होता है। मिशन का केंद्र पूर्वी आसाम में होने के कारण उसकी भाषा में पूर्वी आसाम की बोली को ही आधार माना गया। 1846 ई. में मिशन द्वारा एक मासिक पत्र "अरुणोदय" प्रकाशित किया गया। 1848 में असमिया का प्रथम व्याकरण छपा और 1867 में प्रथम असमिया अंग्रेजी शब्दकोश।

असमिया साहित्य

यद्यपि असमिया भाषा की उत्पत्ति 17वीं शताब्दी से मानी जाती है किंतु साहित्यिक अभिरुचियों का प्रदर्शन 13वीं शताब्दी में कंदलि के द्रोण पर्व (महाभारत) तथा कंदलि के रामायण से प्रारंभ हुआ। वैष्णवी आंदोलन ने प्रांतीय साहित्य को बल दिया। शंकर देव (1449-1568) ने अपनी लंबी जीवन-यात्रा में इस आंदोलन को स्वरचित काव्य, नाट्य व गीतों से जीवित रखा।

असमिया के शिष्ट और लिखित साहित्य का इतिहास पाँच कालों में विभक्त किया जाता है–

(1) वैष्णवपूर्वकाल–1200-1449 ई।
(2) वैष्णवकाल–1449-1650 ई।
(3) गद्य, बुरंजी काल–1650-1926 ई।
(4) आधुनिक काल–1926-1947 ई।
(5) स्वाधीनतोत्तर काल–1947 ई।

वैष्णवपूर्वकाल

अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर हेम सरस्वती और हरिवर विप्र असमिया के प्रारंभिक कवि माने जा सकते हैं। हेम सरस्वती का "प्रह्लादचरित्र" असमिया का प्रथम लिखित ग्रंथ माना जाता है। ये दोनों कवि कमतातुर (पश्चिम कामरूप) के शासक दुर्लभनारायण के आश्रित थे। एक तीसरे प्रसिद्ध कवि कबिरत्न सरस्वती भी थे, जिन्होने "जयद्रथवध" लिखा। परंतु वैष्णवपूर्वकाल के सबसे प्रसिद्ध कवि माधव कन्दली हुए, जिन्होंने राजा महामाणिक्य के आश्रय में रहकर अपनी रचनाएँ कीं। माधव कंदली के रामायण के अनुवाद ने विशेष ख्याति प्राप्त की। संस्कृत शब्दसमूह को असमिया में रूपांरित करना कवि की विशेष कला थी। इस काल की अन्य फुटकर रचनाओं में कुछ गीतिकाव्य उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में तत्कालीन लोकमानस विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ। तंत्र मंत्र, मनसापूजा आदि के विधान इस वर्ग की कृतियों में अधिक चर्चित हुए हैं।

वैष्णवकाल

इस काल की पूर्ववर्ती रचनाओं में विष्णु से संबद्ध कुछ देवताओं को महत्त्व दिया गया था। परंतु आगे चलकर विष्णु की पूजा की विशेष रूप से प्रतिष्ठा हुई। स्थिति के इस परिवर्तन में असमिया के महान कवि और धर्मसुधारक शंकरदेव (1449-1568) ई. का योग सबसे अधिक था। शंकरदेव की अधिकांश रचनाएँ भागवतपुराण पर आधारित हैं और उनके मत को भागवती धर्म कहा जाता है। असमिया जनजीवन और संस्कृति को उसके विशिष्ट रूप में ढालने का श्रेय शंकरदेव को ही दिया जाता है। इसलिए कुछ समीक्षक उनके व्यक्तित्व को केवल कवि के रूप में ही सीमित नहीं करना चाहते। वे मूलत: उन्हें धार्मिक सुधारक के रूप में मानते हैं। शंकरदेव की भक्ति के प्रमुख आश्रय थे श्रीकृष्ण। उनकी लगभग 30 रचनाएँ हैं, जिनमें से "कीर्तनघोष" उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। असमिया साहित्य के प्रसिद्ध नाट्यरूप "अंकीया नाटक" के प्रारंभकर्ता भी शंकरदेव ही हैं। उनके नाटकों में गद्य और पद्य का बराबर मिश्रण मिलता है। इन नाटकों की भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। "अंकीया नाटक" के पद्यांश को "वरगीत" कहा जाता है, जिसकी भाषा प्रमुखत: ब्रजबुलि है।

शंकरदेव के अतिरिक्त इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि उनके शिष्य माधवदेव हुए। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे कवि होने के साथ-साथ संस्कृत के विद्वान्, नाटककार, संगीतकार तथा धर्मप्रचारक भी थे। "नामघोषा" इनकी

विशिष्ट कृति है। शंकरदेव के नाटकों में "चोरधरा" अधिक प्रसिद्ध रचना है। इस युग के अन्य लेखकों में अनंत कंदली, श्रीधर कंदली तथा भट्टदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। असमिया गद्य को स्थिरीकृत करने में भट्टदेव का ऐतिहासिक योग माना जाता है।

बुरंजी, गद्यकाल

आहोम राजाओं के असम में स्थापित हो जाने पर उनके आश्रय में रचित साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति धार्मिक न होकर लौकिक हो गई। राजाओं का यशवर्णन इस काल के कवियों का एक प्रमुख कर्तव्य हो गया। वैसे भी अहोम राजाओं में इतिहासलेखन की परंपरा पहले से ही चली आती थी। कवियों की यशवर्णन की प्रवृत्ति को आश्रयदाता राजाओं ने इस ओर मोड़ दिया। पहले तो अहोम भाषा के इतिहास ग्रंथों (बुरंजियों) का अनुवाद असमिया में किया गया और फिर मौलिक रूप से बुरंजियों का सृजन होने लगा। "बुरंजी" मूलत: एक टाइ शब्द है, जिसका अर्थ है "अज्ञात कथाओं का भांडार"। इन बुरंजियों के माध्यम से असम प्रदेश के मध्ययुग का काफी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। बुरंजी साहित्य के अंतर्गत कामरूप बुरंजी, कछारी बुरंजी, आहोम बुरंजी, जयंतीय बुरंजी, बेलियार बुरंजी के नाम अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं। इन बुरंजी ग्रंथों के अतिरिक्त राजवंशों की विस्तृत वंशावलियाँ भी इस काल में हुई। उपयोगी साहित्य की दृष्टि से इस युग में ज्योतिष, गणित, चिकित्सा आदि विज्ञान संबंधी ग्रंथों का सृजन हुआ। कला तथा नृत्य विषयक पुस्तकें भी लिखी गईं। इस समस्त बहुमुखी साहित्यसृजन के मूल में राज्याश्रय द्वारा पोषित धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस काल में हिंदी के दो सूफी काव्यों (कुतुबन की "मृगावती" तथा मंझन की "मधुमालती") के कथानकों के आधार पर दो असमिया काव्य लिखे गए। पर मूलत: यह युग गद्य के विकास का है।

आधुनिक काल

अन्य अनेक प्रांतीय भाषाओं के साहित्य के समान असमिया में भी आधुनिक काल का प्रारंभ अंग्रेजी शासन के साथ जोड़ा जाता है। 1826 ई. असम में अंग्रेजी शासन के प्रारंभ की तिथि है। इस युग में स्वदेशी भावनाओं के दमन तथा सामाजिक विषमता ने मुख्य रूप से लेखकों को प्ररेणा दी। इधर 1838 ई.

से ही विदेशी मिशनरियों ने भी अपना कार्य प्रारंभ किया और जनता में धर्मप्रचार का माध्यम असमिया को ही बनाया। फलतः असमिया भाषा के विकास में इन मिशनरियों द्वारा परिचालित व्यवस्थित ढंग के मुद्रण तथा प्रकाशन से भी एक स्तर पर सहायता मिली। अंग्रेजी शासन के युग में अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य के अध्ययन मनन से असमिया के लेखक प्रभावित हुए। कुछ पाश्चात्य आदर्श बंगला के माध्यम से भी अपनाए गए। इस युग के प्रारंभिक लेखकों में आनंदराम टेकियाल फुकन का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है। अन्य लेखकों में हेमचंद्र बरुआ, गुणाभिराम बरुआ तथा सत्यनाश बोड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं।

असमिया साहित्य का मूल रूप प्रमुखतः तीन लेखकों द्वारा निर्मित हुआ। ये लेखक थे चंद्रकुमार अग्रवाल (1858-1938), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (1858-1938) तथा हेमचंद्र गोस्वामी (1872-1928)। कलकत्ता में रहकर अध्ययन करते समय इन तीन मित्रों ने 1889 में "जोनाकी" (जुगुनू) नामक मासिक पत्र की स्थापना की। इस पत्रिका को केंद्र बनाकर धीरे-धीरे एक साहित्यिक समुदाय उठ खड़ा हुआ जिसे बाद में जोनाकी समूह कहा गया। इस वर्ग में अधिकांश लेखक अंग्रेजी रोमांटिसिज्म से प्रभावित थे। 20वीं सदी के प्रारंभ के इन लेखकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ बहुमुखी प्रतिभासंपन्न थे। उनका "असमिया साहित्येर चानेकी" नामक संकलन विशेष प्रसिद्ध है। असमिया साहित्य में उन्होंने कहानी तथा ललित निबंध के बीच के एक सहित्य रूप को अधिक प्रचलित किया। बेजबरुआ की हास्यरस की रचनाओं को काफी लोकप्रियता मिली। इसीलिए उसे "रसराज" की उपाधि दी गई। इस युग में अन्य कवियों में कमलाकांत भट्टाचार्य, रघुनाथ चौधरी, नलिनीबाला देवी, अंबिकागिरि रायचौधुरी, फुकन आदि का कृतित्व महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मफिजुद्दीन अहमद की कविताएँ सूफी धर्मसाधना से प्रेरित हैं।

गद्य, विशेष रूप से कथासाहित्य, के क्षेत्र में 19वीं शताब्दी के अंत में दो लेखक पद्यनाथ गोसाई बरुआ तथा रजनीकांत बारदोलाई अपने ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, जोनाकी समुदाय के समानांतर जिन गद्यलेखकों ने साहित्य सृजन किया उनमें से वेणुधर राजखोवा तथा शरच्चंद्र गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शरच्चंद्र गोस्वामी की प्रतिभा वैसे तो बहुमुखी थी, पर उनकी ख्याति प्रमुखतः कहानियों को लेकर है। कहानी के क्षेत्र में लक्ष्मीधर शर्मा, बीना बरुआ, कृष्ण भुयान आदि ने प्रणय संबंधी नए अभिप्रायों के कुछ प्रयोग किए। लक्ष्मीनाथ फुकन अपनी हास्यरस की

कहानियों के लिए स्मरणीय हैं। कथासाहित्य के अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में अतुलचंद्र हजारिका तथा ज्योतिप्रसाद अग्रवाल का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। समीक्षा तथा शोध की दृष्टि से अंबिकानाथ बरा, वाणीकांत काकती, कालीराम मेधी, विरंचि बरुआ तथा डिंबेश्वर नियोग का कृतित्व उल्लेखनीय है।

असमिया साहित्य के आधुनिक काल में पत्र पत्रिकाओं का माध्यम भी काफी प्रचलित हुआ। इनमें से "अरुणोदय", "जोनाकी", "बोली", "आवाहन", "जयंती", तथा "पछोवा" ने विभिन्न क्षेत्रों में काफी उपयोगी कार्य किया है। नए प्रकार का साहित्यसृजन प्रमुखत: "रामधेनु" को केंद्र बनाकर हुआ है।

स्वाधीनतोत्तरकमाल

इस युग में पाश्चात्य प्रभाव अधिक स्वस्थ तथा संतुलित रूप में आए हैं। इलियट तथा उनके सहयोगी अंग्रेजी कवियों से नए असमिया लेखकों को प्रमुखत: प्रेरणा मिली है। केवल कविता में ही नहीं, कथासाहित्य तथा नाटक में भी इन नए प्रयोगों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं का नए लेखकों ने उठाया है। उनके शिल्प संबंधी प्रयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

प्राचीन असम की साहित्य-रुचि-संपन्नता का पता तत्कालीन ताम्रपत्रों से चलता है। इसी प्रकार वहाँ के पुस्तकोत्पादन के संबंध में भी एक प्राचीन उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार कुमार भास्करवर्मन (ईसा की सातवीं शताब्दी) ने अपने मित्र कन्नौज सम्राट् हर्षवर्धन को सुंदर लिपि में लिखी हुई अनेक पुस्तकं भेंट की थीं। इन पुस्तकों में से एक संभवत: तत्कालीन असम में प्रचलित कहावतों तथा मुहावरों का संकलन था।

बहुत प्राचीन काल से ही असम में संगीतप्रियता की परंपरा चलती आ रही है। इसके प्रमाणस्वरूप आधुनिक असम में अलिखित और अज्ञात लेखकों द्वारा प्रस्तुत वस्तुत: अनेकानेक लोकगीत मिलते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक परंपरा से सुरक्षित रह सके हैं। ये लोकगीत धार्मिक अवसरों, अचारों तथा ऋतुओं के परितर्वनों से संबद्ध हैं।

कुछ लोकगाथाओं में राजकुमार नायकों के आख्यान भी मिलते हैं। शिष्ट साहित्य के उद्‌भव के पूर्व इस काल में दार्शनिक डाक का महत्त्व असाधारण है। उसके कथनों को वेदवाक्य संज्ञा दी गई है। डाकवचनों की यह परंपरा बंगाल तथा बिहार तक मिलती है। असम के प्राय: प्रत्येक परिवार में कुछ समय पूर्व

तक इन डाकवचनों का एक हस्तलिखित संकलन रहता था। असम के प्राचीन नाम "कामरूप" से प्रकट होता है कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से तंत्र मंत्र की परंपरा रही है। इन गुह्यचारों से संबद्ध अनेक प्रकार के मंत्र मिलते हैं जिनसे भाषा तथा साहित्य विषयक प्रारंभिक अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। "चर्यापद" के लेखक सिद्धों में से कई का कामरूप से घनिष्ठ संबंध बताया जाता है, जो इस प्रदेश की तांत्रिक परंपरा को देखते हुए काफी स्वाभाविक जान पड़ता है। इस प्रकार चर्यापदों के समय से लेकर 13वीं शताब्दी के बीच का मौखिक साहित्य या तो जनप्रिय लोकगीतों और लोकगाथओं का है या नीतिवचनों तथा मंत्रों का। यह साहित्य बहुत बाद में लिपिबद्ध हुआ।

8

उड़िया भाषा एवं साहित्य

ओड़िआ, उड़िया या ओड़िया भारत के ओडिशा प्रान्त में बोली जाने वाली भाषा है। यह यहाँ के राज्य सरकार की राजभाषा भी है। भाषाई परिवार के तौर पर ओड़िआ एक आर्य भाषा है और नेपाली, बांग्ला, असमिया और मैथिली से इसका निकट संबंध है। ओड़िशा की भाषा और जाति दोनों ही अर्थों में उड़िया शब्द का प्रयोग होता है, किंतु वास्तव में ठीक रूप ओड़िआ होना चाहिए। इसकी व्युत्पत्ति का विकासक्रम कुछ विद्वान् इस प्रकार मानते हैं ओड्रविषय, ओड्रविष, ओडिष, आड़िषा या ओड़िशा। सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में उड्रविभाषा का उल्लेख मिलता है।

शबराभीरचांडाल सचलद्राविड़ोड्रजाः।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः॥

भाषातात्विक दृष्टि से ओड़िआ भाषा में आर्य, द्राविड़ और मुंडारी भाषाओं के सम्श्रित रूपों का पता चलता है, किंतु आज की ओड़िआ भाषा का मुख्य आधार भारतीय आर्यभाषा है। साथ ही साथ इसमें संथाली, मुंडारी, शबरी, आदि मुंडारी वर्ग की भाषाओं के और औराँव, कुई (कंधी) तेलुगू आदि द्राविड़ वर्ग की भाषाओं के लक्षण भी पाए जाते हैं।

लिपि

इसकी लिपि का विकास भी नागरी लिपि के समान ही ब्राह्मी लिपि से हुआ है। अंतर केवल इतना है कि नागरी लिपि की ऊपर की सीधी रेखा ओड़िआ लिपि में वर्तुल हो जाती है और लिपि के मुख्य अंश की अपेक्षा अधिक जगह घेर लेती है। विद्वानों का कहना है कि ओड़िआ में पहले तालपत्र पर लौह लेखनी

से लिखने की रीति प्रचलित थी और सीधी रेखा खींचने में तालपत्र के कट जाने का डर था। अत: सीधी रेखा के बदले वर्तुल रेखा दी जाने लगी और ओड़िआ लिपि का क्रमश: आधुनिक रूप आने लगा।

इतिहास

सम्पूर्ण ओड़िआ भाषा के इतिहास को निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है –
प्राचीन ओड़िआ (10वीं शताब्दी-1300),
प्रारम्भिक मध्य ओड़िआ (1300-1500),
मध्य ओड़िआ (1500-1700),
नूतन मध्य ओड़िआ (1700-1850), एवं
आधुनिक ओड़िआ (1850-वर्तमान)।

ओड़िआ एक पूर्वी इंडो-आर्य भाषा होने के नाते इंडो-आर्य भाषा परिवार का सदस्य है। इसे पूर्व मागधी नामक प्राकृत भाषा का वंशधर माना जाता जिसे कि 1500 साल पहले पूर्व भारत में प्रयोग किया जाता था। इस का आधुनिक बांग्ला, मैथिली, नेपाली एवं असमिया भाषाओं से निकट संबंध है। अन्य उत्तर भारतीय भाषाओं के मुकाबले में ओड़िआ, पार्सी भाषा द्वारा सबसे कम प्रभावित हुआ है। लिखित ओड़िआ भाषा का प्राचीनतम उदाहरण मादला पांजि (पुरी के जगन्नाथ मंदिर की पंजिका) में मिलता है जिन्हें ताड़ के पत्तों पर लिखा गया था।

प्रमुख बोलियाँ

मिदनापुरी ओड़िआ– पश्चिम बंगाल के मिदनापुर क्षेत्र में बोली जाने वाली

सिंहभूम ओड़िआ– झारखंड के पूर्वी सिंहभूम, पश्चिमी सिंहभूम एवं सरायकेला-खरसावां जिलों में बोली जाने वाली

बालेश्वरी ओड़िआ– बालेश्वर, भद्रक एवं मयूरभंज जिलों में बोली जाने वाली

गंजामी ओड़िआ– ओड़िशा के गंजाम एवं गजपति जिलों में, आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम् जिले में बोली जाने वाली

कळाहाण्डि ओड़िआ– शृंख ओड़िशा के कळाहाण्डि जिलों में बोली जाने वाली

देशीय ओड़िआ– कोरापुट, रायगड़ा, नवरंगपुर एवं मालकानगिरि जिलों में तथा आंध्र प्रदेश के विशाखापट्टनम जिले में बोली जाने वाली

संबलपुरी ओड़िआ– सम्बलपुर, देवगड़, सुन्दरगड़, बलांगिर, झारसुगुडा जिला, सुबर्नपुर, बौध जिला एवं बरगढ़ जिलों तथा छत्तीसगढ़ राज्य के रायगढ़, बिलासपुर, जैशपुर जिलों में बोली जाने वाली भाषा।

भात्री: दक्षिण-पश्चिमी ओड़िशा एवं पूर्व-दक्षिणी छत्तीसगढ़ में बोली जाने वाली भाषा

साहित्य

1500 ईसवी तक उड़िया साहित्य में धर्म, देव-देवी के चित्रण ही मुख्य ध्येय हुआ करता था और साहित्य सम्पूर्ण रूप से काव्य पर ही आधारित था। उड़िया भाषा के प्रथम महान कवि झंकड़ के सारला दास रहे, जिन्हें 'उडीशा के व्यास' के रूप में जाना जाता है। इन्होंने देवी की स्तुति में 'चंडी पुराण' व 'विलंका रामायण' की रचना की थी। 'सारला महाभारत' आज भी घर-घर में पढ़ा जाता है। अर्जुन दास द्वारा रचित 'राम-विभा' को उड़िया भाषा की प्रथम गीतकाव्य या महाकाव्य माना जाता है। उड़िया साहित्य को काल और प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता है–

(1) आदियुग (1050-1550),
(2) मध्ययुग (1550-1850),
(क) पूर्व मध्ययुग – भक्तियुग या धार्मिक युग या पंचसखा युग,
(ख) उत्तर मध्ययुग, रीति युग या उपेन्द्रभंज युग,
(3) आधुनिक युग या स्वातंत्र्य काल, (1850 से वर्तमान समय तक)

आदियुग

आदियुग में सारलापूर्व साहित्य भी अंतर्भुक्त है, जिसमें "बौद्धगान और दोहा", गोरखनाथ का "सप्तांगयोगधारणम्", "मादलापांजि", "रुद्रसुधानिधि" तथा "कलाश चौतिशा" आते हैं। "बौद्धगान ओ दोहा" भाषादृष्टि, भावधारा तथा ऐतिहासिकता के कारण उड़ीसा से घनिष्ठ रूप में संबंधित है। "सप्तांगयोगधारणम्" के गोरखनाथकृत होने में संदेह है। "मादलापांजि" जगन्नाथ मंदिर में सुरक्षित है तथा इसमें उड़ीसा के राजवंश और जगन्नाथ मंदिर के नियोगों का इतिहास लिपिबद्ध है। किंवदंति के अनुसार गंगदेश के प्रथम राजा चोड गंगदेव ने 1042

ई. (कन्या 24 दिन, शुक्ल दशमी दशहरा के दिन) "मादालापांजि" का लेखन प्रारंभ किया था, किंतु दूसरा मत है कि यह मुगलकाल में 16वीं शताब्दी में रामचंद्रदेव के राजत्वकाल में लिखवाई गई थी। "रुद्र-सुधा-निधि" का पूर्ण रूप प्राप्त नहीं है और जो प्राप्त है उसका पूरा अंश छपा नहीं है। यह शैव ग्रंथ एक अवधूत स्वामी द्वारा लिखा गया है। इसमें एक योगभ्रष्ट योगी का वृत्तांत है। इसी प्रकार वत्सादास का "कलाश चौतिशा" भी सारलापूर्व कहलाता है। इसमें शिव जी की वरयात्रा और विवाह का हास्यरस में वर्णन है।

वस्तुतः सारलादास ही उड़िया के प्रथम जातीय कवि और उड़िया साहित्य के आदिकाल के प्रतिनिधि हैं। कटक जिले की झंकड़वासिनी देवी चंडी सारला के वरप्रसाद से कवित्व प्राप्त करने के कारण सिद्धेश्वर पारिडा ने अपने को "शूद्रमुनि" सारलादास के नाम से प्रचारित किया। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं–1. "विलंका रामायण", 2. महाभारत और 3. चंडीपुराण। कुछ लोग इन्हें कपिलेन्द्रदेव (1435-1437) का तथा कुछ लोग नरसिंहदेव (1328-1355 ई) का समकालीन मानते हैं।

इस युग का अर्जुनदास लिखित "रामविभा" नामक एक काव्यग्रंथ भी मिलता है तथा चैतन्यदासरचित "विष्णुगर्भ पुराण" और "निर्गुणमाहात्म्य" अलखपंथी या निर्गुण संप्रदाय के दो ग्रंथ भी पाए जाते हैं।

मध्ययुग

इसके दो विभाग हैं-

(क) पूर्वमध्ययुग अथवा भक्तियुग, तथा

(ख) उत्तरमध्ययुग अथवा रीतियुग।

पूर्वमध्ययुग

इस युग में में पंचसखाओं के साहित्य की प्रधानता है। ये पंचसखा हैं - बलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवन्तदास, अनन्तदास और अच्युतानन्ददास। चैतन्यदास के साथ सख्य स्थापित करने के कारण ये 'पंचसखा' कहलाए। वे 'पंच शाखा' भी कहलाते हैं। इनके उपास्य देवता थे पुरी के जगन्नाथ, जिनकी उपासना शून्य और कृष्ण के रूप में ज्ञानमिश्रा योग-योगप्रधान भक्ति तथा कायसाधना द्वारा की गई। पंचसखाओं में से प्रत्येक ने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें से कुछ तो मुद्रित हैं, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

16वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में दिवाकरदास ने "जगन्नाथचरितमृत" के नाम से पंचसखाओं के जगन्नाथदास की जीवनी लिखी तथा ईश्वरदास ने चैतन्यभागवत लिखा। सालवेग नामक एक मुसलमान भक्तकवि के भी भक्तिरसात्मक अनेक पद प्राप्त हैं।

इसी युग में शिशुशंकरदास, कपिलेश्वरदास, हरिहरदास, देवदुर्लभदास, तथा प्रतापराय की क्रमश–"उषाभिलाष", "कपटकेलि", "चंद्रावलिविलास", "रहस्यमंजरी" और "शशिसेणा" नामक कृतियाँ भी उपलब्ध हैं।

रीतियुग

इस युग में पौराणिक और काल्पनिक दोनों प्रकार के काव्य हैं। नायिकाओं में सीता और राधा का नखशिख वर्णन किया गया है। इस युग का काव्य, शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दावली और श्रृंगाररस से पूर्ण है। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-भेद आदि को विशेष महत्त्व दिया गया। उपेंद्रभंज ने इसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, अतः इस युग का नाम भंजयुग पड़ गया, किंतु यह काल इसके पहले शुरू हो गया था। उपेंद्रभंज के पूर्व के कवि निम्नांकित हैं–

धनंजयभंज- ये उपेंद्रभंज के पितामह और घुमसर के राजा थे। इनकी कृतियाँ हैं–रघुनाथविलास काव्य, त्रिपुरसुंदरी, मदनमंजरी, अनंगरेखा, इच्छावती, रत्नपरीक्षा, अश्व और गजपरीक्षा आदि। कुछ लक्षणग्रंथ और चौपदीभूषण आदि संगीतग्रंथ भी हैं।

दीनकृष्णदास (1651-1703)- व्यक्तित्व के साथ-साथ इनका काव्य भी उच्च कोटि का था। "रसकल्लोल","नामरत्नगीता","रसविनोद","नावकेलि", "अलंकारकेलि","आर्तत्राण","चैतिशा" आदि इनकी अनेक कृतियाँ प्राप्य हैं।

वृंदावती दासी, भूपति पंडित तथा लोकनाथ विद्यालंकार की क्रमशः "पूर्णतम चंद्रोदय", प्रेमपंचामृत" तथा "एक चैतिशा" और "सर्वागसुंदरी", "पद्मावती परिणय","चित्रकला","रसकला" और "वृंदावन-विहार-काव्य", नाम की रीतिकालीन काव्यलक्षणों से युक्त कृतियाँ मिलती हैं।

उपेंद्रभंज (1685-1725) - ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनके कारण ही रीतियुग को भंजयुग भी कहा जाता है। शब्दवैलक्षण्य, चित्रकाव्य एवं छंद, अलंकार आदि के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी अनेक प्रतिभाप्रगल्भ कृतियों ने उड़िया साहित्य में इनको सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित किया है। "वैदेहीशविलास", "कलाकउतुक","सुभद्रापरिणय","ब्रजलीला","कुंजलीला", आदि पौराणिक

काव्यों के अतिरिक्त लावण्यवती, कोटि-ब्रह्मांड-सुंदरी, रसिकहारावली आदि अनेक काल्पनिक काव्यग्रंथ भी हैं। इन काव्यों में रीतिकाल के समस्त लक्षणों का संपूर्ण विकास हुआ है। कहीं-कहीं सीमा का अतिक्रमण कर देने के कारण अश्लीलता भी आ गई है। इनका "बंधोदय" चित्रकाव्य का अच्छा उदाहरण है। "गीताभिधान" नाम से इनका एक कोशग्रंथ भी मिलता है जिसमें कांत, खांत आदि अंत्य अक्षरों का नियम पालित है। "छंदभूषण" तथा "षड्ऋतु" आदि अनेक कृतियाँ और भी पाई जाती हैं।

भंजकालीन साहित्य के बाद उड़िया साहित्य में चैतन्य प्रभावित गौड़ीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनों का समन्वय देखने में आता है। इस काल के काव्य प्रायः राधाकृष्ण-प्रेम-परक हैं और इनमें कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है। इनमें प्रधान हैं–सच्चिदानंद कविसूर्य (साधुचरणदास), भक्तचरणदास, अभिमन्युसामंत सिंहार, गोपालकृष्ण पट्टनायक, यदुमणि महापात्र तथा बलदेव कविसूर्य आदि।

इस क्रम में प्रधानतया और दो व्यक्ति पाए जाते हैं–(1) ब्रजनाथ बडजेना और (2) भीमभोई। ब्रजनाथ बडजेना ने "गुंडिचाविजे" नामक एक खोरता (हिंदी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं–"समरतंरग" और "चतुरविनोद"। भीमभोई जन्मांध थे और जाति के कंध (आदिवासी) थे। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित "स्तुतिचिंतामणि", "ब्रह्मनिरूपण गीता" और अनके भजन पाए जाते हैं। उड़िया में वे अत्यंत प्रख्यात हैं।

आधुनिक युग

यद्यपि ब्रिटिश काल से प्रारंभ होता है, किंतु अंग्रेजी का मोह होने के साथ ही साथ प्राचीन प्रांतीय साहित्य और संस्कृत से साहित्य पूरी तरह अलग नहीं हुआ। फारसी और हिंदी का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत मिलता है। इस काल के प्रधान कवि राधानाथ राय हैं। ये स्कूल इंस्पेक्टर थे। इनपर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। इनके लिखे "पार्वती", "नंदिकेश्वरी", "ययातिकेशरी", आदि ऐतिहासिक काव्य हैं। "महामात्रा" प्रथम अमित्राक्षर छंद में लिखित महाकाव्य है, जिस पर मिल्टन का प्रभाव है। इन्होंने मेघदूत, वेणीसंहार और तुलसी पद्यावली का अनुवाद भी किया था। इनकी अनेक फुटकल रचानाएँ भी हैं। आधुनिक युग को कुछ लोग राधानाथ युग भी कहते हैं।

उड़िया उपन्यास सम्राट फकीर मोहन सेनापति

बंगाल से राजेंद्रलाल मित्र द्वारा चलनेवाले "उड़िया एक स्वतंत्र भाषा नहीं है" आंदोलन का करारा जवाब देनेवालों में उड़िया के उपन्यास सम्राट् फकीर मोहन सेनापति प्रमुख हैं। उपन्यास में ये बेजोड़ हैं। "लछमा","माम्","छमाण आठगुंठ" आदि उनके उपन्यास हैं। "गल्पस्वल्प" नाम से दो भागों में उनके गल्प भी हैं। उनकी कृति "प्रायश्चित्त" का हिंदी में अनुवाद भी हुआ है। पद्य में "उत्कलभ्रमण","पुष्पमाला" आदि अनेक ग्रंथ हैं। उन्होंने छांदोग्यउपनिषद्,रामायण, महाभारत आदि का पद्यानुवाद भी किया है। इस काल के एक और प्रधान कवि मधुसूदन राय हैं। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं। इनपर रवींद्रनाथ का काफी प्रभाव है। इस काल में काव्य,उपन्यास और गल्प के समान नाटकों पर भी लोगों की दृष्टि पड़ी। नाटककारों में प्रधान रामशंकर राय हैं। उन्होंने पौराणिक,ऐतिहासिक,सामाजिक,गीतिनाट्य,प्रहसन और यात्रा आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर रचनाएँ की हैं। "कांचिकावेरी","वनमाला","कंसवध", "युगधर्म" आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। राधानाथ युग के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं गंगाधर मेहेर,पल्लीकवि नंदकिशोर वल,(प्राबंधिक और संपादक) विश्वनाथ कर, व्यंगकार गोपाल चंद्र प्रहराज आदि।

इसके उपरांत गोपबंधुदास ने सत्यवादी युग का प्रवर्तन किया। इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ "धर्मपद","बंदीर आत्मकथा","कारा कविता" आदि हैं। नीलकंठ दास तथा गोदावरीश मिश्र आदि इस युग के प्रधान साहित्यिक हैं। पद्मचरण पट्टनायक और कवयित्री कुंतलाकुमारी सावत छायावादी साहित्यकार और लक्ष्मीकांत महापात्र हास्यरसिक हैं। सत्यवादी युग के बाद रोमांटिक युग आता है। इसके प्रधान कवि मायाधर मानसिंह हैं। उनके "धूप","हेमशस्य", "हेमपुष्प" आदि प्रधान ग्रंथ हैं। कालिंदीचरण पाणिग्राही,वैकुंठनाथ पट्टनायक, हरिहर महापात्र,शरच्चंद्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय ने "सबुज कवित्व" से सबुज युग का श्रीगणेश किया है। "वासंती" उपन्यास इनके सम्मलित लेखन का फल है। इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। सच्चिदानंद राउतराय इस युग के प्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी रचनाओं में "पल्लीचित्र","पांडुलिपि" आदि प्रधान हैं। आधुनिक समय में उपन्यासकार गोपीनाथ महांति,कान्हुचरण महांति,नित्यानंद महापात्र,कवि राधामोहन गडनायक,क्षुद्रगाल्पिक,गोदावरीश महापात्र आदि हैं।

9

गुजराती भाषा एवं साहित्य

भारत की प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं में से एक, जिसे भारतीय संविधान की मान्यता प्राप्त है। यह मुख्यत: गुजरात क्षेत्र में तथा भारत के अन्य प्रमुख नगरों में लगभग तीन करोड़ से अधिक लोगों के द्वारा बोली जाती है। गुजराती भाषा नवीन भारतीय-आर्य भाषाओं के दक्षिण-पश्चिमी समूह से सम्बन्धित है। इतालवी विद्वान् तेस्सितोरी ने प्राचीन गुजराती को प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी भी कहा, क्योंकि उनके काल में इस भाषा का उपयोग उस क्षेत्र में भी होता था, जिसे अब राजस्थान राज्य कहा जाता है। अन्य नवीन भारतीय-आर्य भाषाओं की तरह गुजराती की उत्पत्ति भी एक प्राकृत भाषा से हुई है। इस भाषा के विकास को कुछ भाषाशास्त्रीय विशेषताओं में परिवर्तन के आधार पर तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है।

गुजराती लिपि

गुजराती लिपि वो लिपि है जिसमें गुजराती और कच्छी भाषाएं लिखी जाती है। गुजराती लिपि, नागरी लिपि से व्युत्पन्न हुई है। गुजराती भाषा में लिखने के लिए देवनागरी लिपि को परिवर्तित करके गुजराती लिपि बनायी गयी थी। गुजराती भाषा और लिपि तीन अलग-अलग चरणों में विकसित हुई - 10 वीं से 15 वीं शताब्दी, 15 वीं से 17 वीं शताब्दी और 17 वीं से 19 वीं शताब्दी। पहले चरण में प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री का उपयोग हुआ। दूसरे चरण में, पुरानी गुजराती लिपि व्यापक उपयोग में थी। पुरानी गुजराती लिपि में सबसे पुराना ज्ञात दस्तावेज 1591-92 की आदि पर्व की एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि है। यह लिपि पहली बार 1797 के एक विज्ञापन में छपी

थी। तीसरा चरण है, आसानी से और तेजी से लेखन के लिए विकसित लिपि का विकास। इसमें शिरोरखा का उपयोग त्याग दिया गया, जो देवनागरी में होता है। 19 वीं शताब्दी तक इसका उपयोग मुख्य रूप से पत्र लिखने और हिसाब रखने के लिए किया जाता था, जबकि देवनागरी लिपि का उपयोग साहित्य और अकादमिक लेखन के लिए किया जाता था। इसे शराफी या वाणियाशाई कहा जाता था। यही लिपि आधुनिक गुजराती लिपि का आधार बनी। बाद में उसी लिपि को पांडुलिपियों के लेखकों ने भी अपनाया। जैन समुदाय ने भी धार्मिक ग्रंथों की प्रतिलिपि बनाने के लिए इसी लिपि के उपयोग को बढ़ावा दिया।

गुजराती साहित्य

गुजराती भाषा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है और इसका विकास शौरसेनी प्राकृत के परवर्ती रूप 'नागर अपभ्रंश' से हुआ है। गुजराती भाषा का क्षेत्र गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के अतिरिक्त महाराष्ट्र का सीमावर्ती प्रदेश तथा राजस्थान का दक्षिण पश्चिमी भाग भी है। सौराष्ट्री तथा कच्छी इसकी अन्य प्रमुख बोलियाँ हैं। हेमचंद्र सूरि ने अपने ग्रंथों में जिस अपभ्रंश का संकेत किया है, उसका परवर्ती रूप 'गुर्जर अपभ्रंश' के नाम से प्रसिद्ध है और इसमें अनेक साहित्यिक कृतियाँ मिलती हैं। इस अपभ्रंश का क्षेत्र मूलत: गुजरात और पश्चिमी राजस्थान था और इस दृष्टि से पश्चिमी राजस्थानी अथवा मारवाड़ी, गुजराती भाषा से घनिष्ठतया संबद्ध है।

गुजराती साहित्य में दो युग माने जाते हैं-

मध्यकालीन युग

अर्वाचीन युग

अभिव्यक्ति पाई जाती है। भालण कवि का समय भी लगभग यही माना जाता है। इन्होंने रामायण, महाभारत और भागवत के पौराणिक इतिवृत्तों को लेकर अनेक काव्य निबद्ध किए और गरबासाहित्य को जन्म दिया। वात्सल्य और शृंगार के चित्रण में भालण सिद्धहस्त माने जाते हैं। पद साहित्य और आख्यान काव्यों की इन दोनों शैलियों ने मध्ययुगीन गुजराती साहित्य को कई कवि प्रदान किए हैं। प्रथम शैली का अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व मीराबाई (16वीं सदी) हैं जिन पर नरसी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हिंदी और राजस्थानी की तरह मीराबाई के अनेक सरस पद गुजराती में पाए जाते हैं, जो नरसी के पदों की भाँति ही गुजराती जनता में लोकगीतों की तरह गाए जाते हैं। आख्यान काव्यों की शैली

का निर्वाह नागर, केशवदास, मधुसूदन व्यास, गणपति आदि कई कवियों में मिलता है, किंतु इसका चरमपरिपाक प्रेमानंद में दिखाई पड़ता है।

प्रेमानन्द भट्ट (17वीं शती) गुजराती भक्ति साहित्य के सर्वोच्च कवि माने जाते हैं। वे बड़ौदा के नागर ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और संस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं के अच्छे जानकार थे। प्रेमानन्द ने रामायण, महाभारत, भागवत और मार्कण्डेयपुराण के कई आख्यानों पर काव्य निबद्ध किए जिनकी संख्या 50 से ऊपर है। ये गुजराती के सर्वप्रथम नाटककार भी हैं, जिनकी तीन नाट्य कृतियाँ हैं। भावगांभीर्य के साथ-साथ अलंकृत शैली इनकी विशेषता है। इन्हीं के ढंग पर और कवियों ने भी पौराणिक आख्यान लिखे, जिनमें शामल भट्ट के अनेक काव्य, मुकुंद का भक्तमाल, देवीदास का रुक्मिणीहरण, मुरारी का ईश्वर विवाह उल्लेखनीय है। प्रेमानन्द के ही समसामयिक भक्त कवि अखों (17वीं शती) हैं, जो अहमदाबाद के सोनार थे। कबीर की तरह इन्होंने धर्म के मिथ्या पाखंड, जातिप्रथा और वर्णव्यवस्था पर कटु व्यंग्य किया है। इनके दार्शनिक, भक्तिपरक तथा सुधारवादी दोनों तरह के पद मिलते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि भालण कवि ने एक विशेष काव्यशैली का विकास किया था- गरबा शैली। यह शैली मूलत: नृत्यपरक लोकगीतों से संबद्ध है। इस शैली में 18वीं सदी में देवी देवताओं से संबद्ध अनेक भक्तिपरक स्तुतिगीत लिखे गए। गरबी कवियों का अलग संप्रदाय ही चल पड़ा, जिसमें ब्राह्मण, भाट, पाटीदार सभी तरह के लोग मिलेंगे। प्रमुख गरबी कवियों में बल्लभ भट्ट, प्रीतमदास, धीरोभक्त, नीरांत भक्त और भोजा भक्त हैं। इस शैली का चरम परिपाक गरबी सम्राट, दयाराम (1767-1852 ई.) के गीतों में मिलता है। दयाराम शृंगाररसपरक गीति काव्य के सर्वश्रेष्ठ मध्ययुगीन गुजराती कवि हैं, जिन्होंने सरल और सरस शैली में मधुर भावों की अभिव्यंजना की है। गुजराती में इनकी 48 रचनाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत, हिंदी, मराठी, पंजाबी और उर्दू में भी इन्होंने समान रूप से काव्यरचना की है।

मध्ययुगीन गुजराती साहित्य के विकास में स्वामीनारायण संप्रदाय का भी काफी हाथ रहा है। इस संप्रदाय के संस्थापक सहजानन्द रामानन्द की शिष्य परम्परा में आते हैं। कच्छ और गुजरात में इस संप्रदाय के साधुओं का काफी प्रभाव रहा है। दार्शनिक तथ्य, भक्तिभावना और सामाजिक पाखण्ड की भर्त्सना इन साधु कवियों के विषय हैं। इस संप्रदाय के प्रमुख कवि ब्रह्मानन्द हैं जिनके

कई ग्रंथ और आठ हजार फुटकर पद मिलते हैं। अन्य कवियों में मुक्तानंद, मंजुकेशानंद और देवानन्द का नाम लिया जा सकता है।

अर्वाचीन साहित्य

वैसे तो जूनी गुजराती में कुछ गद्य कृतियाँ मिलती हैं, पर मध्ययुगीन गुजराती में गद्यशैली का प्रौढ़ विकास नहीं हो पाया था। गुजराती पद्य के विकास में अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह ईसाई पादरियों का भी हाथ रहा है। 19वीं सदी के प्रथम चरण में बाइबिल का गुजराती गद्य में अनुवाद प्रकाशित हुआ और ड्रमंड ने 1808 ई. में गुजराती का सर्वप्रथम व्याकरण लिखा। गुजराती में नई चेतना का प्रादुर्भाव जिन लेखकों में हुआ, उनमें पादरी जर्विस, नर्मदाशंकर, नवलराय तथा भोलानाथ आते हैं।

नर्मद या नर्मदाशंकर (1833-1886 ई.) गुजराती मध्यवर्गीय चेतना के अग्रदूत हैं, ठीक वैसे ही जैसे हिंदी में भारतेंदु। समय की दृष्टि से भी ये भारतेंदु के समसामयिक थे तथा उन्हीं की तरह सर्वतोमुखी प्रतिभा से समन्वित थे। इनकी गद्यबद्ध आत्मकथा 'मारी हकीकत' पुराने कवियों की संपादित कृतियाँ और आलोचनाएँ, संस्कृत 'शाकुंतल' का गुजराती अनुवाद और अनेक सुधारवादी कविताएँ हैं। आधुनिक गुजराती काव्य को नए साँचे में ढालनेवाले पहले कवि नर्मद ही हैं जिन्होंने नए सांस्कृतिक जागरण, राष्ट्रीय भावना और सुधारवादी उदात्तता को वाणी दी हैं।

इनकी वैचारिक काव्यशैली के आगे पुराने भक्त कवि सामान्य दिखाई पड़ते हैं। नर्मद पाश्चात्य काव्यशैली से पूरी तरह परिचित थे। भारतेंदु की तरह ही वे कर्मठ साहित्यिक थे, जिन्होंने अनेक नए कवियों और लेखकों को प्रेरित और संगठित किया। संपादन और आलोचना के क्षेत्र में भी नर्मद का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

साथ ही वे गुजराती के प्रथम निबंधकार, नाटककार और आत्मचरित्र लेखक माने जाते हैं। नर्मद के समसामयिक कवि दलपतराम (1820-1898 ई.) की रचनाएँ भी सामाजिक, नीतिपरक तथा राष्ट्रीय विषयों से संबद्ध हैं। सरल, प्रसादगुण-युक्त शैली में अपन काव्य को उपस्थित कर देना दलपतराम की विशेषता है। यद्यपि इनकी शैली नर्मद की अपेक्षा गद्यवत अधिक है, तथापि व्यावहारिकता कहीं अधिक पाई जाती है।

नर्मद और दलपतराम अनेक परवर्ती कवियों के आदर्श रहे हैं। सवितानारायण, मणिलाल द्विवेदी, बालशंकर कंथारिया, कलापी आदि सभी पर इनका प्रभाव मिलेगा। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि काठियावाड़ के ठाकुर सुरसिंह जी गोहेल (1874–1913 ई.) थे, जो 'कलापी' उपनाम से कविता करते थे। ये सच्चे कविहृदय व्यक्ति थे, जिनकी प्रत्येक पंक्ति में अनुभूति की तीव्रता विद्यमान है। उन्मुक्त प्रेम, प्रकृतिवर्णन तथा स्वच्छंद रोमानी भावना का निसर्ग प्रवाह कलापी की कविता में है। इनका काव्यसंग्रह 'कलापी नो केकारव' है। शैली तथा छंदोविधान के क्षेत्र में ये नए प्रयोगों के जन्मदाता हैं।

गुजराती में इन्होंने अनेक 'गजलें' भी लिखी हैं, जो 'गजलिस्तान' नामक संग्रह में संकलित हैं। श्री कंथारिया ने फारसी कवि हाफिज की गजलों का गुजराती काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है तथा अन्य मुक्तक रचनाएँ भी लिखी हैं। गुजराती काव्य को परंपरावादी प्रवृत्तियों से मुक्त कर स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करने में इन कवियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजराती के परवर्ती रोमैंटिक कवियों में नरसिंहराव दिबेटिया, फरदुनजी मरजबान, रामजी मेरबानजी मलबारी, हरिलाल ध्रुव तथा फ्रामजी खबरदार प्रमुख हैं। इनमें श्री दिवेटिया कवि के अतिरिक्त गुजराती साहित्य के अधिकरी विद्वान भी थे और इन्होंने 'गुजराती भाषा और साहित्य' पर बंबई विश्वविद्यालय में विल्सन फाइलालॅजिकल व्याख्यान दिए थे। कविता के क्षेत्र में ये अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों से विशेष प्रभावित हैं। खबरदारजी की कविताओं में प्रधानतः देशभक्ति और दार्शनिक विषयों की ओर झुकाव मिलता है।

रोमैंटिक काव्यधारा का विकास बलवंतराय, दामोदर खुशालदास बोरादकर, मणिशंकर रतनजी भट्ट तथा नानालाल में मिलता है। ये सभी कवि पाश्चात्य काव्यशैली से प्रभावित हैं। इन कवियों में नाना लाल अग्रगण्य हैं, जो गुजराती कवि दलपतराम के पुत्र थे। कवि तथा नाटककार दोनों रूपों में इन्होंने विशिष्ट ख्याति अर्जित की है। प्रबंध काव्य, खंड काव्य तथा मुक्तक काव्य तीनों शैलियों में इनकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें प्रमुख 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य है। गुजराती में मुक्त छंद के सर्वप्रथम प्रयोक्ता भी ये ही हैं। नव्य गुजराती कविता पर समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साहित्यिक परिवर्तनों का काफी प्रभाव पड़ा है। गांधीवादी कवियों में सर्वश्रेष्ठ ब. क. ठाकुर हैं, जिन्होंने नए विषयों के प्रयोग के साथ-साथ अतुकांत छंद की तरह प्रवाही पद्य का प्रयोग तथा व्यावहारिक भाषा का उपयोग किया है। इन्होंने गुजराती में कई सॉनेट

(चतुर्दशपदियाँ) भी लिखे हैं। ठाकुर का प्रभाव उमाशंकर जोशी, रामानरायण पाठक, कृष्णलाल श्रीधराणी आदि कवियों पर मिलेगा। आधुनिक गुजराती कवियों पर एक ओर साम्यवादी विचारधारा का और दूसरी ओर बिंबवादी कवियों का प्रभाव पड़ा है। प्रयोगवादी ढंग के गुजराती कवियों में राजेंद्र शाह और दिनेश कोठारी प्रमुख हैं, जिन्होंने भाषा, छंद और काव्य के साथ नए प्रयोग किए हैं।

गुजराती नाटक साहित्य विशेष समृद्ध नहीं है। नर्मदाशंकर ने 'शाकुंतल' का अनुवाद किया था और रणछोड़ भाई ने कुछ संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का। रणछोड़ भाई ने कई मौलिक पौराणिक तथा सामाजिक नाटक भी लिखे। अन्य परवर्ती नाटककारों में दलपतराम, नवलराय, नानालाल तथा सर रमणभाई आते हैं। सामाजिक कथावस्तु को लेकर लिखने वाले आधुनिक नाटककार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता और धनसुखलाल मेहता हैं। इधर श्रीधराणी, उमाशंकर जोशी तथा बटुभाई उमरवाडिया ने एकांकी भी लिखे हैं।

यही स्थिति गुजराती निबंध साहित्य की भी है। पहले निबंधलेखक नर्मद हैं। नर्मद के समय ही गुजराती पत्रकारिता का उदय हुआ था और नवलराय ने 'गुजरात शाळापत्र' का प्रकाशन आरंभ किया। इन्होंने समालोचना और निबंध के क्षेत्र में भी काफी काम किया। विवेचनात्मक तथा व्यक्तिव्यंजक दोनों तरह के निबंध लिखे जाने लगे पर गुणात्मक प्रौढ़ि की दृष्टि से केवल आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव, नरसिंह राव दिवेटिया, काका कालेलकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, रामनारायण पाठक, केशवलाल कामदार और उमाशंकर जोशी की ही कृतियों का संकेत किया जा सकता है।

आलोचनात्मक लेखों के क्षेत्र में केशवलाल ध्रुव, मनसुखलाल झावेरी, उमाशंकर जोशी तथा डॉ. भोगीलाल सांडेसरा ने महत्त्वपूर्ण योग दिया हैं। संस्मरण तथा रेखाचित्र के गुजराती लेखकों में मुंशी तथा उनकी पत्नी लीलावती मुंशी, गांधीवादी विचारक काका कालेलकर और गांधीजी के अनन्य सहयोगी महादेव भाई की परिगणना की जाती है।

गुजराती कथा साहित्य अपेक्षाकृत विशेष समृद्ध है। उपन्यास साहित्य का प्रारंभ श्री नंदशंकर तुलजाशंकर के उपन्यास 'करणघेलो' (1868 ई.) से होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की जो परंपरा महीपतराम, अनंतराम त्रीकमलाल और चुन्नीलाल वर्धमान ने स्थापित की, उसका चरम परिपाक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। पृथ्वीवल्लभ, जय सोमनाथ, गुजरात भगवान परशुराम, लोपामुद्रा, भगवान कौटिल्य उनकी प्रशस्त कृतियाँ हैं। इनके पूर्व

इस क्षेत्र में इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने भी काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी, जिनका स्पष्ट प्रभाव मुंशी जी पर दिखाई पड़ता है। मुंशीजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में रमणलाल देसाई का विशेष स्थान है। राष्ट्रीय आंदोलन से संबंद्ध इनके दो उपन्यास 'दिव्यचक्षु' और 'भारेला अग्नि' तथा भारतीय ग्रामीण जीवन की समस्याओं से संबंद्ध, चार भागों में प्रकाशित महती कृति 'ग्रामलक्ष्मीकोण' ने काफी ख्याति प्राप्त की है।

गुजरात के लोकजीवन और लोकसाहित्य को उपन्यासों के साँचे में ढालने का स्तुत्य प्रयास झवेरचंद मेघाणी ने किया, जो गुजराती लोकसाहित्य के विशेषज्ञ भी थे। अन्य सामाजिक उपन्यास लेखकों में गोवर्धनराम त्रिपाठी, पन्नालाल पटेल और धूमकेतु ने विशेष ख्याति अर्जित की है। श्री त्रिपाठी तथा अन्य दोनों लेखकों पर यथार्थवादी उपन्यासकला का प्रभाव भी मिलेगा। कथासाहित्य के दूसरे अंश कहानी 'गोवालणी' के प्रकाशन से माना जाता है। इसके बाद तो विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, अमृतलाल पंढियार और चंद्रशंकर पंड्या की कई कहानियाँ प्रकाशित हुईं। आधुनिक कहानी लेखकों में मुंशी, रमणलाल देसाई, गुणवंतराय आचार्य, धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर विशेष प्रसिद्ध है। धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर ने कहानी की तकनीक को अत्याधुनिक बनाया है। आज का गुजराती कथा साहित्य और काव्य विशेष रूप से भारतीय समाज के सभी पहलुओं का अंकन कर भारतीय युगचेतना के वाणी देने में अपना समुचित योग दे रहा है।

10

मराठी भाषा एवं साहित्य

मराठी भाषा पश्चिमी और मध्य भारत में बोली जाने वाली भारतीय-आर्य भाषा है। इसका क्षेत्र मुंबई के उत्तर से गोवा के पश्चिमी तट और पूर्व में दक्कन तक फैला हुआ है। भाषाई स्तर पर यह एक आर्य भाषा है जिसका विकास संस्कृत से अपभ्रंश तक का सफर पूरा होने के बाद आरंभ हुआ। मराठी भारत की प्रमुख भाषाओं में से एक है।

भाषायी क्षेत्र

मराठी भाषा भारत के अतिरिक्त मॉरिशस और इस्राइल में भी मराठी मूल के लोगों द्वारा बोली जाती है। इनके अतिरिक्त अन्य देश भी हैं जहाँ मराठी मूल के लोग निवास करते हैं और वे इस भाषा का उपयोग करते हैं जिनमें प्रमुख हैं - अमेरिका, संयुक्त अरब अमीरात, दक्षिण अफ्रीका, सिंगापुर, जर्मनी, संयुक्त राजशाही (ब्रिटेन), ऑस्ट्रेलिया, वेस्ट इंडीज और न्यूजीलैंड।

भारत में मराठी मुख्यत: महाराष्ट्र में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त यह गोवा, कर्णाटक, गुजरात, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु और छत्तीसगढ़ में बोली जाती है। केन्द्र शासित प्रदेशों में यह दमन और दीव और दादर और नागर हवेली में बोली जाती है। जिनमें महाराष्ट्र और गोवा की यह राजभाषा है।

मराठी भारत में एक आर्य भाषा है, जो मुख्य रूप से महाराष्ट्र में उपयोग की जाती है, मराठी भारत में लगभग 81.1 मिलियन मराठी लोगों द्वारा बोली जाती है। यह क्रमश: पश्चिमी भारत में महाराष्ट्र और गोवा राज्यों में आधिकारिक भाषा और सह-आधिकारिक भाषा है। मराठी भारत की 22 अनुसूचित भाषाओं में से एक है। 2019 में, 83.1 मिलियन मराठी बोलने वालों के साथ, मराठी

दुनिया में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं की सूची में दसवें स्थान पर है। भारत में मराठी बोलने वालों की संख्या हिंदी और बंगाली के बाद तीसरी है। मराठी भाषा में सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं के कुछ प्राचीन साहित्य शामिल हैं, जो लगभग 600 वर्षों से हैं। मराठी की मुख्य बोली मानक मराठी है और इसे बोलिभाषा कहा जाता है।

मराठी साहित्य

मराठी साहित्य महाराष्ट्र के जीवन का अत्यंत संपन्न तथा सुदृढ़ उपांग है।

मराठी साहित्य की प्रारंभिक रचनाएँ यद्यपि 12वीं शती से उपलब्ध हैं तथापि मराठी भाषा की उत्पत्ति इसके लगभग 300 सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो चुकी रही होगी। मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोला नामक स्थान की गोमटेश्वर प्रतिमा के नीचेवाले भाग पर लिखी हुई "श्री चामुंड राजे करवियले, गंगराजे सुत्ताले करविलय" पंक्ति मराठी भाषा की सर्वप्रथम ज्ञात पंक्ति है। यह संभवत: शक 905 (ई सन् 983) में उत्कीर्ण की गई होगी। यहाँ से यादवों के काल तक के लगभग 75 शिलालेख आज तक प्राप्त हुए हैं। इनकी भाषा का संपूर्ण या कुछ भाग मराठी है। मराठी भाषा का निर्माण प्रमुखतया, महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से होने के कारण संस्कृत की अतुलनीय भाषा संपत्ति का उत्तराधिकार भी इसे मुख्य रूप से प्राप्त हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा को आत्मसात् कर मराठी ने 12वीं शती से अपना अलग अस्तित्व स्थापित करना शुरू किया। इसकी लिपि देवनागरी है।

ऐतिहासिक अनुसंधान करनेवाले अनेक विद्वानों ने यह मान लिया है कि मुकुंदराज मराठी साहित्य के आदि कवि हैं। इनका समय 1128 से 1200 तक माना जाता है। मुकुंदराज के दो ग्रंथ "विवेकसिंधु" और "परमामृत" है, जो पूर्ण आध्यात्मिक विषय पर हैं। मुकुंदराज के निवासस्थान के संबंध में विद्वानों का एक मत नहीं है, फिर भी बीड जिले के अंबेजोगाई नामक स्थान पर बनी इनकी समाधि से वे मराठवाड़ा के निवासी प्रतीत होते हैं। वे नाथपंथीय थे। उनके साहित्य से इस पंथ के संकेत प्राप्त होते हैं।

ज्ञानदेव तथा नामदेव

मराठी भाषा के अद्वितीय साहित्य भंडार का निर्माण करनेवाले ज्ञानदेव को ही मराठी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। 15 वर्ष की अवस्था में लिखी गई

उनकी रचना ज्ञानेश्वरी अत्यंत प्रसिद्ध है। उनके ग्रंथ अमृतानुभव तथा चांगदेव पासष्टी, वेदांत चर्चा से ओतप्रोत हैं। ज्ञानदेव का श्रेष्ठत्व उनके अलौकिक ग्रंथनिर्माण के समान ही उनकी भक्तिपंथ की प्रेरणा में भी विद्यमान है। इस कार्य में उन्हें अपने समकालीन संत नामदेव की अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। ज्ञान और भक्ति के साकार स्वरूप इन दोनों संतों ने महाराष्ट्र के पारमार्थिक जीवन की नई परंपरा को सुदृढ़ स्थान प्राप्त करा दिया। इनके भक्तिप्रधान साहित्य तथा दिव्य जीवन के कारण महाराष्ट्र के सभी वर्गों के समाज में भगवद्भक्तों का पारमार्थिक लोकराज्य स्थापित होने का आभास मिला। चोखा मेला, गोरा कुम्हार, नरहरि सोनार इत्यादि संत इसी परंपरा के हैं।

इसी समय चक्रधर द्वारा स्थापित महानुभावीय ग्रंथकारों की एक अलग शृंखला का आरंभ हुआ। चक्रधर के पट्ट शिष्य नागदेवाचार्य ने महानुभाव पंथ को संघटित रूप देकर पंथ की नींव सुदृढ़ की। इन्हीं की प्रेरणा से महेंद्र भट, केशवराज सूरी आदि लोगों ने ग्रंथरचना की। चक्रधर जी के संस्मरण को बतलानेवाला महेंद्र भट का "लीलाचरित्र" इस पंथ का आद्य ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित स्मृतिस्थल, केशवराज सूरी का मूर्तिप्रकाश तथा दृष्टांतपाठ, दामोदर पंडित का वत्सहरण, नरेंद्र का रुक्मिणी स्वयंवर, भास्कर भट का शिशुपालवध और उद्धवगीता आदि महानुभाव पंथ के प्रमुख ग्रंथ हैं। शिशुपालवध तथा रुक्मिणी स्वयंवर ग्रंथ काव्य की दृष्टि से अत्यंत सरस एवं महत्त्वपूर्ण है।

अब ज्ञानदेव और नामदेव के समय की राज्यस्थिति बदल चुकी थी। यादवों का राज्य नष्ट होकर उसके स्थान पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण निराशा की गहरी छाया छाई हुई थी। उसे दूरकर परमार्थ मार्ग को फिर से प्रकाशमान बनाने का कार्य मराठवाडा के अंतर्गत पैठण क्षेत्र के निवासी संत एकनाथ ने किया। इनके ग्रंथ विशद तथा साहित्यिक गुणों से संपन्न है। इनमें वेदांत ग्रंथ, आख्यान, कविता, स्फुट प्रकरण, लोकगीत, रामायणकथा इत्यादि नाना प्रकार के साहित्य का समावेश है। एकनाथी भागवत, भावार्थ रामायण, रुक्मिणी स्वयंवर, भारुड आदि ग्रंथ मराठी में सर्वमान्य हैं। एकनाथ के ही समय में प्रचुर मात्रा में साहित्यनिर्माण करनेवाले दासोपंत नामक कवि हुए। एकनाथ के पौत्र (नाती) मुक्तेश्वर के "कलाविलास" को मराठी भाषा में उच्च स्थान प्राप्त है। इनके लिखे महाभारत के पाँचों पर्व मानो नवरसों से सुसज्जित मंदाकिनी ही हैं।

तुकाराम तथा रामदास

17वीं शती में तुकाराम तथा रामदास ने एक ही समय धर्मजागृति का व्यापक कार्य किया। ज्ञानदेवादि वारकरी संप्रदाय के अधिकारियों द्वारा निर्मित धर्ममंदिर पर तुकाराम के कार्य ने मानों कलश बैठाया। पोथी पंडितों के अनुभवशून्य वक्तव्यों तथा कर्मकांड के नाम पर दिखलाए जानेवाले ढोंग का भंडाफोड़ करने में तुकाराम की वाणी को अद्‌भूत ओज प्राप्त हुआ। फिर भी जिस साधक अवस्था से उन्हें जाना पड़ा उसका उनके द्वारा किया हुआ वर्णन काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

रामदास का साहित्य परमार्थ के साथ-साथ प्रापंचिक सावधानता का तथा समाजसंघटन का उपांग है। गुरु होने के कारण उनके चरित्र की उज्ज्वलता बढ़ गई। फिर भी उनके द्वारा प्रयत्नवाद, लोकसंग्रह, दुष्टों के दलन इत्यादि के संबंध में दिए गए बोध के कारण उन्हें स्वयं ही वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है। दासबोध, मनाचे श्लोक, करुणाष्टक आदि उनके ग्रंथ परमार्थ के विचार से परिपूर्ण हैं। उनके कतिपय अध्यायों के विषय राजनीतिक विचारों से प्रभावित हैं।

तुकाराम रामदास के कालखंड में वामन पंडित, रघुनाथ पंडित, सामराज, नागेश, तथा विट्ठल आदि शिवकालीन आख्यानकर्ता कवियों की एक लंबी परंपरा हो गई। शब्दचमत्कार, अर्थचमत्कार, नाद माधुर्य और वृत्तवैचित्र्य इत्यादि इन आख्यानों की विशेषताएँ हैं। वामन नामक पंडित की यथार्थदीपिका गीताटीका उनकी विद्वत्ता के कारण अर्थगंभीर व तत्त्वांगप्रचुर हो गई है। स्वप्न में तुकाराम का उपदेश प्राप्त कर लेनेवाले महीपति प्राचीन मराठी के विख्यात संत चरित्रकार हो गए हैं। कृष्णदयार्णव का "हरिवरदां" तथा श्रीधर कवि के हरिविजय, रामविजय, आदि ग्रंथ सुबोध व रसपूर्ण होने के कारण अबाल वृद्धों को बहुत पंसद आए। इन परमार्थ प्रवृत्त पंडितों की परंपरा में मोरोपंत का विशिष्ट स्थान है। इनके रचित आर्या भारत, 108 रामायण तथा सैकड़ों फुटकर काव्यरचनाएँ भाषाप्रभुत्व एवं सुरस वर्णनशैली के कारण विद्वन्मान्य हुई हैं।

पेशवाओं के समय में "शाहिरी" (राजाश्रित) कवियों ने मराठी काव्य की अलग ही रूप रंग प्रदान किया। रामजोशी, प्रभाकर होनाजी बाला इत्यादि कवियों ने संत कवियों के अनुसार परमार्थ पर काव्यरचना न करते हुए समकालीन इतिहास सामग्री ग्रहण कर वीरसपूर्ण काव्य का निर्माण किया। इन कवियों द्वारा रचित "पोवाडा" (पँवाडा, कीर्तिकाव्य) साहित्य महाराष्ट्र के इतिहास का

ओजस्वी अंग है। इन्हीं राजकवियों के लावणी साहित्य में स्त्रीपुरुषों के शृंगार का भव्य वर्णन है। यद्यपि इनमें से कितनों ने ही वैराग्य पर भी "लावणी" साहित्य का निर्माण किया है, फिर भी इनका वैशिष्ट्य पोवाड़े तथा शृंगारिक लावणियों में ही व्यक्त हुआ है।

बखर साहित्य

प्राचीन मराठी साहित्य प्रधानत: पद्यमय होने के कारण उसमें गद्य का भाग बहुत छोटा होना स्वाभाविक है। इसमें बखर साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया साधार न होने पर भी उपेक्षणीय नहीं। कृष्णाजी शामराव की लिखी भाऊ साहेब की बखर, कृष्णाजी अनंत सभासद लिखित शिव छत्रपति की बखर, सोवनी द्वारा लिखी पेशवाओं की बखर इत्यादि बखरें प्राचीन मराठी गद्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक कालखंड के राजपुरुषों के जो हजारों पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी अनेक साहित्यिक गुणों का मनोरम दर्शन होता है।

अंग्रेजों के पूर्वकालीन साहित्य की सीमा यहाँ समाप्त होती है और एक नए युग का प्रारंभ होता है। इस समय के साहित्य की प्रेरणा प्राय: धर्मजीवन के लिये ही थी, अत: इस दीर्घ कालखंड में निर्मित साहित्य अत्यंत विशद होने पर भी अधिकांश एक ही सा है। काव्यों के विषय, आध्यात्मिक विचार, पौराणिक कथाएँ तथा ऐसी ही अन्य बातें थीं जो थोड़े से हेरफेर के साथ पुन:-पुन: आई सी मालूम होती हैं। समय के हेरफेर से तथा व्यक्ति के बदलने से वर्णन की पद्धति बदली परंतु साहित्य में एक ही परमार्थ प्रवाह बराबर बहता रहा।

नए युग का आरंभ

अंग्रेजों के शासन काल से ही महाराष्ट्र के नवयुवकों में अपनी निश्चित सीमा से कुछ दूर जाने के प्रयत्न चल रहे थे। मुद्रणकला का प्रचार होने से साहित्य पढ़नेवाले वर्ग की सर्वत्र वृद्धि होने लगी, अत: उनकी संतुष्टि के लिये साहित्यिक भी नवीन साहित्यक्षेत्रों में प्रवेश करने लगे। 1857 में बाबा पदमजी ने "यमुनापर्यटन" नामक प्रथम उपन्यास लिखकर इस नवीन साहित्य प्रकार का शुभारंभ किया। इसी तरह वि-ज-कीर्तने के 1861 में लिखे "थोरले माधवराव पेशवे" ऐतिहासिक नाटक के कारण नाट्य साहित्य में नए युग का सूत्रपात हुआ। क्रमश: निबंध, चरित्र, व्याकरण, कोश, धर्मनीति तत्त्वज्ञान, प्रवासवर्णन, इत्यादि अनेक विभागों में साहित्यनिर्माण होने लगा। अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य के

ललित और शास्त्रीय ग्रंथों के मराठी अनुवाद बड़ी संख्या में होने लगे। कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, परशुराम तात्या गोडबोले, लोकहितवादी देशमुख, दादोबा पांडुरंग आदि बहुश्रुत व्यक्तियों ने अनेक विषयों पर ग्रंथरचना कर मराठी वाड़मय को विकास के क्षेत्र में सभी ओर से नया मोड़ दिया। इस समय के विविध ज्ञानविस्तार, ज्ञानप्रकाश, ज्ञानसंग्रह, दिग्दर्शन आदि नियमित पात्रों ने भी ज्ञान का पौसरा चलाकर मानो नई पीढ़ियों की साहित्यिक पिपासा शांत करने में हाथ बँटाया।

1874 में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर द्वारा शुरू की गई निबंधमाला के कारण मराठी साहित्य में ही नहीं अपितु महाराष्ट्र की विचार परंपरा में भी क्रांति होकर नए युग की प्रतिष्ठापना हुई। नव सुशिक्षित वर्ग में अपना देश, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति आदि के संबंध में स्वाभिमान जाग्रत हुआ। अंग्रेजी साहित्य के वैशिष्ट्य को आत्मसात् करते हुए वह ऐसे साहित्य के लिये प्रवृत्त हुआ जिससे भारतीय संस्कृति के भविष्य का पोषण होता।

आधुनिक काल

1920-1855

1855 में लिखे तृतीय रत्न नाटक जिसे महात्मा फूले ने लिखा था। उसकी चर्चा न के बराबर होती है। आपटे ने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा भूतकालीन घटनाओं को बड़े ही सुंदर ढंग से चित्रित किया। तथा सामाजिक उपन्यासों द्वारा स्त्रियों के दु:खी जीवन का हृदयद्रावक चित्र भी खींचा। श्री अण्णा साहेब किर्लोस्कर ने 1880 में शाकुंतल नाटक लिखकर आधुनिक मराठी रंगभूमि की नींव डाली। इन्हीं की परंपरा में गो-द-देवल ने सबसे पहले प्रभावोत्पादक नाटक लिखकर नाट्य साहित्य को नई दिशा प्रदान की। 1885 से केशवसुत नामक कवि ने काव्यक्षेत्र में नए युग की स्थापना की।

ऐतिहासिक सुख में विश्वास, अकृत्रिम प्रेम तथा आत्मनिष्ठा इत्यादि गुण इन कविताओं का वैशिष्ट्य रहा। इनके बाद तिलक, बी-गोविदाग्रज, बालकवि चंद्रशेखर, तांबे इत्यादि कवियों ने मराठी कविताओं के सौंदर्य का सामर्थ्य और अधिक बढ़ाया। सावरकर तथा गोविंद ने राष्ट्रीय भावनाओं का उद्दीपन करनेवाली कविताएँ लिखीं। इतिहासाचार्य राजवाडे ने मराठी इतिहास के संशोधन की परंपरा का निर्माण किया। खरेशास्त्री, साने, पारनीस आदि इतिहासज्ञों ने इतिहासलेखन के साधनों की महत्त्वपूर्ण खोज करने का प्रयत्न किया। लोकमान्य बाल गंगा जी

तिलक की ओजस्वी विचारधारा के आधार पर खाडिलकर ने उत्कृष्ट पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण किया। इसी समय रामगणेश गडकरी ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा से करुण एवं हास्य रस का उत्तम चित्रण किया। श्रीकृष्ण कोल्हाटकर ने अपने हास्यपूर्ण लेखों द्वारा सामाजिक आचार-विचार में दिखलाई पड़नेवाली त्रुटियों को सर्वमान्य जनता के सामने ला रखा। महात्मा फूले, लोकमान्य तिलक, आगरकर, परांजपे, नरसिंह, चिंतामणि केलकर आदि प्रसिद्ध लेखक इसी समय देश में विचारजाग्रति का महान कार्य कर रहे थे। लोकरंजन की अपेक्षा विविध विषयों के ज्ञानभंडार की पूर्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण मानक साहित्यनिर्माण का कार्य किया गया।

1920-1945

इसके बाद की कालावधि में लोकरंजन को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। प्रमुख आशय के साथ-साथ उद्देश्य की अभिव्यक्ति का भी विचार होने लगा। फिर भी यह नहीं भुलाया गया कि साहित्य ही समाज के मन पर विशिष्ट संस्कार डालनेवाला प्रभावी साधन है। डा.केतकर, वा.म.जोशी, वि.स.खांडेकर ने कलाप्रदर्शन की अपेक्षा ध्येयवादी जीवनदर्शन को ही अपने उपन्यासों में महत्त्व का स्थान दिया। श्री मांडखोलकर ने समकालीन राजकीय घटनाओं के आधार पर अनेक उपन्यासों का सृजन किया। श्री विभावरी शिरुकर जी ने अपने कथासाहित्य में संपन्न समाज की महिलाओं के मन की सूक्ष्म विचारतरंगों को बड़ी सफलता से चित्रित किया।

ना.सी.फड़के ने अनेक प्रणयकथाएँ सुदंर शैली में लिखीं जो यथेष्ट लोकप्रिय हुईं। रविकिरण मंडल के कवियों ने, विशेषत: माध्व ज्यूलियन और यशवंत ने वैयक्तिक दु:खों का वर्णन करनेवाले काव्यों की रचना की। इसके बाद के कालखंड में अनिल, बोरकर, कुसुमाग्रज, आदि कवि सामने आए। प्रल्हाद केशव अत्रे ने हास्य एवं समस्याप्रधान नाटकों का निर्माण किया। वरेरकर ने समय-समय पर दृष्टिगोचर होनेवाली समस्याओं को प्रधानता देनेवाले नाटकों को सृजन कर बहुत बड़ा कार्य किया।

इसी समय व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर लिखे गए निबंध भी लघुकथाओं के रूप में सामने आए। श्री म.माटे द्वारा लिखित कथाओं में अस्पृश्य समाज के सुख दु:खों की करुण कहानी देखने को मिली। ठीक इसी समय य. गो.जोशी द्वारा मध्यम वर्गीय समाज के सुख दु:खों को कथाओं का रूप देकर जनता के सम्मुख रखा गया। वि.दा.सावरकर, म.माटे, के.क्षीरसागर, पु.ग.सहस्रबुद्धे,

दत्तोवमान पोतदार, आदि विद्वानों ने बहुमूल्य निबंधों द्वारा साहित्यभंडार की अभिवृद्धि की। द.के.केलकर, रा.श्री.जोग तथा के.ना.बाटवे ने पौरस्त्य एवं पश्चिमात्य शास्त्रीय तथा साहित्यकीय विचारों का सांगोपांग अध्ययन किया।

1945-1965

इस कालखंड का आरंभ ही दूसरे महायुद्ध के समय निर्मित साहित्य के आधार पर हुआ। इस काल के वाड़मय से इसके पूर्व के काव्य और कथाओं के प्रमुख आशय को एवं आविष्कारादि संकेतों को जबरदस्त धक्का लगा जिसके फलस्वरूप साहित्य का मूल्य ध्वस्त होता-सा प्रतीत होने लगा। मानव जीवन की असफलता, तुच्छता, घृण्यता तथा परस्पर के अकल्पनीय संबंधों का असुंदर जी की कविताओं ने रसिकों की काव्यदृष्टि में ही परिवर्तन कर दिया। गाडगील, भावे, गोखले आदि मनीषियों द्वारा लिखित साहित्य में मनोमय व्यापार, उग्र वासना का प्रक्षोभ एवं गूढ़ विचार तरंग इत्यादि की जो विशिष्टता अभिव्यंजित की गई, उसके कारण वाड़मय का स्वरूप ही बदल गया। वि.दा.करंदीकर तथा मुक्तिबोध काव्यों में मानववाद की अभिव्यक्ति हुई।

ग्रामीण जीवन का यथार्थ दर्शन व्यंकटेश माडगुलकर ने कराया, तो दूसरी ओर माधव शास्त्री जोशी ने मध्यवर्गीय जीवन का वास्तविक चित्र जनता के सम्मुख रखा। संपन्न वर्ग के स्त्री-पुरुषों के सुख एवं दु:खों का दिग्दर्शन रांगणेकर, कालेलकर, बाल कोल्हाटकर इत्यादि द्वारा लिखे नाटकों में दिखाई पड़ता है, जो विद्याघर गोखले द्वारा लिखित नाटक में प्राचीन संगीत नाट्यकला पुनरुज्जीवित हो उठी है।

पेंडसे, दांडेकर, माडगूलकर आदि के उपन्यासों में प्रादेशिक हलचल के साथ सूक्ष्म भावना दर्शन को भी महत्त्व दिया गया है। श्री रणजीत देसाई एवं इनामदार ने ऐतिहासिक उपन्यासों का पुनरुद्धार किया। इसी प्रकार तेंदुलकर, साठे, खानोलकर इत्यादि ने नए ढंग के नाटकों का प्रणयन किया। कानेरकर जी द्वारा लिखित प्रयोगी नाटक इसी कालखंड में लिखे गए।

मर्ढेकर, वा.ल.कुलकर्णी, श्री.के.क्षीरसागर, रा.शं.वालिंबे, दि.के.बेडेकर आदि विद्वानों ने साहित्य के मूल सिद्धांतों की चर्चा करनेवाले अत्यंत मूल्यवान् एवं आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किए। नेने, मिराशी, कोलते, तुलपुल इत्यादि विद्वानों का संशोधनात्मक वाड़मय भी इसी समय निर्मित हुआ। पु.ल. देशपांडे के ठोस विनोदी साहित्य ने रसिकों के मन में अचल स्थान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार सन् 1874 से निर्मित आधुनिक मराठी वाङ्मय रूपधारी सरस्वती की धारा काव्य, कथा, नाटक, उपन्यास, चरित्र एवं इतिहास संशोधनादि प्रवाहों से दिन प्रति समृद्ध हो रही है।

1990 के आगे

इस कालखंड का आरंभ 1990 से पहले 'शब्दवेध' (संपादक दा: गो. काले) से हुआ। श्रीधर तिळवे (1992) कि 'एका भारतीय विद्यार्थ्याचे उद्‌गार' और सलील वाघ (1996) कि 'निवडक कविता' इन किताबों में नये आयाम और भूमंडलीकरण तथा आधुनिकोत्तर संवेदना पायी जाती है। तत्पश्चात 'अभिधा' और 'अभिधानंतर' (संपादक - हेमंत दिवटे), 'सौष्ठव' (संपादक - श्रीधर तिल्वे, राहुल सरवटे) 'नवाक्षर दर्शन' (संपादक - प्रवीण बांदेकर), 'खेल' (संपादक - मंगेश काळे), 'ऐवजी' (संपादक - रमेश इंगले उत्रादकर) आधी लघुपत्रिकाओं का काफी योगदान रहा। कविता में श्रीधर तिळवे, संजीव खांडेकर, सलील वाघ, वर्जेश सोलंकी, मान्या जोशी, नितीन कुलकर्णी, मंगेश नारायणराव काले, हेमंत दिवटे, सचिन केतकर आदी कवियों ने भूमडलीकरण तथा पोस्तमाडर्न संवेदानाओं के अपने दायरे में लाया। कादंबरीं में रमेश इंगले, जी. के. ऐनापुरे, प्रवीण बांदेकर, मेघना पेठेने कादंबरी के नये परिमाण खोजे।

11

कन्नड़ भाषा एवं साहित्य

कन्नड़ भारत के कर्नाटक राज्य में बोली जानेवाली भाषा तथा कर्नाटक की राजभाषा है। यह भारत की उन 22 भाषाओं में से एक है, जो भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित हैं। यह भारत की सबसे अधिक प्रयोग की जाने वाली भाषाओं में से एक है। 4.50 करोड़ लोग कन्नड़ भाषा प्रयोग करते हैं। एन्कार्टा के अनुसार, विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली 30 भाषाओं की सूची में कन्नड़ 27वें स्थान पर आती है। यह द्रविड़ भाषा-परिवार में आती है पर इसमें संस्कृत के भी बहुत से शब्द हैं। कन्नड़ भाषी लोग इसको 'सिरिगन्नड' कहते हैं। कन्नड़ भाषा का अस्तित्व कोई 2500 वर्ष पूर्व से है तथा कन्नड़ लिपि का प्रयोग कोई 1900 वर्ष से हो रहा है। कन्नड़ अन्य द्रविड़ भाषाओं की तरह है और तेलुगू, तमिल और मलयालम इस भाषा से मिलती-जुलती हैं। कन्नड़ संस्कृत भाषा से बहुत प्रभावित है और संस्कृत के बहुत सारे शब्द कन्नड़ में भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। भारत सरकार ने कन्नड़ को भी भारत की एक शास्त्रीय भाषा (क्लासिकल लैंगवेज) घोषित किया है।

'कन्नड़' तथा 'कर्नाटक' शब्दों की व्युत्पत्ति

कन्नड़ तथा कर्नाटक शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न मत हैं। यदि किसी विद्वान् का यह मत है कि "कंरिदुअनाडु" अर्थात् "काली मिट्टी का देश" से कन्नड़ शब्द बना है तो दूसरे विद्वान् के अनुसार "कपितु नाडु" अर्थात् "सुगंधित देश" से "कन्नाडु" और "कन्नाडु" से "कन्नड़" की व्युत्पत्ति हुई है। कन्नड़ साहित्य के इतिहासकार आर. नरसिंहाचार ने इस मत को स्वीकार किया है। कुछ वैयाकरणों का कथन है कि कन्नड़ संस्कृत शब्द "कर्नाट" का

तद्भव रूप है। यह भी कहा जाता है कि "कर्णयो अटति इति कर्नाटक" अर्थात जो कानों में गूँजता है वह कर्नाटक है। प्राचीन ग्रंथों में कन्नड़, कर्नाट, कर्नाटक शब्द समानार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। महाभारत में कर्नाट शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है (कर्नाटकश्च कुटाश्च पद्मजाला: सतीनरा:, सभापर्व, 78, 94, कर्नाटका महिषि का विकल्पा मूषकास्तथा, भीष्मपर्व 58-59)। दूसरी शताब्दी में लिखे हुए तमिल "शिलप्पदिकारम्" नामक काव्य में कन्नड़ भाषा बोलने वालों का नाम "करुनाडर" बताया गया है। वराहमिहिर के बृहत्संहिता, सोमदेव के कथासरित्सागर, गुणाढ्य की पैशाची "बृहत्कथा" आदि ग्रंथों में भी कर्नाट शब्द का बराबर उल्लेख मिलता है।

'कर्नाटक' शब्द अंग्रेजी में विकृत होकर कर्नाटिक (Karnatic) अथवा केनरा (Canara), फिर केनरा से केनारीज (Canarese) बन गया है। उत्तरी भारत की हिंदी तथा अन्य भाषाओं में कन्नड़ शब्द के लिए कनाडी, कन्नड़ी, केनारा, कनारी का प्रयोग मिलता है। आजकल कर्नाटक तथा कन्नड़ शब्दों का निश्चित अर्थ में प्रयोग होता है—कर्नाटक प्रदेश का नाम है और "कन्नड़" भाषा का।

कन्नड़ भाषा तथा लिपि

द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाएँ पंचद्राविड़ भाषाएँ कहलाती हैं। किसी समय इन पंचद्राविड़ भाषाओं में कन्नड़, तमिल, तेलुगू, गुजराती तथा मराठी भाषाएँ सम्मिलित थीं। किंतु आजकल पंचद्राविड़ भाषाओं के अंतर्गत कन्नड़, तमिल, तेलुगू, मलयालम तथा तुलु मानी जाती हैं। वस्तुत: तुलु कन्नड़ की ही एक पुष्ट बोली है, जो दक्षिण कन्नड़ जिले में बोली जाती है। तुलु के अतिरिक्त कन्नड़ की अन्य बोलियाँ हैं-कोडगु, तोड, कोट तथा बडग। कोडगु कुर्ग में बोली जाती है और बाकी तीनों का नीलगिरि जिले में प्रचलन है। नीलगिरि जिला तमिलनाडु राज्य के अंतर्गत है।

रामायण-महाभारत-काल में भी कन्नड़ बोली जाती थी, तो भी ईसा के पूर्व कन्नड़ का कोई लिखित रूप नहीं मिलता। प्रारंभिक कन्नड़ का लिखित रूप शिलालेखों में मिलता है। इन शिलालेखों में हल्मिडि नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख सबसे प्राचीन है, जिसका रचनाकाल 450 ई. है। सातवीं शताब्दी में लिखे गए शिलालेखों में बादामि और श्रवण बेलगोल के शिलालेख महत्त्वपूर्ण हैं। प्राय: आठवीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों में गद्य का ही प्रयोग हुआ है और

उसके बाद के शिलालेखों में काव्यलक्षणों से युक्त पद्य के उत्तम नमूने प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखों की भाषा जहाँ सुगठित तथा प्रौढ़ है वहाँ उसपर संस्कृत का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार यद्यपि आठवी शताब्दी तक के शिलालेखों के आधार पर कन्नड़ में गद्य-पद्य-रचना का प्रमाण मिलता है तो भी कन्नड़ के उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रंथ का नाम "कविराजमार्ग" के उपरांत कन्नड़ में ग्रंथनिर्माण का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ा और भाषा निरंतर विकसित होती गई। कन्नड़ भाषा के विकासक्रम की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं, जो इस प्रकार हैं–

अतिप्राचीन कन्नड़ (आठवीं शताब्दी के अंत तक की अवस्था), हळ कन्नड़ (प्राचीन कन्नड़) (9वीं शताब्दी के आरंभ से 12वीं शताब्दी के मध्य-काल तक की अवस्था), नडु गन्नड (मध्ययुगीन कन्नड़) (12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक की अवस्था) और होस गन्नड (आधुनिक कन्नड़) (19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अब तक की अवस्था)।

चारों द्राविड़ भाषाओं की अपनी पृथक-पृथक लिपियाँ हैं। डॉ.एम.एच. कृष्ण के अनुसार इन चारों लिपियों का विकास प्राचीन अंशकालीन ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शाखा से हुआ है। बनावट की दृष्टि से कन्नड़ और तेलुगू में तथा तमिल और मलयालम में साम्य है। 13वीं शताब्दी के पूर्व लिखे गए तेलुगू शिलालेखों के आधार पर यह बताया जाता है कि प्राचीन काल में तेलुगू और कन्नड़ की लिपियाँ एक ही थीं। वर्तमान कन्नड़ की लिपि बनावट की दृष्टि से देवनागरी लिपि से भिन्न दिखाई देती हैं, किंतु दोनों के ध्वनिसमूह में अधिक अंतर नहीं है। अंतर इतना ही है कि कन्नड़ में स्वरों के अतंर्गत "ए" और "ओ" के ह्रस्व रूप तथा व्यंजनों के अंतर्गत वत्स्य "ल" के साथ-साथ मूर्धन्य "ल" वर्ण भी पाए जाते हैं। प्राचीन कन्नड़ में "र" और "ळ" प्रत्येक के एक-एक मूर्धन्य रूप का प्रचलन था, किंतु आधुनिक कन्नड़ में इन दोनों वर्णों का प्रयोग लुप्त हो गया है। बाकी ध्वनिसमूह संस्कृत के समान है। कन्नड़ की वर्णमाला में कुल 47 वर्ण हैं। आजकल इनकी संख्या बावन तक बढ़ा दी गई है।

कन्नड़ साहित्य

कन्नड़ साहित्य का इतिहास लगभग डेढ़ हजार वर्ष पुराना है। कुछ साहित्यिक कृतियाँ जो 9वीं शताब्दी में रची गयीं थीं, अब भी सुरक्षित हैं। कन्नड़ साहित्य को मुख्यतः तीन साहित्यिक कालों में बांटा जाता है- प्राचीन काल

(450-1200 CE), मध्यकाल (1200-1700 CE) तथा आधुनिक काल (1700 से अब तक)। कन्नड़ साहित्य की एक विशेष बात यह है कि इसमें जैन, वीरशैव और वैष्णव तीनों सम्प्रदायों ने साहित्य रचना की जिससे मध्यकाल में तीन स्पष्ट धाराएँ दिखतीं हैं। यद्यपि 18वीं शताब्दी से पूर्व का अधिकांश साहित्य धार्मिक था, किन्तु कुछ असाम्प्रदायिक साहित्य भी रचा गया।

काल विभाजन

कन्नड़ साहित्य के इतिहास पर जितने छोटे-बड़े ग्रंथ रचे गए हैं उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं–

सन् 1875 में रे. एफ. किट्टल द्वारा लिखी नागवर्मा के "छंदोंबुधि" नामक ग्रंथ की प्रस्तावना, एपिग्राफिया कर्नाटिका में बी.एल. राइस का लेख, आर. नरसिंहाचार का लिखा हुआ "कर्नाटक कविचरित" (तीन भागों में, 1907),

ई.पी.राइस की "ए हिस्ट्री ऑव केनरीस लिटरेचर" (अंग्रेजी में),

डॉ.आर.एस.मुगलि का "कन्नड़ साहित्य चरित्रे" (1953)।

श्री.एम. मरियप्प भट्ट का "संक्षिप्त कन्नड़ साहित्य चरित्रे" (1901)।

इन इतिहासों में कन्नड़ साहित्य के इतिहास का कालविभाजन भिन्न-भिन्न आधारों पर किया गया है। किसी ने 12वीं शताब्दी के मध्यकाल तक जैन युग, 12वीं शताब्दी के मध्यभाग से 15वीं शती के मध्यभाग तक "वीरशैव युग", 15 वीं शताब्दी के मध्यभाग से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक "ब्राह्मण युग" और उसके बाद के काल को आधुनिक युग माना है, और किसी विद्वान् के अनुसार आरंभकाल 10वीं शताब्दी तक, धर्म-प्राबल्य-काल, (10वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक जैन कवि, वीरशैव कवि, ब्राह्मण कवि) रगले, षटपदि एवं नवीनकल कहा है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब तक लिखे गए कन्नड़ साहित्य के इतिहासों में डॉ. आर.एस। मुगलि का लिखा हुआ कन्नड़ साहित्य चरित्रे कई दृष्टियों से सर्वोत्तम है। अत: यह कह सकते हैं कि मुगलि का कालविभाजन सर्वाधिक मान्य है, जो इस प्रकार है-

पंपपूर्व युग (सन् 950 तक),

पंप युग (सन् 950 से सन् 1150 तक),

बसवयुग (सन् 1150 से 1500 तक),

कुमारव्यास युग (सन् 1500 से 1900 तक) और

आधुनिक युग (सन् 1900 से)

प्रो. मुगलि ने प्रत्येक युग के सर्वाधिक प्रतिभासंपन्न कवि के नाम से उस युग का नामकरण करते हुए मोटे तौर पर सारे साहित्य को मार्ग युग, संक्रमण युग, देशी युग के रूप में विभाजित किया है।

पंपपूर्व युग

"कविराजमार्ग", कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है। चंपू शैली में लिखा हुआ यह रीतिग्रंथ प्रधानतया दंडी के "काव्यादर्श" पर आधरित है। इसका रचनाकाल सन् 815-877 के बीच माना जाता है। इस बात में विद्वानों में मतभेद है कि इसके रचयिता मान्यखेट के राष्ट्रकूट चक्रवर्ती स्वयं नृपतुंग थे या उनका कोई दरबारी कवि। डॉ. मुगलि का यह मत है कि इसके लेखक नृपतुंग के दरबारी कवि श्रीविजय थे।

कविराजमार्ग का प्रतिपाद्य विषय अलंकार है। ग्रंथ तीन परिच्छेदों में विभाजित है। द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदों में क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण उदाहरण सहित किया गया है। प्रथम पच्छिेद में काव्य के दोषादोष (गुण, दोष) का विचार किया गया है। साथ ही ध्वनि, रस, भाव, दक्षिणी और उत्तरी काव्य पद्धतियाँ, काव्यप्रयोजन, साहित्यकार की साधना, साहित्यविमर्श के स्वरूप आदि का संक्षेप में परिचय दिया गया है। कन्नड़ भाषा, कन्नड़ साहित्य, कन्नड़ प्रदेश, कर्नाटक की जनता की संस्कृति आदि कई बातों की दृष्टि से कविराज मार्ग एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

इस काल का दूसरा ग्रंथ है "वड्डाराधने" जिसमें 19 जैन महापुरुषों की कहानियाँ गद्य में निरूपित हैं। इसके लेखक तथा रचनाकाल के संबंध में यही समझा जाता है कि शिवकोटयाचार्य नामक जैन कवि ने इसे सन् 900-1070 के बीच रचा था। यह प्राकृत के "भगवतीआराधना" नामक ग्रंथ के आधार पर रचा गया है और इसमें उत्तम काव्य के गुण मिलते हैं। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमें कन्नड़ के गद्य का सर्वप्रथम रूप प्राप्त होता है। उपर्युक्त दो ग्रंथों के अतिरिक्त अब तक इस काल का अन्य कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है।

पंप युग

कन्नड़ साहित्य के इतिहास में पंप का काल विशेष महत्त्वपूर्ण है, जो "स्वर्णयुग" के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस काल का दूसरा नाम है "जैन युग",

क्योंकि इस अवधि में कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि करने वालों में जैन मतावलंबी कवियों का विशेष हाथ रहा। इन जैन कवियों में प्रत्येक ने प्रधानतया दो प्रकार के काव्य रचे-एक जैन धर्म संबंधी काव्य अथवा धार्मिक काव्य की वस्तु किसी तीर्थंकर या महापुरुष की कहानी होती थी और लौकिक काव्य में पौराणिक काव्यों के कथानकों का चित्रण होता था। इस प्रकार दो-दो ग्रंथ रचने का उद्देश्य एक और जैन धर्म के तत्वों का प्रचार करना था और दूसरी ओर संस्कृत के लोकप्रिय महाकाव्यों का कन्नड़ में प्रतिरूप प्रस्तुत करके लोगों को अपने धर्म की ओर आकर्षित करना था। ये जैन कवि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के विद्वान् थे, साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे और प्रतिभासंपन्न कवि भी।

इन कवियों ने आवश्यक परिवर्तन के साथ पौराणिक कथानकों को अपने धर्म के अनुकूल अवश्य बनाया, किंतु उनकी मौलिकता को नष्ट न होने देकर रोचकता को बनाए रखा। जैन कवियों की रचनाओं से कन्नड़ भाषा और साहित्य का बड़ा उपकार हुआ। इस अवधि में चंपू काव्यशैली का विशेष प्रचार हुआ। इस समय के धार्मिक काव्यों में अद्‌भूत तथा शांत और लौकिक काव्यों में वीर तथा रौद्र रसों की विशेष रूप से अभिव्यंजना हुई। उपर्युक्त दो प्रकार के काव्यों के अतिरिक्त छंद, रस, अलंकार, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयों पर भी ग्रंथ लिखे गए। इस प्रकार इस युग में कन्नड़ साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

इस युग के प्रसिद्ध कवि तीन थे-पंप, पोन्न तथा रन्न जो "रन्नत्रयी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। महाकवि पंप अथवा आदि पंप ने दो काव्य रचे-"आदिपुराण" और "विक्रमार्जुनविजय" अथवा "पंपभारत"। आदिपुराण में जिनसेनाचार्यकृत संस्कृत पूर्वपुराण के आधार पर प्रथम तीर्थकर वृषभनाथ का जीवनचरित चित्रित किया गया है और "विक्रमार्जुनविजय" में महाभारत के कथानक का निरूपण किया गया है। ये दोनों चंपूकाव्य हैं। पंप कन्नड़ के आदिकवि माने जाते हैं। इनका समय सन् 941 के लगभग माना जाता है।

पोन्न पंप के समकालीन थे। उन्होंने तीन ग्रंथ रचे थे-"शांतिपुराण", "जिनाक्षरमाला" तथा "भुवनैकरामाभ्युदय"। अंतिम ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। रन्न की मुख्य रचनाएँ दो हैं-"अजितपुराण" तथा "साहस भीमविजय" अथवा "गदायुद्ध"। गदायुद्ध के नायक भीम हैं। गदायुद्ध में वीररस की अनूठी व्यंजना हुई है। इसी काव्य से रन्न की कीर्ति अचल हुई है।

पंप युग के अन्य कवियों में चाउंडराय, नागवर्म (प्रथम), दुर्गसिंह, चंद्रराज, नागचंद्र, नागवर्म (द्वितीय) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। चाउंडराय का "चाउंडरायुपराण" प्राचीन कन्नड़ गद्य का सुंदर नमूना है। नागवर्म प्रथम के दो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं-"कर्नाटक कांदबरी" तथा "छंदोंबुधि"। "कर्नाटककादंबरी" बाण की कादंबरी का कन्नड़ प्रतिरूप है। यह चंपू शैली में है। प्रो. मुगलि का मत है कि कन्नड़ में अनूदित जितने ग्रंथ हैं उनमें नागवर्म (प्रथम) की कर्नाटककादंबरी सर्वश्रेष्ठ है-चंद्रराज और श्रीधराचार्य नागवर्म (प्रथम) के समकालीन कवि हैं। चंद्रराज का कामशास्त्र पर लिखा हुआ "मदनतिलक" नामक ग्रंथ और श्रीधराचार्य का "जातकतिलक" नामक ज्योतिष ग्रंथ, दोनों उत्तम कृतियाँ हैं। इसी काल में दुर्गसिंह ने, जो भागवत संप्रदाय के कवि थे, संस्कृत "पंचतंत्र" का अनुवाद प्रस्तुत किया।

11वीं और 12वीं शताब्दियों के बीच एक अन्य प्रसिद्ध कवि हुए, जिनका नाम नागचंद्र था। क्योंकि इन्होंने पंपभारत से प्रेरणा पाकर रामायण की रचना की, इसलिए इनका दूसरा नाम "अभिनव पंप" पड़ा। नागचंद्र ने भी पूर्ववर्ती जैन कवियों की भाँति दो काव्य रचे-ष्मल्लिनाथपुराण" तथा "रामचंद्रचरितपुराण" अथवा "पंपरामायण"। पंपरामायण ही कन्नड़ के उपलब्ध रामकथा संबंधी काव्यों में सबसे प्राचीन है।

पंपयुग में महाकवियों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपनी महान कृतियों से कन्नड़ को समृद्ध बनाया। यद्यपि इस काल में बड़े-बड़े कलात्मक प्रौढ़ काव्यों का निर्माण हुआ, तो भी समाज के साधारण लोगों के जीवन के साथ साहित्य का संपर्क नहीं था। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय के कवि राजाओं के आश्रय में रहते थे और वे जो कुछ लिखते थे, या तो अपने आश्रयदाता राजाओं का यश गाने के लिए लिखते थे या दरबार के अन्य पंडितों के बीच वाहवाही लुटने के लिए अथवा अपने धर्म का प्रचार करने के लिए। इसका परिणाम यह हुआ कि बोलचाल की भाषा साहित्य सर्जन के लिए उपयुक्त नहीं समझी गई। सर्वत्र संस्कृत का प्रभाव पड़ा। चंपू शैली में जो प्रौढ़ काव्य रचे गए वे साधारण जनता की वस्तु न होकर पंडितों तक सीमित रहे।

बसव युगम

12 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 15वीं शताब्दी तक का काल बसव युग कहलाता है। इस युग का दूसरा नाम "क्रांतियुग" है। इस समय कर्नाटक में

धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जो क्रांति से अछूता रह सका हो। इस क्रांति के उन्नायक बसव, बसवण्ण अथवा बसवेश्वर थे, इसलिए इस युग का नाम बसव युग पड़ा।

इस काल में संस्कृतनिष्ठ कन्नड़ के स्थान पर बोलचाल की कन्नड़ साहित्य के निर्माण के लिए उपर्युक्त समझी गई और संस्कृत की काव्यशैली के बदले देशी छंदों को विशेष प्रोत्साहन दिया गया। पिछली शताब्दियों में जैन मतावलंबियों का साहित्यक्षेत्र में सर्वाधिकार था। इस युग में भिन्न-भिन्न मतावलंबियों ने साहित्य के निर्माण में योग दिया। साहित्य की श्रीवृद्धि में भक्ति एक प्रबल प्रेरक शक्ति के रूप में सहायक हुई।

12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बसवेश्वर का आविर्भाव हुआ। उन्होंने वीरशैव मत का पुनः संघटन करके कर्नाटक के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में बड़ी उथल-पुथल मचाई। बसव तथा उनके अनुयायियों ने अपने मत के प्रचार के लिए बोलचाल की कन्नड़ को माध्यम बनाया। वीरशैव भक्तों ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार एवं नीति पर निराडंबर शैली में अपने अनुभवों की बातें सुनाई, जो वचन साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन वीरशैव भक्तों अथवा शिवशरणों के वचन एक प्रकार के गद्यगीत हैं। शिवशरणों ने साहित्य के लिए साहित्य नहीं रचा। उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारों का प्रचार करना ही था। उनके विचारों में सरलता थी, सचाई थी और सच्चे जिज्ञासु की रसमग्नता था। इसलिए उनकी वाणी में साहित्यिक सौष्ठव अपने आप आ गया। इन शिवशरणों के वचनों ने कर्नाटक में वही कार्य किया जो कबीर तथा उनके अनुयायियों ने उत्तर भारत में किया।

बसव ने भक्ति का उपदेश दिया और इस भक्ति की साधना में वैदिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा, जाति पाँति का भेदभाव, अवतारवाद, अंधश्रद्धा आदि को बाधक ठहराया। जातिरहित, वर्णरहित, वर्गरहित समाज के निर्माण द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक साधन का मार्ग सर्वसुलभ बनाना चाहा। बसव के समकालीन वीरशैव भक्तों में अल्लमप्रभु, अक्कमहादेवी, चेन्न-बंसव तथा सिद्धराम प्रमुख हैं।

इन वचनकार शिवशरणों के अतिरिक्त वीरशैव मतावलंबी बहुत से ऐसे कवि हुए जिन्होंने भक्तिभावप्रधान नाना प्रकार के काव्यग्रंथ देशी छंदों का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किए। 12वीं और 13वीं शताब्दियों के बीच तीन श्रेष्ठ कवि हुए हरिहर, राघवांक और पद्मरस। इस काल के जैन कवियों में नेमिचंद्र, बंधुवर्मा, जन्न, मल्लिकार्जुन, केशिराज, रट्टकवि और कुमुदेंदु मुनि के नाम उल्लेखनीय हैं।

13वीं शताब्दी में कर्नाटक की धार्मिक स्थिति में फिर से उथल पुथल हुई। एक ओर कर्नाटक रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्रीवैष्णव संप्रदाय से प्रभावित हुआ और दूसरी ओर उसमें मध्वाचार्य के द्वैत मत की भक्ति की नई लहर चली। इन दोनों वैष्णव संप्रदायों द्वारा चलाई गई भक्तिधारा से कन्नड़ साहित्य में नूतन शक्ति का संचार हुआ। परिणामस्वरूप पौराणिक महाकाव्यों के कथानकों का कन्नड़ में नए सिरे से विशुद्ध मूल रूप में निरूपण हुआ। इस अवधि में रुद्रभट्ट नामक एक वैष्णव कवि हुए जिनका "जगन्नाथविजय" कन्नड़ का सर्वप्रथम वैष्णव प्रबंध काव्य माना जाता है। यह चंपू शैली में लिखा गया है और इसकी कथावस्तु कृष्ण से संबंधित है।

कुमारव्यास युग

15वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के अंत तक का काल कुमारव्यास युग कहलाता है। इस अवधि में विजयनगर के सम्राटों तथा मैसूर के राजाओं ने कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि में विशेष हाथ बँटाया। वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ी जिसकी प्रतिक्रिया कन्नड़ साहित्य में भी दिखाई पड़ी। वैष्णव धर्म द्वारा प्रचारित भक्ति साहित्यसर्जन में प्रेरक शक्ति के रूप में प्रकट हुई। साहित्य जनता के अति निकट संपर्क में आया। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि नार्णप्प (नारणप्प) हैं, जो अपनी लोकप्रियता के कारण "कुमारव्यास" के अभिधान से प्रख्यात हुए। कुमारव्यास भागवत संप्रदाय के प्रमुख कवि थे।

नार्णप्प अथवा कुमारव्यास की जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा उनके रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। प्रो. मुगलि के अनुसार 14वीं और 15वीं शताब्दियों के बीच कुमारव्यास जीवित थे। कुमारव्यास ने "कन्नड़ भारत" अथवा "गदुगिन भारत" और "ऐरावत" नामक दो काव्य लिखे थे, ऐसा माना जाता है। लेकिन ऐरावत के उनकी कृति होने में संदेह प्रकट किया गया है। "कन्नड़ भारत" में व्यासरचित महाभारत के प्रथम दस पर्वो की कथा का निरूपण किया गया है। यद्यपि पंप ने अपने "पंपभारत" द्वारा महाभारत की सारी कथा का कन्नड़ प्रतिरूप प्रस्तुत किया था तो भी वह कुमारव्यास के कन्नड़भारत की तरह लोकप्रिय नहीं हो सका। इसके दो कारण हैं-एक यह है कि पंपभारत में पांडित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी और दूसरा यह कि उसमें जैन धर्म का रंग भी चढ़ा था।

कुमारव्यास के कन्नड़भारत के उपरांत महाभारत, रामायण और भागवत के कथानकों के आधार पर बहुत से उत्तम काव्य षट्पदि शैली में प्रस्तुत किए गए। कुमारव्यास के दिखलाए हुए मार्ग पर चलकर नरहरि अथवा कुमारवाल्मीकि नामक कवि ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर कन्नड़ में "तोरवेरामायण" की रचना की। यह भी भक्तिप्रधान प्रबंध काव्य हैं, जो प्राचीन कन्नड़ की एक सरस कलाकृति है। भागवत मतावलंबी कवियों में तिम्मण्ण कवि, चाटु विट्ठलनाथ, लक्ष्मीश तथा नागरस के नाम उल्लेखनीय हैं। कुमारव्यास से प्रेरणा पाकर तिम्मण्ण कवि ने महाभारत के अंतिम आठ पर्वों की कथा का निरूपण "कृष्णराज भारत" नामक अपने काव्य में किया। सबसे पहले समग्र भागवत का कन्नड़ पद्यानुवाद चाटु विट्ठलनाथ नामक भागवत कवि ने प्रस्तुत किया। लगभग इसी काल में एक अत्यंत प्रतिभासंपन्न कवि हुए जिनका नाम लक्ष्मीश था। इनका लिखा हुआ "जैमिनिभारत" अनुपम काव्य है जिसमें महाभारत के कतिपय रोचक प्रसंगों का सुंदर एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। लोकप्रियता की दृष्टि से कर्नाटक में कुमारव्यास के भारत के बाद जैमिनिभारत का स्थान है। नागरस नामक कवि ने भगवद्गीता का "वासुदेवकथामृतसार" नामक कन्नड़ पद्यानुवाद प्रस्तुत किया।

जिस प्रकार इस अवधि में कुमारव्यास, कुमारवाल्मीकि, लक्ष्मीश जैसे भागवत संप्रदाय के कवियों ने भारत, रामायण, भागवत आदि महाकाव्यों से कथावस्तु लेकर कन्नड़ में भक्तिप्रधान प्रबंध काव्यों का प्रणयन किया, उसी प्रकार माध्वमतावलंबी भक्तों ने बोलचाल की कन्नड़ में गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्ति का संदेश कर्नाटक के घर-घर पहुँचाया। इन भक्तों की परंपरा का आरंभ 13वीं शताब्दी में नरहरितीर्थ द्वारा हुआ था। इस समय इन भक्तों की एक बड़ी मंडली जुट गई थी जो प्रधानतया दो भागों में विभाजित थी। एक दल का नाम था "व्यासकूट" और दूसरे का "दासकूट"। इन दोनों में अंतर यही था कि वे भक्त व्यासकूट के कहलाते थे जो अधिकांश ब्राह्मण थे और जो अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत को ही उपयुक्त समझते थे, एवं वे भक्त दासकूट के माने जाते थे जिनमें सभी जातियों के लोग सम्मिलित थे और जो कन्नड़ के माध्यम से भजन, कीर्तन रचते थे। संप्रदाय की तत्व संबंधी बातों में "व्यासकूट" तथा "दासकूट" के भक्तों में कोई अंतर नहीं था। इन दोनों दलों के भक्त कर्नाटक में हरिदास के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन हरिदासों ने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोकव्यवहार आदि विषयों पर सरस, किंतु व्याकरणबद्ध

कन्नड़ में हजारों पद रचकर कन्नड़ साहित्य का भंडार भरा। हरिदासों की परंपरा 18वीं शती तक चलती है। हरिदासों के गीतों का कन्नड़वासी जनता पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। इन हरिदासों में पुरंदरदास, कनकदास, जगन्नाथदास आदि प्रमुख हैं।

17वीं शताब्दी में मैसूर (संप्रति कर्नाटक) के राजा चिकदेवराय के आश्रय में रहते हुए कतिपय वैष्णव कवियों ने उत्तम काव्यों का निर्माण किया। इन कवियों में तिरुमलार्य, चिकुपाध्याय, सिंगरार्य, होन्नम्मा, हेळवन कट्टे गिरियम्मा, महालिंगरंग कवि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय पहली बार श्रीवैष्णव संप्रदाय का प्रभाव कन्नड़ साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ा। चिकदेवराय "बिन्नप" तथा "गीतगोपाल" नामक अपनी रचनाओं में तिरुमलार्य ने श्रीवैष्णव संप्रदाय के साथ-साथ ऐकांतिक भक्ति का निरूपण किया है। "हदिवदेयधर्म" होन्नाम्मा का एक सुंदर काव्य है जिसमें सतीधर्म (गृहिणी धर्म) का प्रांजल भाषा में वर्णन किया गया है। महालिंगरंग कवि के लिखे "अनुभवामृत्त" में शंकर के अद्वैत सिद्धांत का सार सरस कन्नड़ में प्रस्तुत किया गया है। चिकदेवराय स्वयं अच्छे कवि थे।

इस युग में वीरशैव मतावलंबी भक्तों एवं कवियों ने भी नाना प्रकार के ग्रंथ रचकर कन्नड़ की सेवा की। इनमें कुछ शतक शैली में लिखे गए हैं। वचन शैली के अतिरिक्त कुछ गद्य ग्रंथ भी लिखे गए और सांगत्य, त्रिपदि, वृत्त, चंपू, गीत आदि छंदों का विशेष प्रयोग किया गया। किंतु इस लंबी अवधि में जितने वचनकार हुए वे इने-गिने ही हैं।

चरितकाव्य प्रस्तुत करनेवाले वीरशैव कवियों में चामरस, विरूपाक्ष पंडित और षडक्षरदेव अग्रगण्य थे। चामरस के लिखे काव्यों में "प्रभुलिंगलीले" श्रेष्ठ चरितकाव्य है। "प्रभुलिंगलीले" में अल्लम प्रभु के जीवनवृत्त का विस्तार किया गया है। वीरशैव कवियों में श्रेष्ठ प्रबंध काव्य रचनेवालों में हरिहर के बाद चामरस का नाम आदर के साथ लिया जाता है। विरूपाक्ष पंडित का लिखा हुआ चेन्नबसव पुराण भी उत्तम प्रबंध काव्य है, जिसमें प्रसिद्ध वीरशैव भक्त चेन्नबसव की कहानी कही गई है। हरिहर के "बसवराजरगले" तथा चामरस के "प्रभुलिंगलीले" जैसे चरितकाव्यों में मतधर्म तथा काव्यधर्म का जैसा सुंदर समन्वय हुआ है, वैसा "चेन्नबसवपुराण" में नहीं हो पाया है।

पंप युग में जैन कवियों ने अपने श्रेष्ठ प्रबंध काव्यों के द्वारा कन्नड़ में चंपूशैली को अत्यंत लोकप्रिय बनाया। लेकिन आगे चलकर इस शैली का

उपयोग कम होता गया। कुमारव्यास युग में फिर से यह शैली अपनाई गई। इसे अपनानेवाले कवि जैन नहीं अपितु वीरशैव थे। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में षडक्षरदेव नामक एक प्रतिभासंपन्न वीरशैव कवि ने चंपूशैली में तीन प्रबंध काव्य रचे जिनके नाम "राजशेखरविलास","शबरशंकरविलास",तथा "वृषभेंद्रविजय" हैं। "राजशेखरविलास" तथा "शबरशंकरविलास", में शिवलीला से संबंध रखनेवाली कहानियों का वर्णन किया गया है। "वृषभेंद्रविजय" की कथावस्तु बसव का जीवनवृत्त है।

इस युग में एक महान वीरशैव संत का अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था,इसका कुछ पता नहीं लगा है। इनका साहित्यिक उपनाम "सर्वज्ञ" था। इन्होंने "त्रिपदि" नामक छंद में अपनी अमृत वाणी सुनाई है। प्रत्येक छंद "सर्वज्ञ" शब्द के साथ समाप्त होता है और हिंदी के दोहे की तरह स्वतंत्र अर्थ रखता है।

इस अवधि में जैन धर्म का प्रभाव लुप्त हो चला था। फिर भी कुछ जैन मतावलंबी कवियों ने अपनी शक्ति भर कन्नड़ की सेवा की। जैन कवियों ने प्रचलित देशी काव्यशैलियों में काव्यरचना की। ऐसे कवियों में भास्कर, तेरकणांबि,बोम्मरस,शिशुमायण,तृतीययमंगरस,साल्व कवि तथा रत्नाकरवर्णि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रत्नाकरवर्णि सर्वश्रेष्ठ हैं,जिनकी कृतियों में "भरतेशवैभव" मुख्य है। प्रथम तीर्थकर आदिदेव के पुत्र भरत और बाहुबलि के उज्ज्वल चरित्रों का वर्णन ही "भरतेशवैभव" की कथावस्तु है। पंत,हरिहर,कुमारव्यास जैसे कन्नड़ के महाकवियों की श्रेणी में रत्नाकरवर्णि का नाम भी लिया जाता है।

इस युग की अंतिम अर्थात् 19वीं शताब्दी में कुछ अच्छे कवि हुए। देवचंद्र नामक जैन कवि ने "रामकथावतार" लिखकर जैन रामायण परंपरा को आगे बढ़ाया। मैसूर (संप्रति कर्नाटक) के राजा मुम्मुडि कृष्णराज ओडियर के दरबारी कवियों में केंपुनारायण तथा बसवप्प शास्त्री ने संस्कृत एवं अंग्रेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करके कन्नड़ में नाटक साहित्य के निर्माण के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया। कालिदास के शाकुंतल आदि नाटकों का बसवप्प शास्त्री ने इतनी सफलता से अनुवाद किया कि वे "अभिनव कालिदास" के नाम से प्रसिद्ध हुए। केंपुनारायण ने मुद्रामंजूष" नामक,एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। नंदवंश की कहानी इसकी कथावस्तु है जिसपर मुद्राराक्षस का प्रभाव लक्षित होता है। यही कन्नड़ का सर्वप्रथम उपन्यास है।

19वीं शताब्दी के अंत में मुद्दण नामक एक सफल कवि हुए जिन्होंने तीन

सरस काव्य लिखे–"अद्भुत रामायण","रामपट्टाभिषेक" और "रामाश्वमेध"। "अद्भूत रामायण" और "रामाश्वमेध" दोनों गद्य ग्रंथ हैं। इनके गद्य की यह विशेषता है कि प्राचीन कन्नड़ की प्रौढ़ता एवं मधुरता के साथ-साथ आधुनिक कन्नड़ की सरलता का परिचय मिलता है।

आधुनिक युग

भारतीय जीवन के इतिहास में 19वीं शती का उत्तरार्ध अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। चूँकि इस समय समान परिस्थितियों तथा प्रभावों से सारा भारतीय जीवन मथित तथा आंदोलित हुआ था, अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कन्नड़ साहित्य की गतिविधि की कहानी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की कहानी से कुछ भिन्न नहीं हैं।

आधुनिक कन्नड़ साहित्य को प्रधानतया चार भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं–

(क) 1900 तक प्रथम उत्थान,

(ख) 1901 से 1920 तक द्वितीय उत्थान,

(x) 1921 से 1940 तक तृतीय उत्थान, तथा

(घ) 1940 से अब तक चतुर्थ उत्थान।

आधुनिक कन्नड़ का प्रथम उत्थान

आधुनिक कन्नड़ का प्रथम उत्थान गद्य के साथ प्रारंभ होता है जिसके निर्माण में ईसाई मिशनरियों (प्रोटेस्टेंट) की सेवा उल्लेखनीय है। कहा जाता है, 1809 में रेवरेंड विलियम केरी ने बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत किया। लगभग 1831 में बळळारि तथा मंगलोर में मिशनरियों द्वारा मुद्रणालय स्थापित किए गए जिनके कारण कन्नड़ ग्रंथों की छपाई में सहायता मिली। प्रायः सन् 1823 में प्रकाशित कन्नड़ बाइबिल ही आधुनिक कन्नड़ का सर्वप्रथम गद्य ग्रंथ है। तदुपरांत ईसाई पादरियों ने अपने धर्म के प्रचार के हेतु कन्नड़ में पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कराई जिनमें "सभापत्र","सत्यदीपिके", तथा "कर्नाटक" मुख्य हैं। 19वीं शती की अंतिम तीन दशाब्दियों में कन्नड़ भाषा तथा साहित्य के अभिवर्धन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। इधर दक्षिण कर्नाटक में कर्नाटक के राजाओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप कर्नाटक में प्राच्य पुस्तकालय तथा उधर धारवाड़ में कर्नाटक विद्यावर्धक संघ की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं की

ओर से प्राचीन शिलालेखों तथा पांडुलिपियों के संग्रह, संपादन तथा प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हुआ। बी.एल.राइस तथा आर. नरसिंहाचार ने अनथक प्रयत्न करके "दि एपिग्राफिया कर्नाटिका" का बारह भागों में प्रकाशन कराया। राइस ने भट्टाकळंक के "शब्दानुशासन" नामक प्राचीन व्याकरण ग्रंथ का संपादन किया और उसकी प्रस्तावना में कन्नड़ साहित्य के इतिहास की रूप रेखा अंग्रेजी में पहली बार प्रस्तुत की। मंगलोर के बासेल मिशन के तत्वावधान में रेवरेंड एफ. किट्टल नामक एक जर्मन पादरी ने 18 वर्ष निरंतर परिश्रम करके कन्नड़ पंडितों के सहयोग से "कन्नड़ अंग्रेजी बृहत्कोश" प्रकाशित कराया, साथ ही कन्नड़ के प्राचीन ग्रंथों का संग्रह एवं संपादन कार्य प्रारंभ किया। इसी अवधि में मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से फोर्ट सेंट कालेज में कन्नड़ सिखाने के उद्देश्य से पाठय पुस्तकें प्रकाशित की गईं। इस प्रकार यद्यपि कन्नड़ भाषा तथा साहित्य के पुनरुद्धार के लिए स्तुत्य उद्योग हुआ, तो भी स्कूल कालेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण कन्नड़ के प्रति जनता में जैसा आदर होना चाहिए था वैसा नहीं उत्पन्न हुआ।

द्वितीय उत्थान

1900 से 1921 ई. तक का काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियों का काल है। पहली बार ऑर. नरहिंसाचार ने सन् 1907 में कन्नड़ साहित्य का एक बृहत् इतिहास "कर्नाटक कविचरिते" तीन भागों में प्रकाशित किया जिसमें एक सहस्र वर्षों के कन्नड़ के समस्त कवियों तथा उनकी कृतियों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत हो गया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस इतिहास में कवि और काव्य का मूल्यांकन आधुनिक आलोचना पद्धति के आधार पर किया गया है, फिर भी यह निश्चित है कि कन्नड़ साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य के लिए "कर्नाटक कविचरिते" द्वारा एक निश्चित आधारशिला प्रस्तुत हो गई।

सन् 1915 में ई.पी. राइस ने अंग्रेजी में हिस्ट्री ऑव कनरीज लिटरेचर लिखकर पाश्चात्य दृष्टिकोण से कन्नड़ साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार प्रथम उत्थान में राइस के "दि एपिग्राफिया कर्नाटिका" के प्रकाशन के फलस्वरूप आधुनिक दृष्टिकोण से साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन प्रारंभ हुआ और नरहिंसाचार के "कर्नाटक कविचरिते" के निर्माण से कन्नड़ के साहित्यकारों की जीवनियों तथा उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की

निश्चित पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी समय एक ओर बँगलौर में कन्नड़ साहित्य परिषद् का जन्म हुआ और दूसरी ओर मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन दोनों सस्थाओं के आश्रय में कन्नड़ भाषा एवं साहित्य के संवर्धन के लिए नया परिवेश प्रस्तुत हुआ।

तृतीय उत्थान

सन् 1921 से 1940 तक की अवधि में कन्नड़ का आधुनिक काल अपने स्वर्णयुग में प्रवेश करता है। इस तृतीय उत्थान के प्रारंभ में प्रो. बी. एम. श्रीकंठय्या, जो कर्नाटक में "श्री" अभिधान से लोकप्रिय हैं, कन्नड़ भाषा और साहित्य में नवोदय के अग्रदूत हुए। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से कन्नड़ में भी आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाएँ प्रस्फुटित हो निबंध आदि सभी विधाएँ अपने सच्चे रूप में विकसित होने लगीं जिसके परिणामस्वरूप कन्नड़ का साहित्य सशक्त होकर जीवन को सही अर्थ में प्रतिबिंबित करने लगा।

कन्नड़ साहित्य का परिचय

कविता

कन्नड़ में आधुनिक कविता का प्रारंभ एक प्रकार से अंग्रेजी कविता के अनुवाद तथा अनुकरण के साथ-साथ हुआ। विशेष रूप से बी.एम. श्रीकंठय्या का अंग्रेजी कविताओं का कन्नड़ अनुवाद "इंगलीषु गीतेगलु" नवयुवकों के लिए भाषा, वस्तुविधान, शैली, छंद एवं अलंकारयोजना की दृष्टि से पथप्रदर्शक बन गया। इसी समय कर्नाटक के विविध भागों में कवियों की खासी मंडलियाँ स्थापित हुईं, धरती का प्रेम तथा राष्ट्रीयता का पूरा भावलोक व्यक्त हुआ। प्रगाथा, विसापिका, गीतिकाव्य, सॉनेट गीत और भजन, वर्णनात्मक कविता, खंडकाव्य, वीरकाव्य, रोमांस, दार्शनिक कविता, गद्यगीत और स्वागतभाषण-ये और अन्य काव्यविभाग उत्कृष्ट आनंद और उच्च प्रेरणा से विकसित हुए। इस दल के कवियों में अनुभूति की गहराई, व्यापकता तथा कृतियों के परिमाण की दृष्टि से कुवेंपु (के.वी. पुट्टप्पा) तथा अंबिकातनयदत्त (द.रा.बेंद्रे) सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। लगभग बीस कवितासंग्रह तथा रामायणदर्शन नामक अतुकांत महाकाव्य कुवेंपु की अमर कीर्ति के आधारस्तंभ हैं। प्रधानतया बेंद्रे ने गीत ही रचे हैं। "गरि","सखीगीत","नादलीले","अरुळ मरुळ" उनके गीतसंग्रहों में मुख्य हैं।

सन् 1930 में जिस प्रगतिशील आंदोलन का सूत्रपात हुआ उसने इस समय के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। कविता के क्षेत्र में भी नई शक्ति का संचार हुआ। नए छंद और नए रचनाविधान की प्रतिष्ठा हुई।

लघुकथा

आधुनिक कन्नड़ साहित्य में छोटी कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय है। मास्ति वेंकटेश अयंगार (श्रीनिवास) आधुनिक कन्नड़ कहानी साहित्य के पिता माने जाते हैं। उनकी कहानियों में दार्शनिकता, देशभक्ति, ऐतिहासिकता, ग्रामीण जीवन के चित्र, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पारिवारिक चित्रण आदि तत्वों का बड़ा ही सुंदर समावेश हुआ है। कहानी के वस्तुविधान तथा शिल्पविधान की दृष्टि से इस समय कन्नड़ की कहानी में विकासक्रम का स्पष्ट परिचय मिलता है।

उपन्यास

कन्नड़ में बँगला और मराठी उपन्यासों के अनुवाद के साथ उपन्यास साहित्य के निर्माण में नई प्रेरणा का संचार हुआ। बी.वेंकटचार ने बंकिमचंद्र के उपन्यासों का सफल अनुवाद प्रस्तुत किया। गलगनाथ ने अनुवाद के अतिरिक्त "माधव करुण विलास" तथा "कुमुदिनी" नामक दो मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। फिर भी, गुल्वाडि वेंकटराव का लिखा "इंदिरादेवी" (1899) तथा एम.एस. पुट्टण्णा का लिखा "माडिदुण्णों महाराया" कन्नड़ के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माने जाते हैं।

इस अवधि में कन्नड़ में विशिष्ट उपन्यास लिखे गए जिनके कई उदाहरण आज भी मिलते हैं, जैसे बटगेरि के "सुदर्शन" में सामाजिक शिष्टाचार के उपन्यास, ए.एन. कृष्णराव के "संध्याराग" में चरित्रप्रधान उपन्यास, कस्तूरि के "चक्रदृष्टि" में व्यंग्यप्रधान उपन्यास, देवुड के "अंतरंग" में मनोवैज्ञानिक उपन्यास, शिवराम कारंत के "मरळि मण्णिगे" में कालप्रधान उपन्यास, मुगलि के "कारणपुरुष" में समस्याप्रधान उपन्यास। मास्ति का "चेन्नबसव" नामक, के.वी. अय्यर का "शांतला" तथा ए.एन. कृष्णराव का "नटसार्वभौम", त.रा.सु. का "हसंगीते", के. वी. पुट्टप्पा का "कानूर सुब्बम्म हेग्गडति", कारंत के "बेट्टद जीव" और "चोमनदुडि" गोकाक" का "समरस वे जीवन" आदि उपन्यास अपने विशिष्ट गुणों के कारण कन्नड़ भाषाभाषियों के जीवन, संस्कृति तथा इतिहास के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। मिर्जी अण्णाराव, बसवराज,

कट्टीमानी, कुळकुंद, शिवराव, इनामदार और पुराणिक भी आधुनिक कन्नड़ के समर्थ उपन्यासकार हैं। कारंत का "मरलि मण्णिगे", के.वी. अय्यर का "शांतला", त.रा.सु. का "हंसगीते" का हिंदी रूपांतर प्रकाशित हो चुका है। कुवेंपु का "कानूर सुब्बम्म हेग्गडिति" अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है।

नाटक

जिस प्रकार हिंदी के नाटक साहित्य और रंगमंच का मूल रूप रामलीला, कृष्णलीला, रासधारी मंडलियों के रूप में पाया जाता है उसी प्रकार कन्नड़ के नाटक तथा रंगमंच का मूलरूप "यक्षगान", "बयलाट", "ताळमद्दले" के रूप में प्राप्त होता है। यक्षगान के लिए लिखे गए नाटक प्राय: पद्य में पाए जाते हैं। कन्नड़ के प्राचीन साहित्य के अंतर्गत सन् 1680 में लिखा हुआ सिंगरार्य का "मित्रविंदा गोविंद" कन्नड़ का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है। यह हर्ष की "रत्नावली नाटिका" के आधार पर लिखा हुआ रूपक है। आधुनिक कन्नड़ में पहले पहल संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इन अनुवादकों में बसवप्प शास्त्री, नंजनगूड, श्रीकंठ शास्त्री एवं गहणि कृष्णाचार्य, रामशेष शास्त्री, अनंतनारायण शास्त्री, कवितिलक अप्पा शास्त्री, नरहरि शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस समय अनूदित नाटकों में उत्तररामचरित, रत्नावली, वेणीसंहार, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, नागानंद मृच्छकटिक, हरिश्चंद्र, शाकुंतल आदि मुख्य हैं। अनुवाद करने की कला में बसवप्पा शास्त्री ने इतनी सफलता पाई कि उन्हें कर्नाटक के तत्कालीन महाराज ने "अभिनव कालिदास" की उपाधि से पुरस्कृत किया। आगे चलकर अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद होने लगा। इसी समय कुछ नाटक कंपनियाँ भी स्थापित हुई जिनके लिए विशेष रूप से पौराणिक तथा कुतूहलवर्धक सामाजिक नाटक लिखे गए। ऐसे नाटकों में कृष्णलीला, रुक्मिणीस्वयंवर, लंकादहन, कृष्णपारिजात, सूरदास में, कबीरदास, जलंधर मुख्य हैं। कर्नाटक के प्रसिद्ध नट ए.बी. वरदाचार तथा गुब्बिवीरण्णा द्वारा कंपनियों के आश्रय में रंगमंच की ही नहीं, नाटय साहित्य की भी विशेष वृद्धि हुई।

अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप कन्नड़ के नाटक साहित्य पर पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव पड़ा। आधुनिक कन्नड़ के प्रमुख साहित्यकारों ने भी नाटक रचकर उसकी श्रीवृद्धि में योग दिया। नाटक की वस्तुओं में विविधता दिखाई देने लगी। शेरिडन, ऑस्कर वाइल्ड और इब्सन जैसे पाश्चात्य

लेखकों का अनुकरण करके कन्नड़ में बड़े ही सुंदर, व्यंगात्मक, हास्य-रस-प्रधान नाटक रचे गए। ऐसे नाटकों में टी.पी. कैलासम के "होमरूल" तथा "टोल्लुगट्टि", श्रीरंग का "हरिजन्वार", कारंत का "गर्भगुडि", कुवेंपु का "रक्तक्षि" आदि नाम उल्लेखनीय हैं। दु:खांत नाटकों में, बी.एम. "श्री" के "अश्वत्थामन" और "गदायुद्ध" तथा कुवेंपु के "बेरल्गेकोरल" मुख्य कहे जा सकते हैं। रोमांटिक एवं सुखांत नाटकों में गोकाक के "युगांतर" जैसे नाटक पठनीय हैं। आधुनिक कन्नड़ में एकांकी, गीतिनाटक, अतुतांक पद्यनाटक, संगीतरूपक (ऑपेरा), रेडियो नाटक आदि नाटक के विविध रूपों का भी प्रचलन हुआ है।

निबन्ध

निबंध आधुनिक कन्नड़ साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। आधुनिक युग के द्वितीय उत्थान में आलूर वेंकटराव के "कर्नाटक गतवैभव" तथा पंडित तारानाथ के "धर्मसंभव" जैसे विचारात्मक ग्रंथों द्वारा आधुनिक कन्नड़ की गंभीर गद्यशैली का मार्ग प्रशस्त हुआ। डी.वी. गुडप्पा के "साहित्यशक्ति", स.सा. मालवाड के "कर्नाटक-संस्कृति-दर्शन", सिद्धवनहल्लि कृष्णशर्मा के गांधी साहित्य में विचार-प्रधान गद्यशैली निखरने लगी। व्यंग्यात्मक निबंधों के लिए जी. पी. राजरत्नम्, ना। कस्तूरि, कारंत, बल्लारि बीच की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पी. टी. नरसिंहाचार के भावनाचित्र, प्रो.ए.लुन. मूर्तिराव के हगएगनसुगलु एवं वामन भट्ट के कोदंडन उपन्यास गलु जैसे निबंधों में लघु वार्तालाप के सुंदर नमूने मिलते हैं।

बेंद्रे के रेखाचित्र, टी.एन. श्रीकंठय्या और ए.एन. कृष्णराव के आलोचनात्मक निबंध, पुटटप्पा के वर्णनात्मक निबंध, गोकाक के पत्रात्मक तथा भौगोलिक सांस्कृतिक निबंध, मोटे तौर पर यह दर्शाते हैं कि इस क्षेत्र में कितनी और कैसी उपलब्धियाँ हुई हैं। डी.वी.गुडप्पा के "गोखले", पुट्टप्पा के "विवेकानंद", मधुचेत्र के "प्रिल्यूड" मास्ति के "रवींद्रनाथ ठागुर" राजरत्नम् के "दस वर्ष", दिवाकर के "सेरेमने", गोकाक के "समुद्रदाचेयिंद" आदि ग्रंथों में क्रमश: क्लासिकल जीवनचरित्, रोमांटिक साहित्यिक तथा सौंदर्यात्मक जीवनवृत्त, साहित्यिक डायरी, आदि निबंध के विविध रूप के सुंदर नमूने हैं। वी. सीतारामय्या के "पंपा यात्रे", कारंत के "आबुविंद" और "बरामक्के", मान्वि नरसिंहराव के निबंध इत्यादि प्रवास संबंधी साहित्य के आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

कोश

बच्चों का विश्वकोश बालप्रपंच लिखकर संभवत: भारतीय भाषाओं के साहित्यों के सम्मुख एक नूतन आदर्श उपस्थित करने का श्रेय कन्नड़ के महान लेखक शिवराम कारंत को मिलना चाहिए। उन्होंने "ईजगत्त" के नाम से अपने विश्वकोश के प्रथम भाग का प्रकाशन कराया है और अन्य भागों के संपादन कार्य में अब वे निरंतर लगे हुए हैं।

समालोचना

रेवरेंड एफ. किट्टल, बी.एल. राइस तथा ऑर. नरसिंहाचार जैसे विद्वानों ने कन्नड़ के प्राचीन ग्रंथों का शोध, संपादन तथा प्रकाशन कार्य ही नहीं किया अपितु आधुनिक काव्यविमर्श की भी परंपरा चलाई। अंग्रेजी तथा प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन करके कन्नड़ में आलोचना साहित्य के लिए निश्चित मार्ग दर्शन करनेवालों में डी.वी. गुंडप्पा, मास्ति वेंकटेश अयंगार, ए.आर. कृष्णशास्त्री तथा एम. गोविंद पै मुख्य कहे जा सकते हैं। डी.वी. गुंडप्पा का जीवन सौंदर्य मतु साहित्य" और "साहित्यशक्ति", मास्ति का तीन भागों में प्रकाशित "विमर्शे", ए.ऑर. कृष्ण शास्त्री का "भाषणगळु मत्तु लेखनगळु", आधुनिक कन्नड़ के आलोचना साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। डॉ. ए. वेंकटसुब्बय्या तथा एम. गोविंद पै ने अपने शोधपूर्ण निबंधों में कन्नड़ के प्राचीन कवियों के कालनिर्णय, वस्तुनिरूपण, भाषास्वरूप आदि पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। कन्नड़ साहित्य परिषद् की छमाही पत्रिका "परिषत्पत्रिके" तथा मैसूर विश्वविद्यालय की त्रैमासिक पत्रिका "प्रबुद्ध कर्नाटक" में कन्नड़ के कवि और काव्य पर आलोचनात्मक लेख गत पच्चीस-तीस वर्षो से बराबर प्रकाशित होते आ रहे हैं।

मैसूर विश्वविद्यालय तथा कन्नड़ साहित्य परिषद् के तत्वावधान में पंप, कुमारव्यास, नागचंद्र, रन्न आदि प्राचीन कवियों पर उत्तम विमर्शात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। साथ ही अन्यान्य साहित्य संघों की ओर से छोटे-बड़े आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह निकाले गए हैं। पी. जी. हलकट्टि, आर.आर. दिवाकर, एम. आर. श्रीनिवासमूर्ति जैसे विद्वानों ने क्रमश: "वचनशास्त्रसार", "वचनशास्त्ररहस्य","वचनधर्मसार",तथा "भक्ति भंडारि बसवण्ण" नामक ग्रंथों में वीरशैव भक्त कवियों तथा उनकी कृतियों का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। मुलिय तिम्मप्पया का "नाड़ोजपंप"शि.शि. बसवनाल का "प्रभुलिंगलीले",

कुंदणगार का "हरिहर देव", महादेवियकक, आर.सी. हिरेमठ का "महाकविराघवांक", के.वी. राघवाचार का "यशोधरचरित", ए.आर. कृष्णशास्त्री का "संस्कृत नाटकगलु", टी.एन. श्रीकंठय्या का "भारतीय काव्यमीमांसे और "काव्यसमीक्षे", कुवेंपु के "साहित्यविहार" तथा "तपोनंदन", "विभूतिपूजे", बेंद्रे का "साहित्यसंशोधने", गोविंद पै का "कन्नड़ साहित्यद प्राचीनते", बेटगेरि का "कर्नाटक दर्शन", आर. एस. पंचमुखी का "हरिदास साहित्य", डॉ. कर्कि का "छंदोविकास", डी.एल. नरसिंहाचार द्वारा संपादित "शब्दमणिदर्पण", आर. एस.मुगळि का "कन्नड़ साहित्यचरित्र" आदि ग्रंथ ऐसे महत्त्वपूर्ण हैं जिनके अध्ययन से कन्नड़ भाषा एवं साहित्य की व्यापकता तथा गहराई पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। सन् 1947 में मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से एक "बृहत अंग्रेजी-कन्नड़-कोश" प्रकाशित हुआ। शिवराम कारंत का "कन्नड़ अर्थकोश" तथा डी.के भारद्वाज का "कन्नड़-अंग्रेजी-कोश" उल्लेखनीय हैं। कर्नाटक राज्य सरकार तथा भारत सरकार के अनुदान से कन्नड़-साहित्य-परिषद् की ओर से एक बृहत कन्नड़ कोश का संपादन कार्य चल रहा है।

शिशु साहित्य

आधुनिक कन्नड़ में शिशु साहित्य के निर्माण के लिए भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। इस दिशा में पहले पहल पंजेमंगेशराव ने "बाल-साहित्य-मंडल" नामक संस्था की स्थापना करके बालसाहित्य की वृद्धि में योग दिया। कुवेंपु, जी.पी. राजरत्न, दिनकर देसाई, होइसल, देवुडु नरसिंह शास्त्री, आदि अनेक आधुनिक कन्नड़ के लेखकों ने बच्चों के लिए सुंदर गीत रचकर शिशुसाहित्य को लोकप्रिय बनाया है। कर्नाटक में बच्चों की शिक्षा के लिए शिशुविहार जगह-जगह स्थापित हुए हैं। "अखिल कर्नाटक मक्कलकूट", "चिक्कवरकणज" जैसी बच्चों की संस्थाओं के कारण शिशुसाहित्य के सृजन में विशेष प्रोत्साहन मिला है। मक्कल पुस्तक, नम्मपुस्तक कंद, चंदयमामा, जैसी बच्चों की मासिक पत्रिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

लोक साहित्य

कन्नड़ के लोकगीतों तथा लोककलाओं के अध्ययन का कार्य भी प्रारंभ हुआ है। कर्नाटक में गत 300 वर्षो से अत्यंत लोकप्रिय लोककला "यक्षगान" पर शिवराम कारंत का लिखा हुआ "यक्षगान" वयलाट एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है

जिसपर भारत सरकार ने 5, 000 रुपए का पुरस्कार प्रदान किया है। मास्ति वेंकटेश अयंगार ने अपने "पापुलर कल्चर इन कर्नाटक" में कन्नड़ के लोकसाहित्य का सुंदर परिचय दिया है। ग्रामगीतों के भी कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें बेंद्रे का "गरतियरहाडु", एल. गुंडप्पा का "हल्लियपदगलु", बी.एन. रंगस्वामी तथा गोरूर रामस्वामयंगार का "हल्लियहाडुगलु", मतिगट्ट कृष्णमूर्ति का "हल्लियपदगलु", तथा का.रा.कृ. का "जनपदगीतेगलु" उल्लेखनीय हैं।

विगत 60-70 वर्षों से कन्नड़ में अध्यात्म, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, शिक्षा, प्राणिशास्त्र, गणित, आरोग्य, वैद्यक, शस्यशास्त्र, कृषि, चित्रकला, संगीतकला आदि विभिन्न विषयों पर ग्रंथनिर्माण का कार्य हुआ है। इधर कुछ वर्षों से हाई स्कूलों तथा कालेजों की पढ़ाई के लिए कन्नड़ को माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न विषयों पर कन्नड़ में पाठय पुस्तकें भी तैयार की जा रही हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

आधुनिक कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि में कन्नड़ की पत्र-पत्रिकाओं का सहयोग कुछ कम महत्त्व का नहीं है। मंगलोर के बासेल मिशन के पादरियों को कन्नड़ में सर्वप्रथम पत्रिका प्रकाशित करने का श्रेय दिया जाता है। इन पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए सन् 1856 में बार्तिक" नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के प्रचार के साथ-साथ कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशों से अनेक पत्रपत्रिकाओं का संपादन प्रारंभ हुआ। मैसूर के एम. वेंकटकृष्णय्या के परिश्रम के फलस्वरूप कन्नड़ की प्रारंभिक पत्रिकाओं में हितबोधिनी, सुदर्शन, आर्यमतसंजीवनी, कर्नाटक काव्यकलानिधि, सुवासिनी, वाग्भूषण, विवेकोदय, सद्गुरु सद्बोधचंद्रिके, धनुर्धारी, मधुरवाणी, श्रीकृष्णसूक्ति तथा साधवनी के नाम उल्लेखनीय हैं।

सन् 1921 के सर्वेक्षण के अनुसार कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशों से कुल 66 पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं। आजकल की दैनिक पत्रिकाओं में संयुक्त कर्नाटक, प्रजावाणी, जनवाणी, तमिलनाडु तथा नवभारत मुख्य हैं। प्रजामत, कर्मवीर, जनप्रगति आदि साप्ताहिक पत्र लोकप्रिय हैं। कहानी संबंधी पत्रिकाओं में कतेगार, कथांजलि, कथाकुंज, कोरवंजी तथा मासिक पत्रिकाओं में जीवन, कस्तूरि, जय कर्नाटक आदि उल्लेखनीय हैं।

कन्नड़ साहित्य और समाज

आधुनिक कन्नड़ के प्रथम तथा द्वितीय उत्थान में राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित हुआ। उसके बाद समाजसुधार तथा दलित जातियों के उद्धार की भावना जोर पकड़ने लगती है। पौराणिक विषयों तथा पात्रों का मानवीकरण एक महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रकृति के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण पूरी तरह से व्यक्त हुआ है। नवीन लेखक के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों में एक आत्माभिव्यंजना है। मनुष्य के व्यक्तित्व की महानता तथा उसकी पवित्रता पर सर्वत्र आग्रह दिखाई देता है। लेखकों के लिए यह नया साक्षात्कार था कि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होकर स्वयं पूर्णता को प्राप्त होता है।

गीत और निबंध, उपन्यास और नाटक इत्यादि भी इसी व्यक्तिवाद से अनुप्राणित हुए हैं। यथार्थवादी लेखकों ने सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं के झूठे विश्वासों तथा खोखलेपन का पर्दाफाश किया है। प्रगतिशील साहित्यकारों ने प्रधानतया समाज की दुर्व्यवस्था की समस्या को मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर हल करने का प्रयत्न किया है। रूढ़िवादी लेखक अपने सुप्रतिष्ठित विश्वास के मूल्य में आस्था रखते हैं।

लेखकों का एक वर्ग वह है जिसने काव्यात्मक धार्मिक अनुभूतियों की सुंदर व्यंजना की है। ऐसे भी कतिपय लेखक हैं जिनका चरम उद्देश्य सौंदर्यजगत् में साहसपूर्ण अभियान है। लेखकों की एक आस्तिक धारा भी है जिसमें नीति तथा विचारपूर्ण दार्शनिकता की ध्वनि मुखरित है। इस धारा के लेखकों पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद एवं अरविंद के जीवनदर्शन का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इस दल की कृतियों में बुद्धिवाद और रहस्यवाद, सौंदर्यवाद और समाजवाद, कर्म और ज्ञान जैसे परस्पर विरोधी तत्वों, का समाहार हुआ है। इस प्रकार विविध विचारधारा के लेखकों ने साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से कन्नड़ भारती को सजाया है। इन विभिन्न विचारधाओं से जिस साहित्यसंगम की सृष्टि हुई है उसके समष्टिरूप में से एक मानवतावादी उज्ज्वल जीवनदर्शन प्रकाशित हुआ है जिसका कालांतर में व्यापक प्रभाव अवश्य लक्षित होगा।

12

तेलुगू भाषा एवं साहित्य

तेलुगू भाषा भारत के आंध्र प्रदेश और तेलंगाना राज्यों की मुख्यभाषा और राजभाषा है। ये द्रविड़ भाषा-परिवार के अन्तर्गत आती है। यह भाषा आंध्र प्रदेश तथा तेलंगाना के अलावा तमिलनाडु, कर्नाटक, ओडिशा और छत्तीसगढ़ राज्यों में भी बोली जाती है।

तेलुगू शब्द की व्युत्पत्ति

आंध्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। तेलुगू शब्द का मूलरूप संस्कृत में "त्रिलिंग" है। इसका तात्पर्य आंध्र प्रदेश के श्रीशैल के मल्लिकार्जुन लिंग, कालेश्वर और द्राक्षाराम के शिवलिंग से है। इन तीनों सीमाओं से घिरा देश त्रिलिंगदेश और यहाँ की भाषा त्रिलिंग (तेलुगू) कहलाई। इस शब्द का प्रयोग तेलुगू के आदि-कवि "नन्नय भट्ट" के महाभारत में मिलता है। यह शब्द त्रिनग शब्द से भी उत्पन्न हुआ माना जाता है। इसका आशय तीन बड़े-बड़े पर्वतों की मध्य सीमा में व्याप्त इस प्रदेश से है। आंध्र जनता उत्तर दिशा से दक्षिण की ओर जब हटाई गई तो दक्षिणवासी होने के कारण इस प्रदेश और भाषा को "तेनुगु" नाम दिया गया। (तमिल भाषा में दक्षिण का नाम तेन है)। तेनुगु नाम होने का एक और कारण भी है। तेनुगु में तेने (तेने उ शहद, अगु उ जाहो) शब्द का अर्थ है शहद। यह भाषा मधुमधुर होने के कारण तेनुगु नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रदेश "वेगिनाम" से भी ज्ञात है। "वेगि" का अर्थ है कृष्णा गोदावरी नदियों का मध्यदेश जो एक बार जल गया था। यह नाम भाषा के लिये व्यवहृत नहीं है। आंध्र एक जाति का नाम है। ऋग्वेद की कथा के अनुसार ऋषि विश्वामित्र के शाप से उनके 50 पुत्र आंध्र, पुलिंद और शबर हो गए।

तेलुगू

अधिकांश संस्कृत शब्दों से संकलित भाषा "आंध्र" भाषा के नाम से व्यवहृत होती है। तेलुगूदेशीय शब्दों का प्राचुर्य जिस भाषा में है वह तेलुगू भाषा के नाम से प्रख्यात है। तेलुगू भाषा के विकास के संबंध में विद्वानों के दो मत हैं। डॉ. चिलुकूरि नारायण राव के मतानुसार तेलुगू भाषा द्राविड़ परिवार की नहीं है किंतु प्राकृतजन्य है और उसका संबंध विशेषत: पैशाची भाषा से है। इसके विपरीत बिशप कार्डवेल और कोराड रामकृष्णय्य आदि विद्वानों के मत से तेलुगू भाषा का संबंध द्राविड़ परिवार से ही है, जो हो, इसका विकास दोनों प्रकार की भाषाओं के सम्मेलन से हुआ है। आजकल उपर्युक्त तीन नामों से प्रचलित इस भाषा में लगभग 75 प्रतिशत संस्कृत शब्दों का सम्मिश्रण है। इसकी मधुरता का मूल कारण संस्कृत तथा तेलुगू का (मणिकांचन) संयोग ही है। पश्चिम के विद्वानों ने भी तेलुगू को "पूर्व की इतालीय भाषा" कहकर इसके माधुर्य की सराहना की है।

लता

प्राय: सभी ध्वनियों के लिये लिपिचिह्न इस भाषा में पाए जाते हैं। इसकी विशेषता यह है कि ह्रस्व ए, ओ, दंत्य च, ज एवं शकट रेफ नाम से एक अधिक "र" के अतिरिक्त अर्धबिंदु और "ळ" भी इस भाषा में है। इस तरह संस्कृत वर्णमाला की अपेक्षा तेलुगू वर्णमाला में छह अक्षर अधिक पाए जाते हैं। प्राय: संस्कृत के मंगल, ताल और कला आदि शब्दों के "ल" वर्ण तेलुगू में "ळ" से उच्चरित होते हैं।

अर्धानुस्वार का अस्तित्व उच्चारण में नहीं है लेकिन भाषा का क्रमविकास जानने के लिय इसके लिखने की अवश्यकता है। कुछ शब्द एक ही प्रकार से उच्चरित होते हुए भी अर्धानुस्वार के समावेश से भिन्न-भिन्न अर्थ देते हैं। उदाहरणत: "एडु" का अर्थ सात संख्या है। उसी को अर्धानुसार से 'एँडु' शब्द लिखा जाए तो इसका ध्यान अर्थ वर्ष अर्थात् संवत्सर होता है। तेलुगू स्वरांत याने "अजंत" भाषा है जबकि हिंदी "व्यंजनांत" या "हलंत भाषा"। स्वरांत भाषा होने के कारण तेलुगू संगीत के लिये अत्यंत उपयुक्त मानी गई है। अत: कर्नाटक संगीत में 90 प्रतिशत शब्द तेलुगू के पाए जाते हैं।

तेलुगू लिपि मोतियों की माला के समान सुंदर प्रतीत होती है। अक्षर गोल होते हैं। तेलुगू और कन्नड़ लिपियों में बड़ा ही सादृश्य है। ईसा के आरंभकाल

की "ब्राह्मी लिपि" ही आंध्र-कर्नाटक लिपि में परिवर्तित हुई। इस लिपि का प्रचार "सालंकायन" राजाओं के समय सुदूर देशों में भी हुआ। तमिलों ने सातवीं शताब्दी में अपनी अलग लिपि बना ली।

तेलुगू साहित्य

तेलुगू का साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं प्राचीन है। इसमें काव्य, उपन्यास, नाटक, लघुकथाएँ तथा पुराण आते हैं। तेलुगू साहित्य की परम्परा 11वीं शताब्दी के आरम्भिक काल से शुरू होती है जब महाभारत का संस्कृत से नन्नय्य द्वारा तेलुगू में अनुवाद किया गया। विजयनगर साम्राज्य के समय यह पल्लवित-पुष्पित हुई।

काल विभाजन

आजकल तेलुगू साहित्य का विभाजन निम्नलिखित चार कालों में किया जाता है-

(1) पुराणकाल,
(2) काव्यकाल,
(3) ह्रासकाल, और
(4) आधुनिककाल

कुछ लोग तेलुगू साहित्य का विभाजन निम्नलिखित वर्गों में भी करते हैं-

प्रांनन्नय युग–सन् 1000 तक
नन्नय युग–1000 - 1100
शिवकवि युग–1100 - 1225
तिक्कन युग–1225 - 1320
घ्ररन युग–1320 - 1400
श्रीनाध युग–1400 - 1500
रायल युग–1500 - 1600
दक्षिणांध्र युग या नायकराजुल युग–1600 - 1775
क्षीण युग–1775 - 1875
आधुनिक युग–1875 से अब तक
पुराणकाल (1001 से 1400 ई. तक)

किसी भी भाषा के साहित्य का आरंभ लिपि के पूर्व ही गीतों के रूप में होता है। गीत, साहित्य की तरह स्थायी नहीं होते। ईसा से 800 वर्ष पूर्व तेलुगू

लिपि का प्रादुर्भाव माना गया है। लेकिन उस काल का साहित्य लिपिबद्ध नहीं है। उसके पश्चात् शिलालेखों में कुछ तेलुगू साहित्य पाया जाता है। उसके पूर्व गीतसाहित्य के प्रचलन होने का अनुमान किया जा सकता है। तेलुगू का लिपिबद्ध साहित्य ई. सन् 11वीं शताब्दी के आरंभ से पाया जाता है।

तेलुगू के आदिकवि नन्नय भट्ट ने संस्कृत महाभारत का अनुवाद तेलुगू पद्य में किया। यह अनुवाद होते हुए भी स्वतंत्र कृति के रूप में दिखाई देता है। शैली संस्कृतशब्दबहुला तथा कोमल है। इन्होंने "आंध्रशब्द चिंतामणि" के नाम से एक तेलुगू व्याकरण ग्रंथ की रचना संस्कृत शब्दों में की। यह एक अनोखी घटना है कि तेलुगू के आदिकवि ही इस भाषा के प्रथम वैयाकरण सिद्ध हुए। व्याकरण के रचयिता होने के कारण वे "वागनुशासन" के नाम से प्रख्यात हुए। उनके केवल आदि एवं सभापर्व पूर्ण और अरण्यपर्व के कुछ भाग मिलते हैं। तेलुगू देश में यह प्रतीत है कि नन्नय की रचना के पढ़े बिना सरल और मधुर कवि बनना कठिन है। महाभारत की रचना में उन्हें पंडित नारायण भट्ट का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। नन्नय भट्ट 11वीं शताब्दी के चालुक्यवंशीय राजा "राजराजनरेंद्र राजमहेंद्रवरम्" के कुलगुरु थे। तिक्कन सोमयाजी तथा एर्राप्रेगड्डा नामक दोनों कवियों से महाभारत की रचना पूर्ण हुई।

नन्ने चोड – ये राजा टेकनादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये कन्नड़ आदि भाषाओं के भी विद्वान् थे। इनकी अनूदित कृति "कुमार-संभव" है। यह अनुवाद कालिदास कृत कुमारसंभव का नहीं किंतु उद्भट भट्ट के कुमारसंभव का है।

अथर्वणाचार्य – इनका अथर्वण "कारिकावली" के नाम से एक व्याकरण और अथर्वण छंद के नाम से एक छंदोग्रंथ प्रचलित है। इन्होंने महाभारत का अनुवाद भी संस्कृतमय शैली में किया। जैनधर्मावलंबी होने के कारण इनका महाभारत अनादृत हुआ।

पालकुर्रकि सोमनाथ – ये वरंगल के निवासी शैवधर्म के अनुयायी थे। इनके "पंडिताराध्यचरितमू" और "बसवपुराणमू" प्रसिद्ध हैं। इन्होंने शैवधर्म प्रचारार्थ "द्विपद" नाम के देशी छंद का अनुसरण किया। अन्यवाद कोलाहलम् और सोमनाथ भाष्यम् आदि इनके ग्रंथ संस्कृत में भी प्राप्त हैं। तेलुगू कवियों में सोमनाथ का स्थान बहुत बड़ा माना जाता है।

भद्रभूपति – इस राजा की कृतियाँ "नीतिसारमुक्तावली" और "सुमतिशतकम्" हैं। इनका यह दूसरा ग्रंथ अत्यंत लोकप्रिय है।

भास्कर रामायण–यह लोकप्रिय ग्रंथ है। इस ग्रंथ के अधिकांश का अनुवाद भास्कर कवि ने किया।

तिक्कन सोमयाजी – ये तेलुगू साहित्य की महान विभूति हैं। ये 'कविब्रह्म' के नाम से प्रख्यात हैं। हर और हरि दोनों देवताओं में कोई भेद यह नहीं मानते थे। नन्नय के दो शताब्दी पश्चात् इनका जन्म हुआ। इन्होंने महाभारत के विराटपर्व से लेकर उसके अंत तक 15 वर्षों का अनुवाद करके हरिहर भगवान के चरणों में अर्पित किया। ये कवि ही नहीं, कविनिर्माता भी थे।

रंगनाथ रामायण–इसके प्रणेता रंगनाथ या गोनबुद्धारेड्डी थे। यह द्विपदा छंद में लिखी गई। इसमें लोकोक्तियाँ प्रचुर मात्रा में हैं।

एर्राप्रेगड्डा – ये कवि शंभुदास के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने महाभारत के अरण्यपर्व के अवशिष्ट भाग का अनुवाद किया। इसलिये महाभारत के तीनों रचयिता "कवित्रयम्" के नाम से प्रसिद्ध हैं। एर्राप्रेगड्डा की अन्य कृतियाँ तेलुगू में नृसिंहपुराणम् और "हरिवंश" आदि हैं।

नाचन सोमन्न – इनकी रचना "उत्तरहरिवंश" है। यह महत्त्वपूर्ण काव्य माना जाता है।

केतन्न – ये तिक्कन के शिष्य थे। इन्होंने दंडी कृत "दशकुमार चरित" का पद्यात्मक अनुवाद किया है तथा "विज्ञानेश्वर" नामक धर्मशास्त्रग्रंथ और "भाषाभूषणम्" नाम के रीतिग्रंथों की रचना की। इस प्रकार ये कवि के साथ-साथ आचार्य भी थे।

नन्नयभट्ट ने वैदिक धर्म का अवलंबन करके महाभारत का अनुवाद किया। नन्नय की रचना ने बौद्ध, जैन धर्मों पर प्रबल आघात किया। पालकुरिकि सोमनाथ कवि ने शैवधर्म का आश्रय लेकर देशी साहित्य का प्रणयन किया। नन्नेचोड कवि ने देशी और मार्ग कविता की परंपरा चलाई। सोमनाथ के द्वारा शतक साहित्य का श्रीगणेश हुआ।

सन् 1200 से 1380 ई. तक काकतीय वंश के राजा गणपति और प्रतापरुद्र ने तेलुगू साहित्य की बड़ी सेवा की। इस काल में पुराणों का अनुवाद भी किया गया। काकतीय राजाओं ने तेलुगू साहित्य के उन्नयन के साथ-साथ संस्कृत के महान ग्रंथों की रचना को भी प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप "प्रतापरुद्रीयमू" नाम के अलंकारशास्त्र ग्रंथ के अलावा अन्य महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथों का भी निर्माण इन राजाओं के दरबार में हुआ।

काव्यकाल (1400 से 1700)

महाकवि श्रीनाथ – इन्होंने नैषधीयचरित का पद्यानुवाद 'शृंगार नैषधम' नाम से किया। इनकी अन्य कृतियाँ "मरुतराटचरित","शालिवाहन सप्तशती", "भीमखंड," "हरविलास" आदि हैं। द्विपदा छंद में "पलनाटि वीर चरित्रम्" और कई चाटूक्तियाँ तथा अन्यान्य मौलिक रचनाएँ भी इन्होंने की हैं। इनके मुकाबिले का शायद ही कोई विद्वान् कवि तेलुगू में मिलता हो। इस युग के प्रसिद्ध कवियों में अन्नयामात्य कवि भी एक हैं। ताल्लपाक अन्नमाचार्य ने भगवान तिरुपति बालाजी की स्तुति में,16 वर्ष की अवस्था में हजारों पद रचकर स्वयं ताम्रपत्रों में लिखे हैं। इसका प्रकाशन तिरुपति देवस्थानम् की ओर से किया गया है।

पिल्लल मर्रिपिन वीरन्न – इनका रचनाकाल 1400 से 1500 ई. तक माना जाता है। इनकी कृतियों में "अवतारदर्पणम्","नाटकीय पुराणम्","माघ महात्यम्","भानसोल्लासम्","शकुन्तला परिणयम्" और "जैमिनि भारतम्" आदि उल्लेखनीय हैं।

दूषगुंट नारायणकवि – इन्होंने पंचतंत्र का पद्यानुवाद किया।

भक्त वेमन्न कवि – सन् 1412 से 1480 तक के काल के भक्तकवि वेमन्नयोगी ने एक सुंदर शास्त्र की रचना की। आंध्र प्रदेश में कोई ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जिसकी जिह्वा पर वेमन्न का कोई न कोई छंद या पद न हो। वेमन्न के ही समान भक्त कवि सन् 1480 के आसपास वरंगल जिला (आंध्र प्रदेश) के बंमेर पोतन्न थे। इन्होंने महाभागवतपुराण का अनुवाद अत्यंत सुचारु रूप से प्रसादगुण युक्त शैली में किया। इनकी अन्य कृतियों में "वीरभद्रविजयम्", "योगिनी दंडकम्" आदि प्रमुख हैं। ये राजाश्रय को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन्होंने अपनी महाभागवत की रचना को श्री रामचंद्र जी के चरणों पर समर्पित किया। यह तेलुगू साहित्य का अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। पोतंनकादि,सूरदास के समान भक्त कवि थे। इस युग में श्रीनाथ आदि कवियों ने संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद ही नहीं किया बल्कि मौलिक ग्रंथों की रचना भी की। कुछ कवियों ने संस्कृत नाटकों का काव्यानुवाद किया। ये तेलुगू के भक्त कवियों की अग्रश्रेणी में हैं।

श्री कृष्णदेवरायलु युग – कृष्णरायलु का राज्यकाल सन् 1509 से 1530 तक था। यह युग आंध्र साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। ये कन्नड़,तेलुगू तथा संस्कृत भाषाओं के प्रकांड विद्वान् एवं कवि थे। देश की रक्षा के साथ-साथ इन्होंने साहित्य के क्षेत्र को एक नई विकासदिशा दी। इनकी रचनाएँ "मदालसा चरित्रम्","सत्यावधुप्रीणनम्","सकलकथासारसंग्रहम्",

"ज्ञानचिंतामणि" और "रसमंजरि" आदि हैं। तेलुगू में इनके "आमुक्तमाल्यदा" की टक्कर का कोई भी काव्य शायद ही मिलता हो। इनका संस्कृत नाटक "जांबवंती परिणयम्" अब भी उपलब्ध है। इनके दरबारी कवि "अष्टदिग्गज" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन अष्टदिग्गजों में प्रथम प्रतिभावान् कवि अल्लासानि पेद्दन को "कवितापितामह" की उपाधि से विभूषित किया। इनकी "मनुचरित" रचना अत्यंत लोकप्रिय है। इनकी कविता से प्रभावित होकर कृष्णदेवराय ने कवि के दक्षिणपाद में स्वर्णघंटिका पहनाई। मादयूयागारि-मल्लन कवि राजशेखरचरित् के रचयिता थे। नंदतिम्मन ने "पारिजातापहरणम्" की तथा धूर्जटि कवि ने "कालहस्ति माहात्यम्" की रचना की। कालहस्ति दक्षिण में आंध्र प्रदेश का पवित्र स्थान है। नृसिंह कवि ने "कविकर्ण रसायनम्" नामक रचना में यह दावा किया कि उनके काव्य की शृंगारी कविता को पढ़ने से विरागी भी रसिक बनते हैं और वैराग्य का वर्णन पढ़ने से रसिक भी विरागी बन जाते हैं। ताल्लपाक चिन्नयामात्य कवि का अन्नमाचार्यचरित् ऐतिहासिक काव्य है जिसने समसामयिक काव्यों में विशेष स्थान प्राप्त किया। अय्यलराय कवि ने "सकलकथा सार संग्रहम्" कृष्णदेवरायलु के ग्रंथ का तेलुगू में अनुवाद किया।

पिंगलि सूरन्न – इनके ग्रंथ "राघवपांडवीयम्", "कलापूर्णोदियम्", "प्रभावती प्रद्युम्नम्" हैं। प्रथम द्वयर्थी काव्य है तो द्वितीय अनुपम कल्पित कथानक। तृतीय की कथा पुराणप्रसिद्ध है।

पोन्नगंटि तेलगनार्य – इन्होंने "ययातिचरितम्" नामक एक काव्य ठेठ तेलुगू भाषा में लिखा।

तेनालि रामलिंग कवि – इनकी रचना "पांडुरंग माहात्यम्" है। यह जटिल काव्य है। ये तेलुगू के कवियों में हास्यरस के कवि माने जाते हैं। इनकी कई हास्यकथाएँ आंध्र प्रदेश में परंपरा से प्रचलित हैं।

रामाराजभूषण कवि – इनका काल 1550 से 1590 ई. तक है। उस समय तेलुगू कवियों में उनके मुकाबिले का कोई कवि नहीं था। उनके ग्रंथ "वसुचरित्रम्" "नरसमूपालीयम्" और "हरिश्चंद्रनलोपाख्यानम्" आदि हैं। नरसमूपालीयमु नीतिग्रंथ है। "वसुचरित्रम्" इनका सर्वोत्तम काव्य है। प्रबंधकला का चरम विकास इस ग्रंथ में हुआ। इस काव्य के प्रत्येक शब्द में संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई देती है। उपर्युक्त विशेष साहित्यिक गुणों के कारण इस कव्य का अनुवाद तमिल तथा संस्कृत भाषाओं में भी हुआ है। इनका पांडित्य "हरिश्चंद्र-नलोपाख्यानम्" नामक द्वयर्थी काव्यरचना से प्रमाणित होता है।

कुम्मरि मोल्ल – ये तेलुगू भाषा की प्रथम कवयित्री हैं। ये कुम्हार जाति की स्त्री थीं। इनकी रामायण प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। इनके पूर्व तिरुमलूक्कं नाम की कवयित्री भी प्रसिद्ध थीं।

शंकर कवि ने हरिश्चंद्रोपाख्यान की तथा तरिगोंडधर्मन्न कवि ने चित्रभारतम् नामक अलंकारप्रधान काव्यग्रंथ की रचना की। तेलुगू साहित्य में अवधानकविता नाम की एक अनोखी कविता प्रचलित है। आजकल तेलुगू कविता क्षेत्र में "सहस्रावधान","शतावधान" और "अष्टावधान" भी प्रचलित हैं। इस कविता में सुप्रख्यात तिरुपति और वेंकट कवि विशेषकर उल्लेखनीय हैं। वेंकटशास्त्री आंध्रप्रदेश के सर्वप्रथम राजकवि बनाए गए। 19वीं शतब्दी के आदिकाल में इस कविता की नींव तरिगोंडधर्मन्न ने डाली।

एलकूचि बालसरस्वती – इन्होंने "सारंगधर चरित्रम्" "विजयविलासम्" नामक ग्रंथों की रचना की। श्री कृष्णदेवरायलु के राज्यकाल में काव्यकला का चरम विकास हुआ। इस युग में कवियों ने संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद करना छोड़कर स्वतंत्र मौलिक काव्यों की रचना ख्यात वृत्तों और कल्पित वृत्तों में की।

ह्रासकाल (1650 - 1900)

इस युगविशेष में आंध्र प्रदेश के छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होने के कारण काव्यकला के भाग्य में राजाओं के आश्रय में रहकर विकसित होने की सुविधा न थी। इसी बीच अंग्रेजों का भी भारतागमन हुआ।

शेषमुवेंकटपति – ने "तारशशांक विजयम्" नामक नाटक की रचना की।

कूचिमचितिम्मकवि ने ठेठ तेलुगू में "अच्च तेलुगू रामायणम्","नीला सुंदरीपरिणयम्" की रचना की। "रसिकजनमनोभिरामम्","राजशेखर विलासम्", "सर्वलक्षणसार संग्रहम्" इनकी अन्य रचनाएँ हैं। "शिवलीला विलासम्" आदि भक्तिप्रधान कृतियाँ भी इन्होंने लिखीं।

एनुगु लक्ष्मणकवि – ये "रामेश्वर महात्म्यम्","गंगामहात्म्यसम्" "गोवर्ण सूर्य शतकम्" और "सुभाषित रत्नावली" आदि के रचयिता हैं। सुभाषित रत्नावली भर्तृहरि की त्रिशती का सफल अनुवाद है।

पिडिप्रोल लक्ष्मण कवि – इन्होंने "रावणदंभीयम्" या "लंका विजयमुद्ध नामक काव्य लिखा। यह दूषित काव्य है। इस कवि ने रावण का आरोप धर्माराव नामक राजा पर करके काव्य की रचना की। इसी युग में क्षेत्रय्या और त्यागराजु नामक दो कवि बड़े सुप्रतिष्ठित हुए हैं। त्यागराजु के पदों की मधुरिमा से दक्षिण भारत के प्रत्येक व्यक्ति का मन मुग्ध हो जाता है।

आधुनिक काल (1850 ई. से आगे)

इस युग में अंग्रेजी भाषा के विद्वान् सीपी ब्राउन महोदय ने तेलुगू की बड़ी सेवा की। इनका निघंटु (कोश) अंग्रेजी से तेलुगू, तेलुगू से अंग्रेजी में लिखा गया प्रसिद्ध कोश है। ये आंध्र प्रदेश में अंग्रेज न्यायाधीश थे। कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु उदारहृदय, समाजसेवी तथा विद्वान् थे। इन्होंने कई नाटक, उपन्यास, काव्य, कहानी आदि ग्रंथ लिखकर साहित्य के प्रत्येक मार्ग को प्रशस्त किया। ये भारतेंदु हरिश्चंद्र की तरह समाज सुधारक थे। सन् 1910 से काव्य की नवीन धारा साहित्य के क्षेत्र में बहने लगी। तेलुगू साहित्य में भी रहस्यवादी, छायावादी कविताएँ प्रवाहित हुईं।

इसके साथ-साथ स्वतंत्रता के आंदोलन के समय राष्ट्रीयता की लहर साहित्य में तरंगित हो उठी। इस युग में कव्य, नाटक, उपन्यास, समालोचना, कहानी, गीतिनाटक, एकांकी आदि का विकास हुआ। आजकल रेडियो नाटक भी प्रसारित हो रहे हैं। 1940 ई. से प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। अन्नसंकट आदि की समस्याओं को लेकर भी रचनाएँ की गईं।

आधुनिक काल के प्रमुख विद्वान् परब्रस्तु चिन्नयसूरि (1506-1852) ने "बाल व्याकरणम्" लिखकर तेलुगू भाषा का मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित किया। यह विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य पाठ्यग्रंथ है। इनकी "नीतिचंद्रिका" पंचतंत्र का गद्यानुवाद है। यह भी विद्यालयों में बहुत प्रचलित है।

बहुजनपल्लि सीतारामाचार्य – इन्होंने सर्वप्रथम प्रामाणिक कोश "शब्दरत्नाकर" की रचना की। इसकी टक्कर का लोकप्रिय कोश अबतक अप्राप्य है।

वेदंवेंकटराय शास्त्री – (1859 से 1929) तेलुगू और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। "साहित्यदर्पण" आदि ग्रंथों का अनुवाद भी इन्होंने किया।

धर्मवरम् रामकृष्णमाचार्य – (1859 से 1913 तक) इन्होंने कई स्वतंत्र नाटक लिखकर उनका अभिनय स्वयं रंगमंच पर कराया। तेलुगू में खेले जाने योग्य नाटकों के निर्माण की नींव डालने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

जयंती रामय्या ने सात सौ शिलालेखों का प्रकाशन सरकार द्वारा कराया। तेलुगू में इनकी "शासन पद्य मंजरी" लोकप्रिय है। गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने तेलुगू भाषाशैली को सुधारा। व्यावहारिक बोलचाल की भाषा में ग्रंथ लिखने की नींव इन्होंने सर्वप्रथम डाली। इनकी कृतियों में "गद्यचिंतामणि","बालकविशरणयम्" उल्लेखनीय हैं। इन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर इनके सुपुत्र डा. सीतापति संस्कृत और तेलुगू के ग्रंथों की रचना कर रहे हैं।

पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंह राव – "राधाकृष्ण कंठाभरण" आदि सात आठ नाटकों के रचयिता हैं। अंग्रेजी में जो स्थान एडिसन को प्राप्त है वही तेलुगू साहित्य में इनका है। इनकी व्यंग्य रचना "साक्षी" नामक लेखमाला से प्रकट होती है।

श्रीपादकृष्णमूर्तिशास्त्री – ने वेदों का पूर्ण अध्ययन किया। शताधिक तेलुगू ग्रंथों की रचना की। उनकी महाभारत की रचना तेलुगू साहित्य में विशेष उल्लेखनीय है। इसी कारण ये 'आंध्रव्यास' कहे जाते हैं। ये कविसार्वभौम तथा महामहोपाध्याय की उपाधियों से भी विभूषित हुए। इनके नाटक कुछ स्वतंत्र और कुछ अनूदित हैं। ये आंध्र प्रदेश के राजकवि भी बनाए गए।

त्रिलकमूर्ति लक्ष्मी नरसिंहम् – जो आंध्र मिल्टन के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये युवावस्था में ही अंधे हो गए। इनके कई नाटक और कहानियाँ आदि अत्यंत सुप्रसिद्ध हैं। चिलुकूरि वीरभद्रराव को आंध्र साहित्य का इतिहास लिखने का श्रेय प्राप्त है।

कोर्मराजु लक्ष्मणराव ने हिंदू महम्मदीय मुगल शिवा जी चरितम् आदि कई ग्रंथों की रचना की। 'आंध्रविज्ञान सर्वस्वम्' नाम से तेलुगू में एक विश्वकोश सर्वप्रथम तैयार करने का श्रेय इनको मिला। इसके केवल दो अंक छापे गए। इन्हीं के मार्ग पर तेलुगू भाषा समिति की ओर से तेलुगू विश्वकोश का प्रणयन हुआ।

चार्ल्स फिलिप ब्राउन ने तेलुगू निघंटु (कोष) संकलन करने और बनाने में सफल रहे। आधुनिक युग के युवकों पर पाश्चात्य साहित्य के स्वच्छंदतावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद आदि का घनिष्ठ प्रभाव पड़ा। वंग साहित्य के अनुवाद ने भी तेलुग में अपना स्थान ग्रहण किया।

विश्वसत्यनारायण – इन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से साहित्य के प्रत्येक कोने को प्रकाशित किया। हाल ही में इन्होंने श्रीमद्रामायण कल्पवृक्षम् नाम से बृहदाकार रामायण की रचना की। इस पंथ के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कवि वेलूरी शिवराम शास्त्री, स्व. वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, स्व. काटूरि वेंकटेश्वरराव, स्व. जनभंत्रि शेषाद्रि शर्मा, राल्लपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा, स्व. मल्लमपल्लि सोमेशेखर शर्मा, नेदवोलुवेंकटराव, शिवशंकर शास्त्री, स्व. सुरवरम् प्रतापरेड्डी, स्व. मानवल्ली रामकृष्ण कवि, काशी कृष्णाचार्य (आंध्र के वर्तमान राजकवि), स्व. राजशेखर शतावधानी, गडियारम् वेंकटेश शास्त्री, उमरअली शाह, जाषुवा, तुम्मल सीताराम मूर्ति चौधरी, स्व. मदिराजु विश्वनाथ राव, स्व. कट्टमंचिरामलिंगा रेड्डी, स्व. दुव्वूरी-रामरेड्डी आदि प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्व कवि की शैली में रचे हुए ग्रंथ

तेलुगू साहित्य के आभूषण माने गए हैं। प्रगतिवादी कविता के अग्रदूत हैं श्री रंगम् श्रीनिवास राव। इनके अनुयायियों में अनेकानेक कवि हैं। देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री, रायप्रोलु सुब्बाराव आदि भावकवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। गुरुजाडा अप्पाराव सुप्रसिद्ध लोककवि हैं।

संस्कृत एवं तमिल आदि का प्रभाव

तेलुगू साहित्य अधिकांशत: संस्कृत साहित्य से प्रभावित है, फिर भी उसमें मौलिक सर्जना पर्याप्त मात्रा में हुई। तेलुगू में मार्गकविता यानी संस्कृतमय कविता और देशी कविता यानी व्यावहारिक शब्दों की कविता की गयी। मार्गकविता में पुराणसाहित्य का निर्माण हुआ। देशी कविता में द्विपदा साहित्य, जानपद साहित्य आदि का निर्माण हुआ। इसी बीच पुराणसाहित्य, नाटकसाहित्य, प्रबंधसाहित्य के अतिरिक्त उदाहरणसाहित्य आदि का भी निर्माण हुआ।

तेलुगू साहित्य पर तमिल साहित्य का प्रभाव भी काफी पड़ा। मौलिक उपन्यास लिखे गए। आजकल अनुवाद कार्य संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला तथा हिंदी आदि अन्य भाषाओं से हो रहा है। रसगंगाधर आदि लक्षण ग्रंथों का अनुवाद माधव शर्मा आदि कवियों ने किया। "ध्वन्यालोक" का अनुवाद तिरुत्रेंगडाचार्य और पंतुलु लक्ष्मीनारायण शास्त्री ने किया। प्रेमचंद्र की कहानियों के साथ-साथ वैज्ञानिक साहित्य का अनुवाद भी तेलुगू में "परमाणुगाथा" आदि ग्रंथों के पूरक के रूप में हो रहा है।

तेलुगू साहित्य क्षेत्र में 11वीं शताब्दी के आरंभ से आजतक के हजार वर्ष में इतिहास पुराणादि से गाँवों की कहानियाँ, गाने आदि तक की हर प्रवृत्ति की हजारों कृतियों की सृष्टि हुई। आंध्र प्रदेश की साहित्य अकादमी तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं द्वारा इनकी श्रीवृद्धि भी यथासाध्य हो रही है। आंध्रप्रदेश में संस्कृत और तेलुगू भाषा में समान उच्च कोटि की प्रतिभा रखनेवाले विद्वान् और कवि विराजमान हैं।

इसका एकमात्र कारण इन दो भाषाओं का पारस्परिक संबंध है। संस्कृत के प्रमुख ग्रंथ तेलुगू में अनूदित हुए हैं। इन अनुवादों में व्याकरण, न्याय, वेदांत (दर्शन) आदि शास्त्रग्रंथ भी सम्मिलित हैं। उपर्युक्त साहित्यिक गतिविधियों के कारण तेलुगू भाषा और साहित्य का भविष्य उज्ज्वल एवं विकासोन्मुख दिखाई देता है।

पत्र-पत्रिकाएँ

तेलुगू भाषा में मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ अधिक संख्या में प्रकाशित होती हैं। मासिक पत्रों में प्रथम पत्रिका शारदा थी। भारती का आरंभ 1924 ई. में हुआ। देशोद्धारक काशीनाथुनि नागेश्वर राव इस पत्रिका के संस्थापक थे। उस कांग्रेसी नेता तथा साहित्यसेवी के औदार्य से कई साहित्य लेखक, विद्यार्थी और साहित्यिक संस्थाएँ पली हैं। "भारती" के अलावा "सखी" उषा","वीणा","उदायिनी" और जयंती आदि तेलुगू मासिक पत्रिकाएँ उल्लेखनीय हैं। महिलाओं के लिये गृहलक्ष्मी, हिंदू सुंदरी, आंध्रमहिला आदि मासिक पत्रिकाएँ प्रचलित हैं। आंध्रमहिला का संचालन श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख के द्वारा हुआ। साप्ताहिक पत्रिकाओं में "कृष्णा" पत्रिका प्रमुख है जिसका संपादन कृणराव जी कर रहे थे। अब उसका संचालन श्री एम. एस. के. शर्मा द्वारा हो रहा है इसके अतिरिक्त साप्ताहिक पत्रिकाओं में "आंध्र प्रभा", "आंध्रपत्रिका" आदि उल्लेखनीय हैं। आंध्र प्रदेश सरकार के सूचना विभाग से "आंध्रप्रदेश" नाम का मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है। दैविक पत्रों में आंध्र पत्रिका का संचालन लगभग 45 वर्ष पूर्व "भारती" के संचालक श्री नागेश्वर राव जी द्वारा हुआ। अब इसके संचालक श्री शंभुदास हैं। "आंध्रपत्रों का आरंभ करीब 20 वर्ष पूर्व नारायणमूर्ति के संपादकत्व में हुआ। अब इसके सपादक श्री नीलंराजु-वेंकटशेषय्या हैं। इनके अतिरिक्त "आंध्रज्योति","गोलकोंडा पत्रिका", "आंध्रजनता","आंध्रभूमि" और कम्युनिस्टों की "विशालांध्र" पत्रिका आदि आंध्र प्रदेश से निकल रहे हैं।

साहित्यिक संस्थाएँ

कई साहित्यक संस्थाएँ आंध्र प्रदेश में हैं। उनमें से आंध्र साहित्यिक परिषद् काकिनाडा, साहिती समिति रेपल्लै, अखिल साहित्य कला विवर्धन, आंध्रसंसद और नव्य साहित्य परिषद् गुंटूर, आंध्रसारस्वत परिषद् हैदराबाद उल्लेखनीय हैं। मद्रास की तेलुगू भाषा समिति की ओर से तेलुगू के विश्वकोश का निर्माण और प्रकशन हो रहा है। इसके अलावा हैदराबाद नगर में "संग्रह आंध्रविज्ञान सर्वस्वम्" के नाम से तेलुगू में एक संक्षिप्त विश्वकोश भी प्रकाशित हो रहा है। उसके दो खंड निकल चुके हैं। इसके मुख्य संपादक उस्मानिया विश्वविद्यालय के तेलुगू विभाग के अध्यक्ष, प्रो. खंडवल्लि लक्ष्मीरंजनम् हैं। आंध्र विज्ञान सर्वस्वम् एवं तेलुगू भाषासमिति के अध्यक्ष डा. गोपाल रेड्डी हैं।

13

तमिल भाषा एवं साहित्य

तमिल एक भाषा है, जो मुख्यत: तमिलनाडु तथा श्रीलंका में बोली जाती है। तमिलनाडु तथा पुदुचेरी में यह राजभाषा है। यह श्रीलंका तथा सिंगापुर की कई राजभाषाओं में से एक है। तमिलद्राविड़ भाषा परिवार की प्राचीनतम भाषा मानी जाती है। इसकी उत्पत्ति के सम्बंध में अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि किस समय इस भाषा का प्रारम्भ हुआ। विश्व के विद्वानों ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के समान तमिल को भी अति प्राचीन तथा सम्पन्न भाषा माना है। अन्य भाषाओं की अपेक्षा तमिल भाषा की विशेषता यह है कि यह अति प्राचीन भाषा होकर भी लगभग 2500 वर्षों से अविरत रूप से आज तक जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यवहृत है। तमिल भाषा में उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर यह निर्विवाद निर्णय हो चुका है कि तमिल भाषा ईसा से कई सौ वर्ष पहले ही सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित हो गई थी।

मुख्य रूप से यह भारत के दक्षिणी राज्य तमिलनाडु, श्री लंका के तमिल बहुल उत्तरी भागों, सिंगापुर और मलेशिया के भारतीय मूल के तमिलों द्वारा बोली जाती है। भारत, श्रीलंका और सिंगापुर में इसकी स्थिति एक आधिकारिक भाषा के रूप में है। इसके अतिरिक्त यह मलेशिया, मॉरिशस, वियतनाम, रियूनियन इत्यादि में भी पर्याप्त संख्या में बोली जाती है। लगभग 7 करोड़ लोग तमिलभाषा का प्रयोग मातृ-भाषा के रूप में करते हैं। यह भारत के तमिलनाडु राज्य की प्रशासनिक भाषा है और यह पहली ऐसी भाषा है जिसे 2004 में भारत सरकार द्वारा शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिया गया।

तमिलद्रविड़ भाषा परिवार और भारत की सबसे प्राचीन भाषाओं में गिनी जाती है। इस भाषा का इतिहास कम से कम 3000 वर्ष पुराना माना जाता है।

प्राचीन तमिल से लेकर आधुनिक तमिल में उत्कृष्ट साहित्य की रचना हुयी है। तमिल साहित्य कम से कम पिछले दो हजार वर्षों से अस्तित्व में है, जो सबसे आरंभिक शिलालेख पाए गए हैं वे तीसरी शताब्दी ईसापूर्व के आसपास के हैं। तमिल साहित्य का आरंभिक काल, संघम साहित्य, 300 ई.पू.–300 ईस्वी का है।

इस भाषा के नाम को "तमिल" या "तामिल" के रूप में हिन्दी भाषा-भाषी उच्चारण करते हैं। तमिल भाषा के साहित्य तथा निघण्टु में तमिल शब्द का प्रयोग 'मधुर' अर्थ में हुआ है। कुछ विद्वानों ने संस्कृत भाषा के द्राविड़ शब्द से तमिल शब्द की उत्पत्ति मानकर द्राविड़ > द्रविड़ > द्रमिड़ > द्रमिल > तमिल आदि रूप दिखाकर तमिल की उत्पत्ति सिद्ध की है, किन्तु तमिल के अधिकांश विद्वान इस विचार से सर्वथा असहमत हैं।

तमिल लिपि

तमिल लिपि एक लिपि है जिसमें तमिल भाषा लिखी जाती है। इसके अलावा सौराष्ट्र, बडगा, इरुळा और पनिया आदि अल्पसंख्यक भाषाएँ भी तमिल लिपि में लिखी जातीं हैं। यह लिपि भारत और श्रीलंका में तमिल भाषा को लिखने में प्रयोग की जाती है। यह ग्रंथ लिपि और ब्राह्मी के दक्षिणी रूप से विकसित हुई। यह शब्दावली भाषा है ना की वर्णमाला वाली। इसे बाएं से दाएं लिखा जाता है। हम जानते हैं कि लिपियां मानव की ही देन है, उन्हें ईश्वर या देवता ने नहीं बनाया। प्राचीन काल में किसी पुरातन और कुछ जटिल वस्तु को रहस्यमय बनाए रखने के लिए उस पर ईश्वर या किसी देवता की मुहर लगा दी जाती थी, किंतु आज हम जानते हैं कि लेखन-कला किसी 'ऊपर वाले' की देन नहीं है, बल्कि वह मानव की ही बौद्धिक कृति है। कुछ पुरालेखकों के अनुसार- सभी भारतीय लिपि ब्राह्मी लिपि से विकसित हुई हैं। भारत में लिपि के तीन मुख्य परिवार हैं–1. देवनागरी– उत्तरी और पश्चिमी भारत जैसे हिंदी, गुजराती, बंगाली, मराठी, डोगरी, पंजाबी आदि भाषाओं का आधार है। 2. कदंब– तेलुगू और कन्नड़ का आधार है। 3. ग्रंथ, तमिल और मलयाळम जैसे द्रविड़ भाषाओं का उपखंड है, लेकिन यह अन्य दो के रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं है।

तमिल साहित्य

तमिल साहित्य भारत तथा श्रीलंका की एक द्रविड़ भाषा तमिल का रचना संसार है। शास्त्रीय संस्कृत में लिखित साहित्य के अलावा तमिल भारत का

प्राचीनतम साहित्य है। कुछ प्रस्तर अभिलेख तीसरी शताब्दी ई. पू. के हैं, लेकिन वास्तविक तमिल साहित्य लगभग ईसा के बाद पहली शताब्दी का है। अधिकांश आरंभिक काव्य धार्मिक या काव्यात्मक था, जिसमें धर्मनिरपेक्ष दरबारी कविता अपवादस्वरूप थी, जिसकी रचना संगम या विद्वत परिषद के सदस्यों ने की। चौथी से छठी शताब्दी की उल्लेखनीय कृतियों में दो महाकाव्य 'शिल्पादिकारम' व 'मणिमेकलाई' और प्रेम, शासकत्व व नीति जैसे विषयों पर सूक्तियों का संग्रह 'तिरुकुरल' शामिल हैं। ईसा के बाद छठी से नौवीं शताब्दी में भक्ति का आविर्भाव हुआ, जो व्यक्तिगत भक्ति की कविता व धर्म से संबंधित थी और तमिल क्षेत्र में जिसकी शुरुआत विष्णु तथा शिव के सम्मान में आलवार व नयनारों के भजनों से हुई। 12वीं से 16वीं शताब्दी तक धार्मिक प्रतिश्रुतियों के कई दार्शनिक ग्रंथ, नीति कथा संग्रहों और साथ ही कवि कंबन की शास्त्रीय कृतियों की संरचना हुई। 19वीं शताब्दी से तमिल साहित्य पर लगातार पश्चिमी स्वरूपों और विचारों का प्रभाव पड़ा।

संगम साहित्य

संगम साहित्य तमिल भाषा में पांचवीं सदी ईसा पूर्व से दूसरी सदी के मध्य लिखा गया साहित्य है। इसकी रचना और संग्रहण पांड्य शासकों द्वारा मदुरै में आयोजित तीन संगम के दौरान हुई। संपूर्ण संगम साहित्य में 473 कवियों की 2381 रचनाएं हैं। इन कवियों में से 102 अनाम कवि हैं। यह साहित्य प्राचीन तमिल समाज की सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए बेहद उपयोगी है। इसने बाद के साहित्यिक रूढ़ियों को बहुत प्रभावित किया है। दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास के लिये संगम साहित्य की उपयोगिता अनन्य है। इस साहित्य में उस समय के तीन राजवंशों का उल्लेख मिलता है–चोल, चेर और पाण्ड्य।

तमिल ईसा काल के आरंभ से ही लिखित भाषा के रूप में आ गयी थी। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि अधिकांश संगम साहित्य की रचना ईसा काल की आरंभिक चार शताब्दियों में हुई, यद्यपि उसका अंतिम रूप से संकलन 600 ईसवी तक हुआ। राजाओं एवं सामान्तों के आश्रयाधीन सभाओं में एकत्र हुए कवियों ने तीन से चार शताब्दियों की अवधि में संगम साहित्य की रचना की। कवि, चारण, लेखक और रचनाकार दक्षिणी भारत के विभिन्न भागों से मदुरै आए। इनकी सभाओं को 'संगम' और इन सभाओं में रचित साहित्य को 'संगम

साहित्य' कहा गया। इसमें तिरूवल्लूवर जैसे तमिल संतों की कृतियाँ 'कुराल' उल्लेखनीय हैं जिनका बाद में अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया। संगम साहित्य अनेक वीरों और वीरांगनाओं की प्रशंसा में रचित अनेक छोटी-बड़ी कविताओं का संग्रह है। ये कविताएँ धर्मसम्बन्धी नहीं है तथा ये उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। ऐसी तीन संगम सभाएँ आयोजित हुईं। प्रथम संगम में संकलित कविताएं गुम हो गईं। दूसरे भाग की 2000 कविताएँ संकलित की गई हैं।

संगम साहित्य में 30, 000 पंक्तियों की कविताएं शामिल हैं। इन्हें आठ संग्रहों में संकलित किया गया, जिन्हें 'एट्टूतोकोई' कहा गया। इनके दो मुख्य समूह हैं- पाटिनेनकिल कनाकू (18 निचले संग्रह) और पट्टूपट्टू (10 गीत)। पहले समूह को सामान्यत: दूसरे से अधिक पुराना और अपेक्षाकृत अधिक ऐतिहासिक माना जाता है। तिरुवल्लुवर की कृति 'कुराल' को तीन भागों में बांटा गया है। पहला भाग महाकाव्य, दूसरा भाग राजनीति और शासन तथा तीसरा भाग प्रेम विषयक है।

संगम साहित्य के अलावा एक रचना 'तोलक्कापियम' भी है। इस रचना का विषय व्याकरण और काव्य है। इसके अतिरिक्त 'शिलाप्पदीकारम' तथा 'मणिमेकलई' नामक दो महाकाव्य हैं, जिनकी रचना लगभग छठी ईसवी में की गई। पहला महाकाव्य तमिल साहित्य का सर्वोत्तम रत्न माना जाता है। प्रेमगाथा को लेकर इसकी रचना की गई है।

दूसरा महाकाव्य मदुरै के अनाज व्यापारी ने लिखा था। इस प्रकार दोनों महाकाव्यों में दूसरी सदी से छठी सदी तक तमिल समाज के सामाजिक, आर्थिक जीवन का चित्रण प्राप्त होता है।

नैनार और आलवार साहित्य

तमिल साहित्य में संगम काल के पश्चात अगला महत्त्वपूर्ण काल आलवारों और नयनारों द्वारा रचे गए भक्ति साहित्य का है। नैनारों की संख्या चार थी। ये शैव थे। आलवार 12 थे। ये विष्णु भक्त थे।

बौद्ध और जैन साहित्य

प्राचीन और मध्ययुगीन तमिल साहित्य में बौद्ध और जैन धर्म से संबंधित धार्मिक रचनाओं और चरित काव्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से पउमचरियु बेहद उल्लेखनीय रचना है।

आधुनिककालीन साहित्य

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति तमिल साहित्य में सुब्रह्मण्य भारती (1882-1921) ने 'निजभाषा-उन्नति' के मूलमन्त्र के साथ नवजागरण का शंखनाद किया था। भारतेन्दु के समान ही भारती कविता, निबन्ध, गद्यकाव्य, पत्रकारिता, अनुवाद आदि साहित्य की प्रत्येक विधा के पुरोधा रहे। उनकी पहली कहानी 'छठा भाग' अछूतों के जीवन पर केन्द्रित है। विदेशी सत्ता से देश को स्वाधीन करने के संकल्प के साथ दलितों को उत्पीड़न से मुक्त करने का आह्वान इस कहानी में मुखरित है, फिर भी यह कहानी स्वयं उनके दावे के अनुसार कहानी के अभिलक्षणों पर खरी नहीं उतर पायी। इसके बाद तमिल कहानी की बागडोर भारती के ही साथी व. वे. सु. अय्यर के हाथों आयी। उनकी कहानी 'अरशभरत्तिन् कदै' (पीपलदादा की कथा) इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि अय्यर कहानी की निश्चित एवं विशिष्ट रूप-कल्पना के प्रति सचेत थे।

तीस और चालीस के दशक राष्ट्रीय चेतना और सृजनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से तमिल साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में एक लघु नवजागरण काल के रूप में उभरे। इस युग में संगीत, नृत्य और साहित्य के क्षेत्र में सृजनात्मक प्रतिभा की धनी अनेक विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्य के क्षेत्र में सिरमौर माने जानेवाले पुदुमैपित्तन (1906-1948) ने एक छोटे-से अरसे में सौ से अधिक कहानियाँ रच डालीं- कथ्य और शिल्प, मुहावरा और प्रवाह, तकनीक और शैली हर लिहाज से उत्कृष्ट कहानियाँ। साथ ही यह भी सच है कि पुदुमैपित्तन के सम्पूर्ण लेखन में कड़ुवाहट और निराशावाद का अन्तःस्वर सुनाई देता है।

इसी युग में कु. पं. राजगोपालन ने नारी की वेदना को अपनी कहानियों में अंकित किया। न. पिच्चमूर्त्ति की कहानियों में परिवार की चारदीवारियों का चित्रण है। ल. सा. रामामृतम की कहानियाँ परिवार की चारदीवारियों में सिमट जाती हैं। चिदम्बर सुब्रह्मण्यन ने जीवन के उदात्त एवं कोमल पक्षों पर प्रकाश डाला। सि. सु. चेल्लप्पा में किसी भी वातावरण के सूक्ष्म विवरण के साथ पुनः सृजन करने की दक्षता है। 'मणिक्कोडी' पत्रिका के माध्यम से अनेक कथाकारों की प्रेरक शक्ति रहे बी.एस. रामय्या स्वयं प्रतिभावान साहित्यकार थे। ति. जानकीरामन की कहानियों में एक सम्मोहक आकर्षण है। कल्कि की कहानियों में जनरंजकता के साथ हास्य का पुट है। कु अलगिरि सामी में घिसी-पिटी और मामूली बातों को सीधी सरल भाषा में वर्णित करने की अद्‌भुत क्षमता है।

जयकान्तन की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कथाकारों की खूबियों को आत्मसात् करते हुए उन्हें परिष्कृत ढंग से प्रस्तुत करने में कामयाबी हासिल की है।

जयकान्तन के पचास के दशक में, जब तमिल कहानी के प्रांगण में पदार्पण किया, साहित्य-जगत् संकटपूर्ण घड़ी में गुजर रहा था। विशाल पाठक-वर्ग का दावा करनेवाली भीमकाय पत्रिकाओं का साम्राज्य स्थापित हो गया और सर्जनात्मक प्रतिभाएँ इस कुहरे से आच्छादित हो गयीं। ये व्यावसायिक पत्रिकाएँ तथाकथित जनरुचि की आड़ लेते हुए विज्ञापनबाजी की होड़ में सस्ते मनोरंजन की सामग्री छापने लगीं। फलतः सच्चे साहित्यकारों ने इन पत्रों को छोड़कर लघु-पत्रिकाओं में लिखना पसन्द किया। यह अलग बात है कि उन्हें अपने लेखन के बदले में कुछ भी नहीं मिला। अगले दशक तक आते-आते व्यावसायिक पत्रों ने लघु-पत्रिकाओं को नेस्तनाबूत कर दिया। सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में एक तरह की स्थिरता आ गयी।

ऐसी विषम परिस्थिति में उल्टी धारा में तैरते हुए जिन लेखकों ने कथा-साहित्य में अपनी पहचान बनायी, उनमें अखिलन और जयकान्तन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अखिलन के लेखन में रोमांस लिये हुए आदर्शवाद का पलड़ा भारी दिखता है जबकि जयकान्तन की कहानियों में कथानकों की विविधता, समस्याओं का यथार्थ चित्रण और प्रस्तुतीकरण की तकनीक नयी बुलन्दियाँ छू रही हैं। अखिलन और जयकान्तन में एक समानता यह पायी जाती है कि दोनों ने व्यावसायिक पत्रिकाओं में लिखते हुए कभी भी अपने आत्मसम्मान के साथ समझौता नहीं किया। जयकान्तन इस विषय में एक कदम आगे ही रहे। जिन व्यावसायिक पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ छपती थीं, मंच पर खड़े होकर उनके विरुद्ध सात्त्विक रोष से गर्जन करते थे। वामपन्थी विचारधारा की पत्रिका में जिस समस्या पर लिखते, उसी को और अधिक तीखे शब्दों में व्यावसायिक पत्र में लिखने का साहस उनमें है।

तमिल कथा-साहित्य में जयकान्तन के वर्चस्व के नैरन्तर्य को समझने के लिए उनके परवर्ती युग के इतिहास की चर्चा आवश्यक है। सुन्दर रामस्वामी (जन्म 1931) जयकान्तन के समकालीन हैं। समीक्षक वेंकट स्वामिनाथन के शब्दों में, ''दोनों ही कथाकार स्वाध्याय के धनी थे और प्रारम्भिक लेखन में वामपन्थी विचारधारा से प्रभावित थे। अब वामपन्थी सिद्धान्त के साथ उनकी पहचान नहीं की जाती, ऐसे में उनकी समानता यहीं समाप्त हो जाती है। सुन्दर

रामस्वामी की कृतियाँ स्पृहणीय हास्य के साथ अधिक परिष्कृत हैं, किन्तु वे कभी-कभार ही लिखते हैं। जयकान्तन मुखर, गम्भीर और आक्रामक तेवर के लेखक हैं, जो प्रचुर मात्रा में लिखते हैं। साठ-सत्तर के दशकों में जयकान्तन तमिल लेखकों में सव्यसाची माने जाते थे। उनकी भाषा सशक्त है और चयनित विषय मुखर साहसिकता से ओतप्रोत।''

तीस के दशक में मुखरित दो सृजनात्मक स्वर पचास के दशक में आलोचक स्वर बनने को बाध्य हुए। ये स्वर क.ना. सुब्रह्मण्यम और सि.सु. चेल्लप्पा थे। चेल्लप्पा प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझते हुए अपनी लघु-पत्रिका 'एषुन्तु' (1959-1970) के माध्यम से सशक्त पाठक-मण्डल का सृजन करने में सफल रहे। साठ के दशक के अन्त तक 'एषुन्तु' द्वारा दिखाये मार्ग का अनुसरण करते हुए लघु-पत्रिकाओं का एक आन्दोलन-सा शुरू हो गया। इन पत्रिकाओं के पन्नों से साठोत्तर दशक से लेकर बीसियों कहानी-लेखक उभरे, जो तीस-चालीस के दशकों के लेखकों के उत्तराधिकारी बने। इनमें उल्लेखनीय नाम हैं- प्रपंचन, कि. राजनारायणन, अशोक मित्रन, एन.मुत्तुस्वामी, चार्वाकन, सुजाता, पूमणि, पावण्णन, दिलीप कुमार, सा.कन्दस्वामी, इन्दिरा पार्थसारथी, वण्ण निलवन, तिलकवती, नांजिल नाडन, वण्ण दासन आदि। इन सभी को रूप और तकनीक विरासत में मिल गयी, जिसे अपने ढंग से विकसित करना मात्र इनका काम था।

अस्सी और नब्बे के दशकों में पहुँचते-पहुँचते प्रतिभा-सम्पन्न रचनाकारों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। इस अवधि में रचित साहित्य में तदनुरूप गुणात्मक श्रेष्ठता परिलक्षित होती है। तमिल साहित्य की पूर्ववर्ती दुनिया ब्राह्मणों और उनके निचले स्तर के उच्च वर्ण के हिन्दुओं की थी। इसके विपरीत साक्षर निचले तबकों में से एक पीढ़ी छोड़कर अगली पीढ़ी से आये लेखकों ने अपने जीवन के अनुभवों और दृष्टिकोण से वर्तमान तमिल लेखन को विशाल अनुभव-विश्व से परिचित कराया है, ऐसे रंग-वैविध्य एवं रोष-आक्रोश के तेवर दिखलाये हैं, जो अभूतपूर्व हैं।

उर्दू भाषा एवं साहित्य

उर्दू भाषा हिन्द आर्य भाषा है। उर्दू भाषा हिन्दुस्तानी भाषा की एक मानकीकृत रूप मानी जाती है। उर्दू में संस्कृत के तत्सम शब्द न्यून हैं और अरबी-फारसी और संस्कृत से तद्भव शब्द अधिक हैं। ये मुख्यत: दक्षिण एशिया

में बोली जाती है। यह भारत की शासकीय भाषाओं में से एक है तथा पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा है। इसके अतिरिक्त भारत के राज्य जम्मू और कश्मीर की मुख्य प्रशासनिक भाषा है। साथ ही तेलंगाना, दिल्ली, बिहार और उत्तर प्रदेश की अतिरिक्त शासकीय भाषा है।

'उर्दू' शब्द की व्युत्पत्ति

'उर्दू' शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है तथा इसका अर्थ है- 'शाही शिविर' या 'खेमा'(तम्बू)। तुर्कों के साथ यह शब्द भारत में आया और इसका यहाँ प्रारम्भिक अर्थ खेमा या सैन्य पड़ाव था। शाहजहाँ ने दिल्ली में लालकिला बनवाया। यह भी एक प्रकार से 'उर्दू' (शाही और सैन्य पड़ाव) था, किन्तु बहुत बड़ा था। अतः इसे 'उर्दू' न कहकर 'उर्दू ए मुअल्ला' कहा गया तथा यहाँ बोली जाने वाली भाषा- 'जबान ए उर्दू ए मुअल्ला' (श्रेष्ठ शाही पड़ाव की भाषा) कहलाई। भाषा विशेष के अर्थ में 'उर्दू' शब्द इस 'जबान ए उर्दू ए मुअल्ला' का संक्षेप है। मुहम्मद हुसैन आजाद, उर्दू की उत्पत्ति ब्रजभाषा से मानते हैं। 'आब ए हयात' में वे लिखते हैं कि 'हमारी जबान ब्रजभाषा से निकली है।'

उर्दू साहित्य

उर्दू भारत तथा पाकिस्तान की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है। इसका विकास मध्ययुग में उत्तरी भारत के उस क्षेत्र में हुआ जिसमें आज पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली और पूर्वी पंजाब सम्मिलित हैं। इसका आधार उस प्राकृत और अपभ्रंश पर था जिसे 'शौरसेनी' कहते थे और जिससे खड़ीबोली, ब्रजभाषा, हरियाणी और पंजाबी आदि ने जन्म लिया था। मुसलमानों के भारत में आने और पंजाब तथा दिल्ली में बस जाने के कारण इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा में फारसी और अरबी शब्द भी सम्मिलित होने लगे और धीरे-धीरे उसने एक पृथक् रूप धारण कर लिया। मुसलमानों का राज्य और शासन स्थापित हो जाने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था कि उनके धर्म, नीति, रहन-सहन, आचार-विचार का रंग उस भाषा में झलकने लगे। इस प्रकार उसके विकास में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हो गईं जिनकी आवश्यकता उस समय की दूसरी भारतीय भाषाओं को नहीं थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में बोलचाल में खड़ीबोली का प्रयोग होता था। उसी के आधार पर बाद में उर्दू का साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ। इसमें काफी समय लगा, अतः देश के कई भागों

में थोड़े-थोड़े अंतर के साथ इस भाषा का विकास अपने-अपने ढंग से हुआ।

उर्दू का मूल आधार तो खड़ीबोली ही है किंतु दूसरे क्षेत्रों की बोलियों का प्रभाव भी उसपर पड़ता रहा। ऐसा होना ही चाहिए था, क्योंकि आरंभ में इसको बोलनेवाली या तो बाजार की जनता थी अथवा वे सुफी-फकीर थे जो देश के विभिन्न भागों में घूम-घूमकर अपने विचारों का प्रचार करते थे। इसी कारण इस भाषा के लिए कई नामों का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने उसको "हिंदी", "हिंदवी" अथवा "जबाने देहलवी" कहा था, दक्षिण में पहुँची तो "दकिनी" या "दक्खिनी" कहलाई, गुजरात में "गुजरी" (गुजराती उर्दू) कही गई, दक्षिण के कुछ लेखकों ने उसे "जबाने-अहले-हिंदुस्तान" (उत्तरी भारत के लोगों की भाषा) भी कहा। जब कविता और विशेषतया गजल के लिए इस भाषा का प्रयोग होने लगा तो इसे "रेख्ता" (मिली-जुली बोली) कहा गया। बाद में इसी को "जबाने उर्दू","उर्दू-ए-मुअल्ला" या केवल "उर्दू" कहा जाने लगा। यूरोपीय लेखकों ने इसे साधारणत: "हिंदुस्तानी" कहा है और कुछ अंग्रेज लेखकों ने इसको "मूस" के नाम से भी संबोधित किया है। इन कई नामों से इस भाषा के ऐतिहासिक विकास पर भी प्रकार पड़ता है।

उद्‌गम

उद्‌गम की दृष्टि से उर्दू वही है, जो हिन्दी, देखने में केवल इतना ही अंतर मालूम देता है कि उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक होता है और हिंदी में संस्कृत शब्द अधिक प्रयोग होते हैं। इसकी लिपि देवनागरी से भिन्न है और कुछ मुहावरों के प्रयोग ने इसकी शैली और ढाँचे को बदल दिया है। परंतु साहित्यिक परंपराएँ और रूप सब एक अन्य साँचे में ढले हुए हैं। यह सब कुछ ऐतिहासिक कारणों से हुआ है जिसका ठीक-ठीक अनुमान उसके साहित्य के अध्ययन से किया जा सकता है। परंतु इससे पहले एक बात की ओर और ध्यान देना चाहिए। 'उर्दू' तुर्की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'वह बाजार जो शाही सेना के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहता था'। वहाँ जो मिली-जुली भाषा बोली जाती थी उसको उर्दूवालों की भाषा कहते थे, क्रमश: वही भाषा स्वयं उर्दू कही जाने लगी। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 17वीं शताब्दी के अंत से मिलता है। उर्दू का प्रारंभिक रूप या तो सूफी फकीरों की बानी में मिलता है या जनता की बोलचाल में। भाषा की दृष्टि से उर्दू के विकास में पंजाबी का प्रभाव सबसे पहले दिखाई पड़ता है, क्योंकि जब 15वीं और 16वीं

सदी में इसका प्रयोग दक्षिण के कवि और लेखक साहित्यिक रचनाओं के लिए करने लगे तो उसमें पंजाबीपन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता था। 17वीं और 18वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव उर्दू पर पड़ा और बड़े-बड़े विद्वान् कविता में "ग्वालियरी भाषा" को अधिक शुद्ध मानने लगे, किंतु उसी युग में कुछ विद्वानों और कवियों ने उर्दू को एक नया रूप देने के लिए ब्रज के शब्दों का बहिष्कार किया और फारसी-अरबी के शब्द बढ़ाने लगे। दक्षिण में उर्दू का प्रयोग किया जाता था। उत्तरी भारत में उसे नीची श्रेणी की भाषा समझा गया क्योंकि वह दिल्ली की बोलचाल की उस भाषा से भिन्न थी जिसमें फारसी साहित्य और संस्कृति की झलक थी।

बोलचाल में यह भेदभाव चाहे कुछ अधिक दिखाई न दे किंतु साहित्य में शैली और शब्दों के विशेष प्रयोग से यह विभिन्नता बहुत व्यापक हो जाती है और बढ़ते-बढ़ते अनेक साहित्यिक स्कूलों का रूप धारण कर लेती है, जैसे "दकन स्कूल", "दिल्ली स्कूल", "लखनऊ स्कूल", "बिहार स्कूल" इत्यादि। सच तो यह है कि उर्दू भाषा के बनने में जो संघर्ष जारी रहा उसमें ईरानी और हिंदुस्तानी तत्त्व एक-दूसरे से टकराते रहे और धीरे-धीरे हिंदुस्तानी तत्त्व ईरानी तत्त्व पर विजय पाता गया। अनुमान लगाया गया है कि जिस भाषा को उर्दू कहा जाता है उसमें 85 प्रतिशत शब्द वे ही हैं जिनका आधार हिंदी का कोई न कोई रूप है। शेष 15 प्रतिशत में फारसी, अरबी, तुर्की और अन्य भाषाओं के शब्द सम्मिलित हैं, जो सांस्कृतिक कारणों से मुसलमान शासकों के जमाने में स्वाभाविक रूप से उर्दू में घुल-मिल गए थे। इस समय उर्दू पाकिस्तान के अनेक क्षेत्रों में, उत्तरी भारतवर्ष के कई भागों में, कश्मीर और आंध्र प्रदेश में बहुत से लोगों की मातृभाषा है।

शुरुआती रचनाकार

इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि मुसलमान भारतवर्ष में आए तो यहाँ के जीवन पर उनका प्रभाव पड़ा और वे स्वयं यहाँ की स्थिति से प्रभावित हुए। उन्होंने यहाँ की भाषाएँ सीखीं और उनमें अपने विचार प्रकट किए। सबसे पहले लाहौर के ख्वाजा मसऊद साद सलमान (1166 ई.) का नाम मिलता है जिन्होंने हिंदी में अपना काव्यसंग्रह एकत्र किया जो दुर्भाग्य से आज प्राप्त नहीं होता। उसी समय में कई सूफी फकीरों के नाम मिलते हैं, जो देश के कोने-कोने में घूम फिरकर जनता में अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। इस

बात का अनुमान करना कठिन नहीं है कि उस समय कोई बनी बनाई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी इसलिए वे बोलचाल की भाषा में फारसी अरबी के शब्द मिलाकर काम चलाते होंगे। इसके बहुत से उदाहरण सूफियों के संबंध में लिखी हुई पुस्तकों में मिल जाते हैं। जिन लोगों को कविताएँ अथवा वाक्य मिले हैं उनमें से कुछ के नाम ये हैं–बाबा फरीद शकरगंज (मृ. 1262 ई.), शेख हमीदउद्दीन नागौरी (मृ. 1274 ई.), शेख शरफुद्दीन अबू अली कलंदर (मृ. 1323 ई.), अमीर खुसरो (मू. 1370 ई.), मखदूम अशरफ जहाँगीर (मृ. 1355 ई.), शेख अब्दुल हक (मृ. 1433 ई.), सैयद गेसू दरज (मृ. 1421 ई.), सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृ. 1504 ई.), शेख बहाउद्दीन बाजन (मृ. 1506 ई.) इत्यादि। इनमें वचन और दोहरे इस बात का पता देते हैं कि एक ऐसी भाषा बन रही थी जो जनसाधरण समझ सकता था और जिसका रूप दूसरी बोलियों से भिन्न था।

ऊपर के कवियों में अमरी खुसरो और गेसू दराज उर्दू साहित्य के प्रारंभिक इतिहास में बहुत महत्त्व रखते हैं। खुसरो की हिंदी रचनाएँ, जिनका कुछ अंश दिल्ली की खड़ीबोली में होने के कारण उर्दू कहा जाता है, देवनागरी में भी प्रकाशित हो चुकी हैं, परंतु गेसू दराज के लेखों और कविताओं की खोज अभी जारी है। इस समय तक "चक्कीनाम", "तिलावतुल वजूद", "मेराजनामा" प्राप्त हो चुकी हैं, इन सब में सूफी विचार प्रकट किए गए हैं। गेसू दराज दिल्ली निवासी थे परंतु उनका ज्यादा समय दक्षिण में बीता, वहीं उनकी मृत्यु हुई और इसी कारण उनकी भाषा को दक्किनी उर्दू कहा जाता है। सच यह है कि उर्दू, जिसने दिल्ली के आसपास एक भाषा का रूप ग्रहण किया था, सेनाओं, सूफी फकीरों, सरकारी कर्मचारियों और व्यापारियों के साथ देश के अन्य भागों में पहुँची और उचित वातावरण पाकर बढ़ी और फैली।

दक्कनी उर्दू

उर्दू के साहित्यिक रूप के प्रारंभिक विकास के चिह्न सबसे पहले दक्षिण और गुजरात में दिखाई पड़ते हैं। गेसू दराज के अतिरिक्त मीरानजी शमसुल उश्शाक, बुरहानुद्दीन जानम, निजामी, फिरोज, महमूद, अमीनुद्दीन आला ने ऐसी रचनाएँ छोड़ी हैं, जो प्रत्येक उर्दू साहित्य के इतिहास में स्थान प्राप्त कर सकती हैं। बहमनी राज्य के पतन के पश्चात् जब दक्षिण में पाँच राज्य बने तो उर्दू को उन्नति करने का और अवसर मिला। जनता से संपर्क रखने के लिए बादशाहों ने भी उर्दू को ही मुख्य स्थान दिया। गोलकुंडा और बीजापुर में साहित्य और

कला कौशल की उन्नति हुई। दिल्ली से नाता तोड़ने और अपनी स्वाधीनता प्रकट करने के लिए उन्होंने फारसी के विरुद्ध इस देशी भाषा को अपनाया और साहित्यकारों का साहस बढ़ाया। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी सुविख्यात रचना "नौरस" 16वीं शताब्दी के अंत में प्रस्तुत की। इसमें ब्रज और खड़ीबोली का मेल है, फारसी अरबी के शब्द भी बीच-बीच में आ जाते हैं। परंतु इसका पूरा ढाँचा एकमात्र हिंदुस्तानी है। इसके समस्त गीत भारतीय संगीत के आधार पर लिखे गए हैं। इसकी भूमिका फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान, "जहूरी" ने फारसी में लिखी जो "सेहनम्र" (तीन गद्य) के नाम से आज भी महत्त्व रखती है। बीजापुर के अन्य दूसरे बादशाह भी स्वयं कवि और कवियों के संरक्षक थे। इनमें "आतशी", "मुकीमी", "अमीन", "रुसतमी", "खुशनूद", "दौलतशाह" के नाम स्मरणीय हैं। बीजापुर के अंतिम दिनों में उर्दू का महान् कवि "नुसरती" पैदा हुआ जिसने श्रृंगार और वीररस में श्रेष्ठ कविताएँ लिखीं।

बीजापुर की ही भाँति गोलकुंडा में भी बादशाह और जनता सब अधिकतर उर्दू ही में लिख रहे थे। मुहम्मद कुली कुतुबशाह (मृ. 1611 ई.) स्वयं उर्दू, फारसी और तेलुगू में कविताएँ लिखता और कवियों को प्रोत्साहन देता था। उसके काव्यसंग्रह में भारत के मौसमों, फलों, फूलों, चिड़ियों और त्यौहारों का विचित्र वर्णन मिलता है। उसके बाद जो और बादशाह हुए वे भी अच्छे कवि हुए और उनके संग्रह भी विद्यमान हैं। प्रसिद्ध कवियों और लेखकों में "वजही", "गौव्वासी", "इब्ने निशाती", "गुलामअली" इत्यादि महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार दक्षिण में उर्दू के इस पहले साहित्यिक रूप ने कुछ ऐसी रचनाओं को जन्म दिया जो साहित्य और चिंतन दोनों की दृष्टि से सराहनीय हैं। इन रचनाओं में कुलियाते कलीकुतबशाह, कुतुब मुशतरी (वजही), फलबन (इब्नेनिशाती), सैफुल-मुलूक व बदीउल जमाल (गौव्वासी), मनोहर मधुमालती (नुसरती), चंद्रबदन व महयार (मुकीमी) इत्यादि उर्दू की श्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जाती हैं।

17वीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व गुजरात, अरकाट, मैसूर और मद्रास तक पहुँच चुकी थी। गुजरात में इसकी उन्नति अधिकतर सूफी कवियों के हाथों हुई जिनमें शेख बाजन, शाहअलोज्यु और खूब मुहम्मद चिश्ती की रचनाएँ बहुत महत्त्व रखती हैं।

क्योंकि उर्दू की परंपराएँ बन चुकी थीं और लगभग 300 वर्षों में उनका संगठन भी हो चुका था इसलिए जब सन् 1687 ई. में मुगलों ने दक्षिण को अपने राज्य में मिला लिया तब भी उर्दू साहित्य के सोते नहीं सूखे बल्कि काव्यरचना

ने और तीव्र गति से उन्नति की। 17वीं शताब्दी के अंत और 18वीं शताब्दी के आरंभ में "वली" दक्किनी (1707 ई.),"बहरी","वजही","वली","वेलोरी, "सेराज" (1763 ई.),"दाऊद" और "उजलत" जैसे कवियों ने जन्म लिया। इनमें भी "वली","दक्किनी","बहरी","सेराज" की गणना उर्दू के बहुत बड़े कवियों में होती है। "वली" को तो उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि दिल्ली की बोलचाल की भाषा उर्दू थी परंतु फारसी के प्रभाव से वहाँ के पढ़े-लिखे लोग अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ फारसी से ही पूरी करते थे। वे समझते थे कि उर्दू से इनकी पूर्ति नहीं हो सकती। "वली" और उनकी कविता के उत्तरी भारत में पहुँचने से यह भ्रम दूर हो गया और सहसा उत्तरी भारत की साहित्यिक स्थिति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। थोड़े ही समय में दिल्ली सैंकड़ों उर्दू कवियों की वाणी से गूँज उठी।

दिल्ली - लखनऊ - अकबराबाद (आगरा)

अब उर्दू के दिल्ली स्कूल का आरंभ होता है। यह बात स्मरणीय है कि यह सामंत काल के पतन का युग था। मुगल राज केवल अंदर से ही दुर्बल नहीं था वरन् बाहर से भी उसपर आक्रमण होते रहते थे। इस स्थिति से जनता की बोलचाल की भाषा ने लाभ उठाया। अगर राज्य प्रबल होता तो न नादिर शाह दिल्ली को लूटता और न फारसी की जगह जनता की भाषा मुख्य भाषा का स्वरूप धारण करती। इस समय के कवियों में खाने आरजू, आबरू, हातिम (1783 ई.), यकरंग, नाजी, मजमून, ताबाँ, (1748 ई.), फुगाँ (1772 ई.), "मजहर जानेजानाँ","फायेज" इत्यादि उर्दू साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। दक्षिण में प्रबंध काव्यों और मरसियों (शोक कविताओं) की उन्नति हुई थी, दिल्ली में गजल का बोलबाला हुआ। यहाँ की प्रगतिशील भाषा हृदय के सूक्ष्म भावों को प्रकट करने के लिए दक्षिणी भाषा की अपेक्षा अधिक समर्थ थी इसलिए गजल की उन्नति स्वाभाविक जान पड़ती है। यह बात भी याद रखने योग्य है कि इस समय की कविताओं में शृंगार रस और भक्ति के विचारों को प्रमुख स्थान मिला है। सैंकड़ों वर्ष के पुराने समाज की बाढ़ रुक गई थी और जीवन के सामने कोई नया लक्ष्य नहीं था इसलिए इस समय की कविता में कोई शक्ति और उदारता नहीं दिखलाई पड़ती। 18वीं शताब्दी के समाप्त होने से पहले एक ओर नई-नई राजनीतिक शक्तियाँ सिर उठा रहीं थी जिससे मुगल राज्य

निर्बल होता जा रहा था, दूसरी ओर वह सभ्यता अपनी परंपराओं की रोगी सुंदरता की अंतिम बहार दिखा रही थी। दिल्ली में उर्दू कविता और साहित्य के लिए ऐसी स्थिति पैदा हो रही थी कि उसकी पहुँच राजदरबार तक हो गई। मुगल बादशाह शाहआलम (1759-1806 ई.) स्वयं कविता लिखते थे और कवियों को आश्रय देते थे। इस युग में जिन कवियों ने उर्दू साहित्य का सिर ऊँचा किया, वे हैं मीर दर्द (1784 ई.), मिर्जा मोहम्मद रफी सौदा (1785 ई), मीर तकी "मीर" (1810 ई.) और "मीर सोज"। इनके विचारों की गहराई और ऊँचाई, भाषा की सुंदरता तथा कलात्मक निपुणता प्रत्येक दृष्टि से सराहनी है। "दर्द" ने सूफी विचार के काव्य में, "मीर" ने गजल में और "सौदा" दूसरी विधाओं के साथ कसीदे के क्षेत्रों में उर्दू कविता की सीमाएँ विस्तृत कर दीं।

परंतु दिन बहुत बुरे आ गए थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का दबाव बढ़ता जा रहा था और दिल्ली का राजसिंहासन डावाँडोल था। विवश होकर शाह आलम ने अपने को कंपनी की रक्षा में दे दिया और पेंशन लेकर दिल्ली छोड़ प्रयाग में बंदियों की भाँति जीवन बिताने लगे। इसका फल यह हुआ कि बहुत से कवि और कलाकार अन्य स्थानों को चले गए। इस समय कुछ नए नए राजदरबार स्थापित हो गए थे, जैसे हैदराबाद, अवध, अजीमाबाद (पटना), फर्रुखाबाद इत्यादि। इनकी नई ज्योति और जगमगाहट ने बहुत से कवियों को अपनी ओर खींचा। सबसे अधिक आकर्षक अवध का राजदरबार सिद्ध हुआ, जहाँ के नवाब अपने दरबार की चमक दमक मुगल दरबार की चमक-दमक से मिला देना चाहते थे। दिल्ली की स्थिति खराब होते ही "फुगाँ","सौदा","मीर","हसन" (1787 ई.) और कुछ समय बाद मुसहफी (1825 ई.), इंशा (1817 ई.), जुरअत और अन्य कवि अवध पहुँच गए और वहाँ काव्यरचना का एक नया केंद्र बन गया जिसको "लखनऊ स्कूल" कहा जाता है।

सन् 1775 ई. में लखनऊ अवध की राजधानी बना। उसी समय से यहाँ फारसी-अरबी की शिक्षा बड़े पैमाने पर आंरभ हुई और अवधी के प्रभाव से उर्दू में नई मिठास उत्पन्न हुई। क्योंकि यहाँ के नवाब शिया मुसलमान थे और वह शिया धर्म की उन्नति और शोभा चाहते थे, इसलिए यहाँ की काव्यरचना में कुछ नई प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई जो लखनऊ की कविता को दिल्ली की कविता से अलग करती हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में दिल्ली और लखनऊ स्कूल की तुलना बड़ा रोचक विषय बनी रही है, परंतु सच यह है कि सांमती युग की पतनशील सीमाओं के अंदर दिल्ली और लखनऊ में कुछ बहुत अंतर नहीं था।

यह अवश्य है कि लखनऊ में भाषा और जीवन के बाह्य रूप पर अधिक जोर दिया जाता था और दिल्ली में भावों पर। परंतु वस्तुत: दिल्ली की ही साहित्यिक परंपराएँ थीं जिन्होंने लखनऊ की बदली हुई स्थिति में यह रूप धारण किया। यहाँ के कवियों में "मीर","मीर हसन","सौदा","इंशा","मुसहफी","जुरअत", के पश्चात आतिश (1847 ई.),नासिख (1838 ई.),"अनोस" (1874 ई.), "दबीर" (1875 ई.),"वजीर","नसीम","रश्क","रिंद ओर "सबा" ऊँचा स्थान रखते हैं। लखनऊ में मरसिया और मसनवी को विशेष रूप से उन्नति करने का अवसर मिला।

लखनऊ और दिल्ली स्कूलों के बाहर भी साहित्य रचना हो रही थी और ये रचनाएँ राजदरबारों के प्रभाव के दूर होने के कारण जनसाधारण के भावों के निकट थीं। इस संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण नाम नजीर अकबराबादी का है। उन्होंने रूढ़िवादी विचारों से नाता तोड़कर हिंदुस्तानी जनता के दिलों की धड़कनें अपनी कविताओं में बंद कीं। उनकी शैली और विचारधारा दोनों में भारतीय जीवन की सरलता और उदारता मिलती है।

पश्चिमी संपर्क के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के मध्य में भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की तरह उर्दू में भी नई चेतना का आरंभ हो गया और आर्थिक, सामाजिक,तथा राजनीतिक परिवर्तनों के कारण नई विचारधारा का उद्‌भव हुआ। किंतु इससे पहले दिल्ली की मिटती हुई सामंती सभ्यता ने जौक (1852 ई.), मोमिन (1855 ई.),गालिब,(1869 ई.),"शेफता" (1869) और "जफर" जैसे कवियों को जन्म दिया। इनमें विशेष रूप से गालिब की साहित्यिक रचनाएँ उस जीवन की शक्तियों और त्रुटियों दोनों की प्रतीक हैं। उनकी महत्ता इसमें हैं कि उन्होंने अपनी कविताओं में हार्दिक भावों और मानसिक स्थितियों,दोनों का समन्वय एक विचित्र शैली में किया है।

उर्दू गद्य

उर्दू गद्य का विकास नए युग से पहले ही हो चुका था परंतु उसकी उन्नति 19वीं शताब्दी में हुई। दक्षिण में "मेराजुअल आशिकीन" और "सबरस" (1634 ई.) के अतिरिक्त कुछ धार्मिक रचनाएँ मिलती हैं। उत्तरी भारत में "तहसीन" की "नौ तरजे मुरस्सा" (1775 ई.) का नाम लिया जा सकता है। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए फोर्ट विलियम कालेज (1800 ई.) स्थापित किया और गद्य में कुछ पुस्तकें लिखवाईं जिसके फलस्वरूप उर्दू गद्य की उस नई शैली

का विकास हुआ जो 50 वर्ष बाद पूर्णतया प्रचलित हुई। यहाँ की रचनाओं में मीर अम्मन की "बागोबहार" हैदरी की "आराइशे महफिल", अफसोस की "बागे उर्दू" विला को "बेताल पचीसी", जवान की "सिंहासन बत्तीसी", निहालचंद की "मजहबे इश्क", उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। 19वीं सदी के आरंभ में ही "इंशा" ने "रानी केतकी की कहानी" और "दरियाए लताफत" लिखी थीं। लखनऊ में सबसे महत्त्वपूर्ण और कथासाहित्य में सुविख्यात पुस्तक "फिसानए अजायब" 1824 ई. में लिखी गई, इसके लेखक रजब अली बेग "सुरूर" हैं। अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के कारण नए पाठयक्रम बन रहे थे। इसके लिए 1842 ई. में देहली कालेज में "वर्नाक्युलर" ट्रांसलेशन सोसाइटी" की स्थापना हुई जहाँ रामायण, महाभारत, लीलावती, धर्मशास्त्र इत्यादि के अतिरिक्त विभिन्न विषयों की लगभग 150 पुस्तकों के उर्दू अनुवाद हुए। इस प्रकार उर्दू गद्य भी उन्नति करता रहा और इस योग्य हुआ कि नई चेतना का साथ दे सके।

नया दौर

उर्दू साहित्य में नवजागृति के वास्तविक चिह्न 1857 के विद्रोह के बाद ही से मिलते हैं। इसके ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण स्पष्ट हैं। इन कारणों से जो नई चेतना उत्पन्न हुई उसी ने नए कवियों और साहित्यकारों को नई स्थिति के अनुकूल लिखने का अवसर दिया। इसमें सबसे पहला नाम सर सैयद (1817–1897 ई.) का लिया जा सकता है। उन्हीं के नेतृत्व में हाली, (1887–1914 ई.) आजाद (1833–1910 ई.) नजीर अहमद (1834–1912 ई.) और शिबली (1857–1914 ई.) ने उर्दू गद्य और पद्य में महान रचनाएँ कीं और अंग्रेज साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने साहित्य को समय के अनुकूल बनाया। मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद नई उर्दू कविता के निर्माता थे। वे दिल्ली कालेज में अपने विद्यार्थी जीवन में यूरोपीय विद्वानों और साहित्य से प्रभावित हो चुके थे। लाहौर में उन्होंने शिक्षा विभाग के अधिकारियों के सहयोग से "अंजुमने पंजाब" की स्थापना की और 1867 ई. में उसकी एक सभा में व्याख्यान देते हुए उन्होंने उर्दू कविता की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि कविता को मानव जीवन और प्रकृति के सभी अंगों पर प्रकाश डालना चाहिए जो दुर्भाग्यवश अभी तक उर्दू कविता में नहीं हो सका। हमें अब पुरानी लकीर पीटने के बजाए नए वातावरण की समस्याओं को चिंतन और काव्य का विषय बनाना चाहिए। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप उर्दू कविता में नई शायरी का निर्माण हुआ

और बाद के अधिकतर महान कवि इसी से प्रभावित हुए। बहुत से छापेखाने खुल गए थे, पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही थीं, नए पुराने का संघर्ष चल रहा था, इसलिए इन लोगों को अपने नए विचार प्रकट करने और उन्हें फैलाने में बड़ी सुविधा हुई। इसी युग में "सरशार", "शरर" और मिर्जा रुसवा का नाम भी लिया जा सकता है, जिन्होंने उपन्यास साहित्य में बहूमूल्य वृद्धि की। इस युग को हर प्रकार से आलोचना का युग कहा जा सकता है, जो कुछ लिखा जा रहा था उसको इतिहास अपनी कसौटी पर परख रहा था। इन महान लेखकों ने आलोचना, निबंध, उपन्यास, जीवनी, कविता के रूप में जो कुछ लिखा है वही आज के नए साहित्य का आधार है। इस युग की महानता यह है कि साहित्यकार ही नवचेतना के अग्रदूत और नेता बन गए थे। राजनीतिक दृष्टि से ये लोग क्रांतिकारी नहीं थे, किंतु इन्हीं की विचारधारा के बाद के लेखकों को प्रेरणा दी।

20वीं सदी का आरंभ होने से बहुत पहले राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो चुकी थी और उसकी झलक इन साहित्यकारों की कृतियों में भी मिल जाती है, परंतु इसका पूरा विकास "इकबाल" (1873-1938 ई.), "चकबस्त" (1882-1926), "प्रेमचंद" (1880-1936 ई.), इत्यादि की कविताओं और लेखों में हुआ। यह भी याद रखना चाहिए कि इसी के साथ साहित्य की पुरानी परंपराएँ भी चल रही थीं और "अमीर" (1899), "दाग" (1905), "जलाल" (1910) और दूसरे कवि भी अपनी गजलों से पढ़नेवालों को मोहित कर रहे थे। किसी न किसी रूप में यह धारा अब तक चली जा रही है। इस शताब्दी के उल्लेखनीय कवियों में "सफी", दुर्गा सहाय "सुरूर", "साकिब", "महशर", "अजीज", "रवाँ, "हसरत", "फानी", "जिगर", "असर" और लेखकों में हसन निजामी, राशिदुल खैरी, सुलैमान नदवी, अब्दुलहक, रशीद अहमद, मसूद हसन, मौलाना आजाद और आबिदहुसेन हैं।

वर्तमान

वर्ममान काल में साहित्य की सीमाएँ और विस्तृत हुई हैं और हर विचार के लेखक अपने-अपने ढंग से उर्दू साहित्य को दूसरे साहित्यों के बराबर लाने में लगे हुए हैं। कवियों में "जोश", "फिराक", "फैज", "मजाज", "हफीज", "सागर", "मुल्ला", "रविश", "सरदार", "जमील" और "आजाद" के नाम उल्लेखनीय हैं, तो गद्य में कृष्णचंद्र "अश्क", हुसेनी, "मिंटो", हायतुल्लाह, इसमत, अहमद नदीम, ख्वाजा अहमद अब्बास अपना महत्त्व रखते हैं। 20वीं

शताब्दी में आलोचना साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। इसमें नियाज, फिराक, जोर, कलीम, मजनूँ, सुरूर, एहतेशाम हुसैन, एजाज हुसैन, मुमताज हुसैन, इबादत इत्यादि ने बहुत सी बहुमूल्य पुस्तकें लिखीं।

20वीं शताब्दी में साहित्यिक स्कूलों के झगड़े समाप्त होकर विचारधाराओं के आधार पर साहित्यरचना होने लगी थी। अंग्रेजी साहित्य और शिक्षा के प्रभाव से छायावादी कविता को बढ़ावा मिला। फिर प्रजातंत्र और राष्ट्रीयता की भावना ने प्रगतिशील आंदोलन को जन्म दिया जो 1936 ई. से आरंभ होकर किसी न किसी रूप में अब तक चल रहा है। इस बीच में "मार्क्स" और "फ्रायड" ने भी लेखकों को भिन्न-भिन्न समूहों में बाँटा। कुछ लेखक मुक्त छंद में भी कविताएँ लिखने लगे, किंतु इस प्रकार के समस्त प्रयोग अभी तक अपनी जड़ें बहुत गहरी नहीं कर सके हैं।

समकालीन उर्दू साहित्य में नई काव्यरचना प्रयोगवाद, स्पष्टवाद, प्रतीकवाद और निरुद्देश्यवाद से बहुत प्रभावित हो रही है। नई कविता जीवन के सभी मूल्यों का बहिष्कार करती है क्योंकि नए कवि सामाजिक चेतना को काव्यरचना में बाधक मानते हैं। इसके अतिरिक्त नए कवि अपने व्यक्तित्व अपने व्यक्तित्व को सिद्ध करने के लिए भाषा, विचार, कला और साहित्य के सभी नियमों को तोड़ना आवश्यक समझते हैं। कुछ लोग इसी को विचार स्वतंत्रता का नाम भी देते हैं, किंतु यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हो सकी कि नई कविता लिखनेवाले एक ओर तो साहित्य और कला की सभी परंपराओं से अपना नाता तोड़ रहे हैं और दूसरी ओर वे अपनी विचारधारा को यूरोप और अमरीका के कुछ दार्शनिकों, लेखकों और कवियों की विचारधारा से मिलाने की अनथक चेष्टा कर रहे हैं। यह आधुनिकता उर्दू कहानी और उपन्यास को भी प्रभावित कर रही है। नई कविता, कहानी और उपन्यास को साहित्य के इतिहास में क्या स्थान मिलेगा, इस समय इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

14

संस्कृत भाषा एवं साहित्य

संस्कृत (संस्कृतम्) भारतीय उपमहाद्वीप की एक भाषा है। इसे देववाणी अथवा सुरभारती भी कहा जाता है। यह विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है। संस्कृत एक हिंद-आर्य भाषा है, जो हिंद-यूरोपीय भाषा परिवार की एक शाखा है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ जैसे, हिंदी, बांग्ला, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, नेपाली, आदि इसी से उत्पन्न हुई हैं।

इन सभी भाषाओं में यूरोपीय बंजारों की रोमानी भाषा भी शामिल है। संस्कृत में वैदिक धर्म से संबंधित लगभग सभी धर्मग्रंथ लिखे गए हैं। बौद्ध धर्म (विशेषकर महायान) तथा जैन मत के भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए हैं।

आज भी हिंदू धर्म के अधिकतर यज्ञ और पूजा संस्कृत में ही होती हैं। भीम राव अम्बेडकर का मानना था कि संस्कृत पूरे भारत को भाषाई एकता के सूत्र में बाँध सकने वाली इकलौती भाषा हो सकती है, अतः उन्होंने इसे देश की आधिकारिक भाषा बनाने का सुझाव दिया था।

भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में संस्कृत को भी सम्मिलित किया गया है। यह उत्तराखण्ड की द्वितीय राजभाषा है। आकाशवाणी और दूरदर्शन से संस्कृत में समाचार प्रसारित किए जाते हैं। कतिपय वर्षों से डी. डी. न्यूज (DD News) द्वारा वार्तावली नामक अर्धहोरावधि का संस्कृत-कार्यक्रम भी प्रसारित किया जा रहा है, जो हिन्दी चलचित्र गीतों के संस्कृतानुवाद, सरल-संस्कृत-शिक्षण, संस्कृत-वार्ता और महापुरुषों की संस्कृत जीवनवृत्तियों, सुभाषित-रत्नों आदि के कारण अनुदिन लोकप्रियता को प्राप्त हो रहा है।

संस्कृत भाषा का इतिहास

जिस प्रकार देवता अमर हैं उसी प्रकार संस्कृत भाषा भी अपने विशाल-साहित्य, लोक हित की भावना, विभिन्न प्रयासों तथा उपसर्गो के द्वारा नवीन-नवीन शब्दों के निर्माण की क्षमता आदि के द्वारा अमर है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार संस्कृत भाषा का अखण्ड प्रवाह पाँच सहस्र वर्षों से बहता चला आ रहा है। भारत में यह आर्यभाषा का सर्वाधिक महत्त्वशाली, व्यापक और सम्पन्न स्वरूप है। इसके माध्यम से भारत की उत्कृष्टतम मनीषा, प्रतिभा, अमूल्य चिन्तन, मनन, विवेक, रचनात्मक, सर्जना और वैचारिक प्रज्ञा का अभिव्यंजन हुआ है। आज भी सभी क्षेत्रों में इस भाषा के द्वारा ग्रन्थनिर्माण की क्षीण धारा अविच्छिन्न रूप से बह रही है। आज भी यह भाषा, अत्यन्त सीमित क्षेत्र में ही सही, बोली जाती है। इसमें व्याख्यान होते हैं और भारत के विभिन्न प्रादेशिक भाषाभाषी पण्डितजन इसका परस्पर वार्तालाप में प्रयोग करते हैं। हिंदुओं के सांस्कारिक कार्यों में आज भी यह प्रयुक्त होती है। इसी कारण ग्रीक और लैटिन आदि प्राचीन मृत भाषाओं से संस्कृत की स्थिति भिन्न है। यह मृतभाषा नहीं, अमरभाषा है।

नामकरण एवं विकास यात्रा

ऋक्संहिता की भाषा को संस्कृत का आद्यतम उपलब्ध रूप कहा जा सकता है। यह भी माना जाता है कि ऋक्संहिता के प्रथम और दशम मंडलों की भाषा प्राचीनतर है। कुछ विद्वान् प्राचीन वैदिक भाषा को परवर्ती पाणिनीय (लौकिक) संस्कृत से भिन्न मानते हैं। पर यह पक्ष भ्रमपूर्ण है। वैदिक भाषा अभ्रान्त रूप से संस्कृत भाषा का आद्य उपलब्ध रूप है। पाणिनि ने जिस संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा है उसके दो अंश हैं -

(1) जिसे अष्टाध्यायी में "छंदम्" कहा गया है, और

(2) भाषा (जिसे लोकभाषा या लौकिक भाषा के रूप में माना जाता है)।

आचार्य पतंजलि के "व्याकरण महाभाष्य" नामक प्रसिद्ध शब्दानुशासन के आरम्भ में भी वैदिक भाषा और लौकिक भाषा के शब्दों का उल्लेख हुआ है। "संस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः" वाक्य में जिसे देवभाषा या 'संस्कृत' कहा गया है वह संभवतः यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के समय तक "छन्दोभाषा" (वैदिक भाषा) एवं "लोकभाषा" के दो नामों, स्तरों व रूपों में व्यक्त थी।

बहुत से विद्वानों का मत है कि भाषा के लिए "संस्कृत" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथ वाल्मीकि रामायण के सुंदरकांड (30 सर्ग) में हनुमन् द्वारा विशेषणरूप में (संस्कृता वाक) किया गया है।

भारतीय परम्परा की किंवदंति के अनुसार संस्कृत भाषा पहले अव्याकृत थी, अर्थात् उसकी प्रकृति एवं प्रत्ययादि का विश्लिष्ट विवेचन नहीं हुआ था। देवों द्वारा प्रार्थना करने पर देवराज इंद्र ने प्रकृति, प्रत्यय आदि के विश्लेषण विवेचन का उपायात्मक विधान प्रस्तुत किया। इसी "संस्कार" विधान के कारण भारत की प्राचीनतम आर्यभाषा का नाम "संस्कृत" पड़ा। ऋक्संहिताकालीन "साधुभाषा" तथा 'ब्राह्मण','आरण्यक' और 'दशोपनिषद्' नामक ग्रंथों की साहित्यिक "वैदिक भाषा" का अनंतर विकसित स्वरूप ही "लौकिक संस्कृत" या "पाणिनीय संस्कृत" कहलाया। इसी भाषा को "संस्कृत", "संस्कृत भाषा" या "साहित्यिक संस्कृत" नामों से जाना जाता है।

देश-काल की दृष्टि से संस्कृत के सभी स्वरूपों का मूलाधार पूर्वतर काल में उदीच्य, मध्यदेशीय एवं आर्यावर्तीय विभाषाएं हैं। पाणिनि सूत्रों में "विभाषा" या "उदीचाम्" शब्दों से इन विभाषाओं का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ क्षेत्रों में "प्राच्य" आदि बोलियाँ भी बोली जाती थीं। किन्तु पाणिनि ने नियमित व्याकरण के द्वारा भाषा को एक परिष्कृत एवं सर्वग्य प्रयोग में आने योग्य रूप प्रदान् किया। धीरे-धीरे पाणिनिसम्मत भाषा का प्रयोगरूप और विकास प्रायः स्थायी हो गया। पतंजलि के समय तक आर्यावर्त (आर्यनिवास) के शिष्ट जनों में संस्कृत प्रायः बोलचाल की भाषा बन गई। "गादर्शात्प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवंतमुत्तरेण वारियात्रमेतस्मिन्नार्यावर्ते आर्यानिवासे. .... (व्याकरण महाभाष्य, 6.3.109)" उल्लेख के अनुसार शीघ्र ही संस्कृत समग्र भारत के द्विजातिवर्ग और विद्वत्समाज की सांस्कृतिक, विचाराकार एवं विचारादान्प्रदान् की भाषा बन गई।

काल विभाजन

संस्कृत भाषा के विकासस्तरों की दृष्टि से अनेक विद्वानों ने अनेक रूप से इसका ऐतिहासिक कालविभाजन किया है। सामान्य सुविधा की दृष्टि से अधिक मान्य निम्नांकित कालविभाजन दिया जा रहा है -

(1) आदिकाल (वेदसंहिताओं और वाड़मय का काल - ई. पू. 450 से 10 ई. पू. तक)

(2) मध्यकाल (ई. पू. 10 से 450 ई. तक जिसमें शास्त्रों, दर्शनसूत्रों, वेदांग ग्रंथों, काव्यों तथा कुछ प्रमुख साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण हुआ)
(3) परवर्तीकाल (450 ई. से लेकर 1400 ई. या अब तक का आधुनिक काल)

इस युग में काव्य, नाटक, साहित्यशास्त्र, तंत्रशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि के ग्रंथों की रचना के साथ-साथ मूल ग्रंथों की व्याख्यात्मक, कृतियों की महत्त्वपूर्ण सर्जना हुई। भाष्य, टीका, विवरण, व्याख्यान आदि के रूप में जिन सहस्रों ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें अनेक भाष्य और टीकाओं की प्रतिष्ठा, मान्यता और प्रसिद्धि मूलग्रंथों से भी कहीं-कहीं अधिक हुई।

प्रामाणिकता के विचार से इस भाषा का सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी है। कम से कम 600 ई. पू. का यह ग्रंथ आज भी समस्त विश्व में अतुलनीय व्याकरण है। विश्व के और मुख्यत: अमरीका के भाषाशास्त्री संघटनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से अष्टाध्यायी को आज भी विश्व का सर्वोत्तम ग्रंथ मानते हैं। "ब्रूमफील्ड" ने अपने "लैंग्वेज" तथा अन्य कृतियों में इस तथ्य की पुष्ट स्थापना की है। पाणिनि के पूर्व संस्कृत भाषा निश्चय ही शिष्ट एवं वैदिक जनों की व्यवहारभाषा थी। असंस्कृत जनों में भी बहुत सी बोलियाँ उस समय प्रचलित रही होंगी। पर यह मत आधुनिक भाषाविज्ञों को मान्य नहीं है।

वे कहते हैं कि संस्कृत कभी भी व्यवहारभाषा नहीं थी। जनता की भाषाओं को तत्कालीन प्राकृत कहा जा सकता है। देवभाषा तत्वत: कृत्रिम या संस्कार द्वारा निर्मित ब्राह्मणपंडितों की भाषा थी, लोकभाषा नहीं। परंतु यह मत सर्वमान्य नहीं है। पाणिनि से लेकर पतंजलि तक सभी ने संस्कृत का लोक की भाषा कहा है, लौकिक भाषा बताया है। अन्य सैकड़ों प्रमाण सिद्ध करते हैं कि "संस्कृत" वैदिक और वैदिकोत्तर पूर्वपाणिनिकाल में लोकभाषा और व्यवहारभाषा (स्पीकेन लैग्वेज) थी।

यह अवश्य रहा होगा कि देश, काल और समाज के सन्दर्भ में उसकी अपनी सीमा रही होगी। बाद में चलकर वह पठित समाज की साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा बन गई। तदनंतर यह समस्त भारत में सभी पंडितों की, चाहे वे आर्य रहें हों या आर्येतर जाति के - सभी की, सर्वमान्य सांस्कृतिक भाषा हो गई और आसेतुहिमाचल इसका प्रसार, समादर और प्रचार रहा एवं आज भी बना हुआ है। लगभग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से यूरोप और पश्चिमी देशों के

मिशनरी एवं अन्य विद्याप्रेमियों को संस्कृत का परिचय प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे पश्चिम में ही नहीं, समस्त विश्व में संस्कृत का प्रचार हुआ। जर्मन, अंग्रेज, फ्रांसीसी, अमरीकी तथा यूरोप के अनेक छोटे-बड़े देश के निवासी विद्वानों ने विशेष रूप से संस्कृत के अध्ययन अनुशीलन को आधुनिक विद्वानों में प्रजाप्रिय बनाया। आधुनिक विद्वानों और अनुशीलकों के मत से विश्व की पुराभाषाओं में संस्कृत सर्वाधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक और संपन्न भाषा है।

वह आज केवल भारतीय भाषा ही नहीं, एक रूप से विश्वभाषा भी है। यह कहा जा सकता है कि भूमंडल के प्रयत्न-भाषा-साहित्यों में कदाचित् संस्कृत का वाड्मय सर्वाधिक विशाल, व्यापक, चतुर्मुखी और संपन्न है। संसार के प्राय: सभी विकसित और संसार के प्राय: सभी विकासमान देशों में संस्कृत भाषा और साहित्य का आज अध्ययन-अध्यापन हो रहा है।

बताया जा चुका है कि इस भाषा का परिचय होने से ही आर्य जाति, उसकी संस्कृति, जीवन और तथाकथित मूल आद्य आर्यभाषा से संबद्ध विषयों के अध्ययन का पश्चिमी विद्वानों को ठोस आधार प्राप्त हुआ। प्राचीन ग्रीक, लातिन, अवस्ता और ऋक्संस्कृत आदि के आधार पर मूल आद्य आर्यभाषा की ध्वनि, व्याकरण और स्वरूप की परिकल्पना की जा सकी जिसें ऋक्संस्कृत का अवदान सबसे अधिक महत्त्व का है। ग्रीक, लातिन प्रत्नगाथिक आदि भाषाओं के साथ संस्कृत का पारिवारिक और निकट संबंध है।

पर भारत-इरानी-वर्ग की भाषाओं के साथ (जिनमें अवस्ता, पहलवी, फारसी, ईरानी, पश्तो आदि बहुत सी प्राचीन नवीन भाषाएँ हैं) संस्कृत की सर्वाधिक निकटता है। भारत की सभी आद्य, मध्यकालीन एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास में मूलत: ऋग्वेद-एवं तदुत्तरकालीन संस्कृत का आधारिक एवं औपादानिक योगदान रहा है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक मानते हैं कि ऋग्वेदकाल से ही जनसामान्य में बोलचाल की तथाभूत प्राकृत भाषाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी। उन्हीं से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा तदुत्तरकालीन आर्यभाषाओं का विकास हुआ। परंतु इस विकास में संस्कृत भाषा का सर्वाधिक और सर्वविध योगदान रहा है। यहीं पर यह भी याद रखना चाहिए कि संस्कृत भाषा ने भारत के विभिन्न प्रदेशों और अंचलों की आर्येतर भाषाओं को भी काफी प्रभावित किया तथा स्वयं उनसे प्रभावित हुई, उन भाषाओं और उनके भाषणकर्ताओं की संस्कृति और साहित्य को तो प्रभावित किया ही, उनकी भाषाओं शब्दकोश उनक ध्वनिमाला और लिपिकला को भी अपने योगदान से

लाभान्वित किया। भारत की दो प्राचीन लिपियाँ- (1) ब्राह्मी (बाएँ से लिखी जानेवाली) और (2) खरोष्टी (दाएँ से लेख्य) थीं। इनमें ब्राह्मी को संस्कृत ने मुख्यत: अपनाया।

भाषा की दृष्टि से संस्कृत की ध्वनिमाला पर्याप्त संपन्न है। स्वरों की दृष्टि से यद्यपि ग्रीक, लातिन आदि का विशिष्ट स्थान है, तथापि अपने क्षेत्र के विचार से संस्कृत की स्वरमाला पर्याप्त और भाषानुरूप है। व्यंजनमाला अत्यंत संपन्न है। सहस्रों वर्षों तक भारतीय आर्यों के आद्यषुतिसाहित्य का अध्यनाध्यापन गुरु शिष्यों द्वारा मौखिक परंपरा के रूप में प्रवर्तमान रहा क्योंकि कदाचित् उस युग में (जैसा आधुनिक इतिहासज्ञ लिपिशास्त्री मानते हैं), लिपिकला का उद्‌भव और विकास नहीं हो पाया था। संभवत: पाणिनि के कुछ पूर्व या कुछ बाद से लिपि का भारत में प्रयोग चल पड़ा और मुख्यत: "ब्राह्मी" को संस्कृत भाषा का वाहन बनाया गया। इसी ब्राह्मी ने आर्य और आर्यतर अधिकांश लिपियों की वर्णमला और वर्णक्रम को भी प्रभावित किया। यदि मध्यकालीन नाना भारतीय द्रविड़ भाषाओं तथा तमिल, तेलुगू आदि की वर्णमाला पर भी संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का पर्याप्त प्रभाव है। ध्वनिमाला और ध्वनिक्रम की दृष्टि से पाणिनिकाल से प्रचलित संस्कृत वर्णमाला आज भी कदाचित् विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय वर्णमाला है। संस्कृत भाषा के साथ-साथ समस्त विश्व में प्रत्यक्ष या रोमन अकारांतक के रूप में आज समस्त संसार में इसका प्रचार हो गया है।

भाषा वैज्ञानिक वर्गीकरण

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत भाषा आर्यभाषा परिवार के अंतर्गत रखी गई है। आर्यजाति भारत में बाहर से आई या यहाँ इसका निवास था - इत्यादि विचार अनावश्यक होने से यहाँ नहीं किया जा रहा है। पर आधुनिक भाषाविज्ञान के पंडितों की मान्यता के अनुसार भारत यूरोपीय भाषाभाषियों की जो नाना प्राचीन भाषाएँ, (वैदिक संस्कृत, अवस्ता अर्थात् प्राचीनतम पारसी ग्रीक, प्राचीन गॉथिक तथा प्राचीनतम जर्मन, लैटिन, प्राचीनतम आइरिश तथा नाना वेल्ट बोलियाँ, प्राचीनतम स्लाव एवं बाल्टिक भाषाएँ, अरमीनियन, हित्ती, बुखारी आदि) थी, वे वस्तुत: एक मूलभाषा की (जिसे मूल आर्यभाषा, आद्य आर्यभाषा, इंडोजर्मनिक भाषा, आद्य-भारत-यूरोपीय भाषा, फादरलैंग्वेज आदि) देशकालानुसारी विभिन्न शाखाएँ थीं। उन सबकी उद्‌गमभाषा या मूलभाषा का आद्यआर्यभाषा कहते हैं। कुछ विद्वानों के मत में-वीरा-मूलनिवासस्थान के वासी सुसंगठित

आर्यों को ही "वीरोस" या वीरास् (वीराः) कहते थे।

वीरोस् (वीरो) शब्द द्वारा जिन पूर्वोक्त प्राचीन आर्यभाषा समूह भाषियों का द्योतन होता है उन विविध प्राचीन भाषाभाषियों को विरास (संवीराः) कहा गया है। अर्थात् समस्त भाषाएँ पारिवारिक दृष्टि से आर्यपरिवार की भाषाएँ हैं। संस्कृत का इनमें अन्यतम स्थान है। उक्त परिवार की "केंतुम्" और "शतम्" (दोनों ही शतवात्तक शब्द) दो प्रमुख शाखाएँ हैं। प्रथम के अंतर्गत ग्रीक, लातिन आदि आती हैं। संस्कृत का स्थान "शतम्" के अंतर्गत भारत-ईरानी शाखा में माना गया है। आर्यपरिवार में कौन प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम है यह पूर्णतः निश्चित नहीं है। फिर भी आधुनिक अधिकांश भाषाविद् ग्रीक, लातिन आदि को आद्य आर्यभाषा की ज्येष्ठ संतति और संस्कृत को उनकी छोटी बहिन मानते हैं। इतना ही नहीं भारत-ईरानी-शाखा की प्राचीनतम अवस्ता को भी संस्कृत से प्राचीन मानते हैं।

परंतु अनेक भारतीय विद्वान् समझते हैं कि "जिन्द-अवस्ता" की अवस्ता का स्वरूप ऋक्भाषा की अपेक्षा नव्य है, जो भी हो, इतना निश्चित है कि ग्रंथरूप में स्मृतिरूप से अवशिष्ट वाड्मय में ऋक्संहिता प्राचीनतम है और इसी कारण वह भाषा भी अपनी उपलब्धि में प्राचीनतम है। उसकी वैदिक संहिताओं की बड़ी विशेषता यह है कि हजारों वर्षों तक जब लिपि कला का भी प्रादुर्भाव नहीं था, वैदिक संहिताएँ मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा गुरुशिष्यों के समाज में अखंड रूप से प्रबाहमान थीं। उच्चारण की शुद्धता को इतना सुरक्षित रखा गया कि ध्वनि ओर मात्राएँ, ही नहीं, सहस्रों वर्षों पूर्व से आज तक वैदिक मंत्रों में कहीं पाठभेद नहीं हुआ। उदात्त अनुदात्तादि स्वरों का उच्चारण शुद्ध रूप में पूर्णतः अविकृत रहा। आधुनिक भाषावैज्ञानिक यह मानते हैं कि स्वरों की दृष्टि से ग्रीक, लातिन आदि के "केंतुम्" वर्ग की भाषाएँ अधिक संपन्न भी हैं और मूल या आद्य आर्यभाषा के अधिक समीप भी। उनमें उक्त भाषा की स्वरसंपत्ति अधिक सुरक्षित हैं। संस्कृत में व्यंजनसंपत्ति अधिक सुरक्षित है। भाषा के संघटनात्मक अथवा रूपात्मक विचार की दृष्टि से संस्कृत भाषा को विभक्तिप्रधान अथवा "श्लिष्टभाषा" (एग्लुटिनेटिव लैंग्वेज) कहा जाता है।

संस्कृत भाषा की विशेषताएँ

(1) संस्कृत, विश्व की सबसे पुरानी पुस्तक (वेद) की भाषा है। इसलिए इसे विश्व की प्रथम भाषा मानने में कहीं किसी संशय की संभावना नहीं है।

(2) इसकी सुस्पष्ट व्याकरण और वर्णमाला की वैज्ञानिकता के कारण सर्वश्रेष्ठता भी स्वयं सिद्ध है।

(3) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य की धनी होने से इसकी महत्ता भी निर्विवाद है।

(4) इसे देवभाषा माना जाता है।

(5) संस्कृत केवल स्वविकसित भाषा नहीं बल्कि संस्कारित भाषा भी है, अतः इसका नाम संस्कृत है। केवल संस्कृत ही एकमात्र भाषा है जिसका नामकरण उसके बोलने वालों के नाम पर नहीं किया गया है।

संस्कृत > सम्. सुट्. '–करणे'. क्त, ('सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' इस सूत्र से 'भूषण' अर्थ में 'सुट्' या सकार का आगम/'भूते' इस सूत्र से भूतकाल(चेंज) को द्योतित करने के लिए संज्ञा अर्थ में क्त-प्रत्यय कृ-धातु 'करणे' या 'क्वपदह' अर्थ में) अर्थात् विभूषित, समलंकृत (well-decorated) या संस्कारयुक्त (well-cutured)।

संस्कृत को संस्कारित करने वाले भी कोई साधारण भाषाविद् नहीं बल्कि महर्षि पाणिनि, महर्षि कात्यायन और योगशास्त्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि हैं। इन तीनों महर्षियों ने बड़ी ही कुशलता से योग की क्रियाओं को भाषा में समाविष्ट किया है। यही इस भाषा का रहस्य है।

(6) शब्द-रूप - विश्व की सभी भाषाओं में एक शब्द का एक या कुछ ही रूप होते हैं, जबकि संस्कृत में प्रत्येक शब्द के 27 रूप होते हैं।

(7) द्विवचन - सभी भाषाओं में एकवचन और बहुवचन होते हैं जबकि संस्कृत में द्विवचन अतिरिक्त होता है।

(8) सन्धि - संस्कृत भाषा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है सन्धि। संस्कृत में जब दो अक्षर निकट आते हैं तो वहाँ सन्धि होने से स्वरूप और उच्चारण बदल जा है।

(9) इसे कम्प्यूटर और कृत्रिम बुद्धि के लिए सबसे उपयुक्त भाषा माना जाता है।

(10) शोध से ऐसा पाया गया है कि संस्कृत पढ़ने से स्मरण शक्ति बढ़ती है।

(11) संस्कृत वाक्यों में शब्दों को किसी भी क्रम में रखा जा सकता है। इससे अर्थ का अनर्थ होने की बहुत कम या कोई भी सम्भावना नहीं होती। ऐसा इसलिये होता हैं क्योंकि सभी शब्द विभक्ति और वचन के अनुसार होते हैं और

क्रम बदलने पर भी सही अर्थ सुरक्षित रहता है। जैसे - अहं गृहं गच्छामि या गच्छामि गृहं अहम् दोनों ही ठीक हैं।

(12) संस्कृत विश्व की सर्वाधिक 'पूर्ण' (perfect) एवं तर्कसम्मत भाषा है।

(13) संस्कृत ही एक मात्र साधन हैं, जो क्रमशः अंगुलियों एवं जीभ को लचीला बनाते हैं। इसके अध्ययन करने वाले छात्रों को गणित, विज्ञान एवं अन्य भाषाएँ ग्रहण करने में सहायता मिलती है।

(14) संस्कृत भाषा में साहित्य की रचना कम से कम छह हजार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके कई लाख ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। पता नहीं कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करने वाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है। दीर्घ कालखण्ड के बाद भी असंख्य प्राकृतिक तथा मानवीय आपदाओं (वैदेशिक आक्रमणों) को झेलते हुए आज भी 3 करोड़ से अधिक संस्कृत पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं। यह संख्या ग्रीक और लैटिन की पाण्डुलिपियों की सम्मिलित संख्या से भी 100 गुना अधिक है। निःसंदेह ही यह सम्पदा छापाखाने के आविष्कार के पहले किसी भी संस्कृति द्वारा सृजित सबसे बड़ी सांस्कृतिक विरासत है।

(15) संस्कृत केवल एक मात्र भाषा नहीं है अपितु संस्कृत एक विचार है। संस्कृत एक संस्कृति है एक संस्कार है संस्कृत में विश्व का कल्याण है, शांति है, सहयोग है, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना है।

भारत और विश्व के लिए संस्कृत का महत्त्व

संस्कृत कई भारतीय भाषाओं की जननी है। इनकी अधिकांश शब्दावली या तो संस्कृत से ली गई है या संस्कृत से प्रभावित है। पूरे भारत में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन से भारतीय भाषाओं में अधिकाधिक एकरूपता आएगी जिससे भारतीय एकता बलवती होगी। यदि इच्छा-शक्ति हो तो संस्कृत को हिब्रू की भाँति पुनः प्रचलित भाषा भी बनाया जा सकता है।

हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत में हैं।

हिन्दुओं के सभी पूजा-पाठ और धार्मिक संस्कार की भाषा संस्कृत ही है।

हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों के नाम भी संस्कृत पर आधारित होते हैं।

भारतीय भाषाओं की तकनीकी शब्दावली भी संस्कृत से ही व्युत्पन्न की जाती है। भारतीय संविधान की धारा 343, धारा 348 (2) तथा 351 का सारांश यह है कि देवनागरी लिपि में लिखी और मूलत: संस्कृत से अपनी पारिभाषिक शब्दावली को लेने वाली हिन्दी राजभाषा है।

संस्कृत, भारत को एकता के सूत्र में बाँधती है।

संस्कृत का साहित्य अत्यन्त प्राचीन, विशाल और विविधतापूर्ण है। इसमें अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का खजाना है। इसके अध्ययन से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति को बढ़ावा मिलेगा।

संस्कृत को कम्प्यूटर के लिए (कृत्रिम बुद्धि के लिए) सबसे उपयुक्त भाषा माना जाता है।

संस्कृत का अन्य भाषाओं पर प्रभाव

संस्कृत भाषा के शब्द मूलत: रूप से सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में हैं। सभी भारतीय भाषाओं में एकता की रक्षा संस्कृत के माध्यम से ही हो सकती है। मलयालम, कन्नड़ और तेलुगू आदि दक्षिणात्य भाषाएं संस्कृत से बहुत प्रभावित हैं। यहाँ तक कि तमिल में भी संस्कृत के हजारों शब्द भरे पड़े हैं और मध्यकाल में संस्कृत का तमिल पर गहरा प्रभव पड़ा।

विश्व की अनेकानेक भाषाओं पर संस्कृत ने गहरा प्रभाव डाला है। संस्कृत भारोपीय भाषा परिवर में आती है और इस परिवार की भाषाओं से भी संस्कृत में बहुत-सी समानता है। वैदिक संस्कृत और अवेस्ता (प्राचीन इरानी) में बहुत समानता है। भारत के पड़ोसी देशों की भाषाएँ सिंहल, नेपाली, म्यांमार भाषा, थाई भाषा, मेर संस्कृत से प्रभावित हैं। बौद्ध धर्म का चीन में ज्यों-ज्यों प्रसार हुआ वैसे-वैसे पहली शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। इससे संस्कृत के हजारों शब्द चीनी भाषा में गए। उत्तरी-पश्चिमी तिब्बत में तो आज से 1000 वर्ष पहले तक संस्कृत की संस्कृति थी और वहाँ गान्धारी भाषा का प्रचलन था।

वैदिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत 2000 ईसापूर्व (या उस से भी पहले) से लेकर 600 ईसापूर्व तक बोली जाने वाली एक हिन्द-आर्य भाषा थी। यह संस्कृत की पूर्वज भाषा थी और आदिम हिन्द-ईरानी भाषा की बहुत ही निकट की सन्तान थी।

वैदिक संस्कृत और अवस्ताई भाषा (प्राचीनतम ज्ञात ईरानी भाषा) एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। वैदिक संस्कृत हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार की हिन्द-ईरानी भाषा शाखा की सब से प्राचीन प्रामाणिक भाषा है।

वैदिक संस्कृत भाषा में व्यापक प्राचीन साहित्य आधुनिक युग में बच गया है, और यह प्रोटो-इंडो-यूरोपीय और प्रोटो-इंडो-ईरानी इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए जानकारी का एक प्रमुख स्रोत रहा है। पूर्व-ऐतिहासिक युग में काफी पहले, संस्कृत एक पूर्वी ईरानी भाषा, एवेस्टन भाषा से अलग हो गई थी। पृथक्करण की सटीक सदी अज्ञात है, लेकिन संस्कृत और अवस्थन का यह अलगाव 1800 ईसा पूर्व से पहले निश्चित रूप से हुआ था। एवेस्टन भाषा प्राचीन फारस में विकसित हुई, जोरोस्ट्रियनिज्म की भाषा थी, लेकिन सासैनियन काल में एक मृत भाषा थी। प्राचीन भारत में स्वतंत्र रूप से विकसित वैदिक संस्कृत, पाणिनि के व्याकरण और भाषायी ग्रंथ के बाद शास्त्रीय संस्कृत में विकसित हुई, और बाद में कई संबंधित भारतीय उपमहाद्वीप भाषाओं में, जिनमें बौद्ध, हिंदू और जैन धर्म के प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पाए जाते हैं।

हिन्दुओं के प्राचीन वेद धर्मग्रन्थ वैदिक संस्कृत में लिखे गए हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में श्रौत जैसे सख्त नियमित ध्वनियों वाले मंत्रोच्चारण की हजारों वर्षों पुरानी परम्परा के कारण वैदिक संस्कृत के शब्द और उच्चारण इस क्षेत्र में लिखाई आरम्भ होने से बहुत पहले से सुरक्षित हैं। वेदों के अध्ययन से देखा गया है कि वैदिक संस्कृत भी सैकड़ों वर्षों के दीर्घ काल में बदलती गई। ऋग्वेद की वैदिक संस्कृत, जिसे ऋग्वैदिक संस्कृत कहा जाता है, सब से प्राचीन रूप है। पाणिनि के नियमीकरण के बाद की शास्त्रीय संस्कृत और वैदिक संस्कृत में पर्याप्त अन्तर है। इसलिए वेदों को मूल रूप में पढ़ने के लिए संस्कृत ही सीखना पार्याप्त नहीं बल्कि वैदिक संस्कृत भी सीखनी पड़ती है। अवस्ताई फारसी सीखने वाले विद्वानों को भी वैदिक संस्कृत सीखनी पड़ती है क्योंकि अवस्तई ग्रन्थ कम बचे हैं और वैदिक सीखने से उस भाषा का भी अधिक विस्तृत बोध मिल जाता है।

लौकिक संस्कृत का वैदिक संस्कृत से भेद

लौकिक संस्कृत-साहित्य का वैदिक साहित्य से अनेक प्रकार का भेद पाया जाता है। वैदिक साहित्य शुद्धतः धार्मिक है तथा इसमें सभी लौकिक तत्त्वों का बीज समाहित है। लौकिक संस्कृत साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक-धर्मनिरपेक्ष

है अथवा धर्म में इसे लोक-परलोक से ही सम्बन्धित कहा जा सकता है। इस साहित्य में महाकाव्य (रामायण एवं महाभारत), पुराण एवं अन्य काव्य (जिनमें गद्यकाव्य भी सम्मिलित हैं) नाटक, अलंकारशास्त्र, दर्शन, सूत्र, विधि अथवा नियम, कला, वास्तुशास्त्र, औषधि (आयुर्वेद), गणित, मशीन, उद्योग सम्बन्धी ग्रंथ और अन्य विभिन्न विद्याओं की शाखाएं भी प्राप्त होती हैं।

लौकिक साहित्य की भाषा तथा वैदिक साहित्य की भाषा में भी अन्तर पाया जाता है। दोनों के शब्दरूप तथा धातुरूप अनेक प्रकार से भिन्न हैं। वैदिक संस्कृत के रूप केवल भिन्न ही नहीं हैं अपितु अनेक भी हैं, विशिष्टतया वे रूप जो क्रिया रूपों तथा धातुओं के स्वरूप से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में दोनों साहित्यों की कुछ महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) शब्दरूप की दृष्टि से - उदाहरणार्थ, लौकिक संस्कृत में केवल ऐसे रूप बनते हैं जैसे देवाः जनाः (प्रथम विभक्ति बहुवचन)। जबकि वैदिक संस्कृत में इनमें रूप 'देवासः','जनामः' भी बनते हैं। इसी प्रकार, प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति बहुवचन में 'विश्वानि' रूप वैदिक साहित्य में 'विश्वा' भी बन जाता है। तृतीय बहुवचन में वैदिक संस्कृत में 'देवैः' इस रूप के साथ-साथ 'देवेभिः' भी मिलता है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति एकवचन में 'व्योम्नि' अथवा 'व्योमनि' इन रूपों के साथ-साथ वैदिक संस्कृत में 'व्योमन्' यह रूप भी प्राप्त होता है।

(2) वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में क्रियारूपों और धातुरूपों में भी विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृत इस विषय में कुछ अधिक समृद्ध है तथा उसमें कुछ और रूपों को उपलब्धि होती है जबकि लौकिक संस्कृत में क्रिया पदों की अवस्था बताने वाले ऐसे केवल दो ही लकार हैं–लोट् और विधिलिंग जोकि लट्प्रकृति अर्थात् वर्तमानकाल की धातु से बनते हैं।

उदाहरणार्थ पठ् से पठतु और पठेत् ये दोनों बनते हैं। वैदिक संस्कृत में क्रियापदों की अवस्था को द्योतित करने वाले दो और लकार हैं–लट् लकार एवं निषेधात्मक लुड़्लकार (Injunctive) (जो लौकिक संस्कृत में केवल निषेधार्थक 'मा' से प्रदर्शित होता है और जो लौकिक संस्कृत में पूर्णतः अप्राप्य है।) इन चारों अवस्थाओं के द्योतक लकार वैदिक संस्कृत में केवल लट् प्रकृति से ही नहीं बनते हैं किन्तु लिट् प्रकृति और लुड् प्रकृति से भी बनते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कृत में धातुरूप अत्यधिक मात्रा में हैं। इसके अतिरिक्त लिड़् प्रत्यय सम्बन्धी भेद वैदिक संस्कृत में पाये जाते हैं जैसे मिनीमसि भी (लट्, उत्तम पुरुष बहुवचन

में) प्रयुक्त होता है परन्तु लौकिक संस्कृत में 'मिनीमही' प्रयुक्त होता है। जहाँ तक धातु से बने हुए अन्य रूपों का प्रश्न है, लौकिक संस्कृत में केवल एक ही 'तुमुन्' (जैसे गन्तुम्) मिलता है जबकि वैदिक संस्कृत में इसके लगभग एक दर्जन रूप मिलते हैं जैसे गन्तवै, गमध्यै, जीवसै, दातवै इत्यादि।

(3) पुनश्च, लौकिक संस्कृत आगे चलकर अधिकाधिक कृत्रिम अथवा सुबद्ध होती गई है और इसके उदाहरण हमें सुबन्धु और बाणभट्ट के गद्यकाव्यों में प्रयुक्त भयावह समासों में मिलते हैं। इस कला में वह अपने क्षेत्र के अन्य गद्यकारों से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

(4) कुछ वैदिक शब्द लौकिक संस्कृत में अप्राप्य हैं और कुछ नये शब्दों का उद्भव भी हो गया है। उदाहरणार्थ, वैदिक शब्द 'अपस्' का 'कार्य' के अर्थ में प्रयोग लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया है। लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'परिवार' शब्द वैदिक संस्कृत में अनुपलब्ध है। यह वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की अपनी विशेषता है।

शब्दार्थ विज्ञान की दृष्टि से कुछ शब्दों में एक विशिष्ट परिवर्तन हुआ है जैसे 'ऋतु' जिसका वैदिक संस्कृत में अर्थ है 'शक्ति' और लौकिक संस्कृत में उसका अर्थ 'यज्ञ' हो गया है।

ध्वनि अन्तर

वैदिक संस्कृत में 'फ' इसमें 'ख' के उच्चारण पर ध्यान दें क्योंकि यह 'ख' से बहुत भिन्न है, और 'खराब' और 'खास' जैसे शब्दों में मिलती है। आधुनिक काल में एक गलत धारणा है कि 'फ' और 'ख' की ध्वनियाँ संस्कृत-परम्परा में विदेशज हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से 'फ' को 'उप/मानीय' और 'ख' को 'जिह्वामूलीय' कहा जाता है।'ख' की ध्वनि को विसर्ग में अघोष कण्ठ्य वर्णों से पहले उच्चारित किया जाता था।

अन्य अन्तर

भाषा में परिवर्तन के अतिरिक्त दोनों साहित्यों में कुछ और भिन्नताएँ प्राप्य हैं–

(1) प्रथमत:, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक साहित्य, प्रधानत: धार्मिक है जबकि लौकिक संस्कृत अपने वर्ण्यविषय की दृष्टि से धर्म के साथ-साथ लौकिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध है।

(2) दोनों की आत्मा यद्यपि अभिन्न है तथापि अभिन्नता में भी भिन्नता के दर्शन होते हैं। वैदिक वाड़मय, मुख्यत: जैसा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में हमें प्राप्त होता है, आशावादी है जबकि लौकिक संस्कृत साहित्य निराशावादी है, इस निराशावाद की झलक बौद्धों के 'सर्व दु:खं' में भी है। बौद्धों के व्यवहार्यपक्ष 'करुणा' और 'मैत्री' का उद्घोष भी वैदिक साहित्य की मौलिकता है।

(3) वैदिक धर्म भी परवर्ती काल में अव्यक्त रूप से विशिष्ट परिवर्धित हुआ दिखाई देता है। यहाँ तक कि वैदिक युग के प्रधान देवता जैसे इन्द्र, अग्नि, वरुण को लौकिक संस्कृत में अपेक्षाकृत विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई परन्तु ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों को वेदों में केवल गौण स्थान ही प्राप्त था, परवर्ती काल में इन्हें एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इस काल में कुछ नए देवी देवताओं–गणेश, कुबेर, लक्ष्मी और दुर्गा इत्यादि का भी वैदिक मूल से विकास हुआ।

(4) परवर्ती, विशेषत: आठवीं और नवीं शताब्दी के बाद के, कवियों में अत्युक्ति का आश्रय ग्रहण करने की ओर अधिक झुकाव है, जैसे माघ, श्रीहर्ष आदि में जबकि पूर्ववर्ती कवियों जैसे अश्वघोष (बौद्ध कवि), भास और कालिदास में अत्युक्ति का अभाव है। वैदिक वाड़मय में अत्युक्ति का महा अभाव है।

(5) लौकिक संस्कृति में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोगों की ओर हमें एक विशिष्ट आग्रह दिखायी देता है। वैदिक युग में भी छन्दोबद्ध रूपों का आधिक्य मिलता है, किन्तु वहां विशेषत: यज्ञ सम्बन्धी साहित्य में गद्य का भी प्रयोग हुआ, जैसे यजुर्वेद और ब्राह्मणों में। लौकिक संस्कृत काल में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोग की ओर इतना अधिक झुकाव है कि यहाँ तक कि वैद्यक ग्रन्थ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता इत्यादि) भी पद्य में ही लिखे गये। आश्चर्य तो इस बात से होता है कि कोशों की रचना (जैसे अमरकोश) भी छन्दों में ही हुई। कुछ आगे चलकर परवर्ती काल में बाण और सुबन्धु ने गद्य काव्यों के लेखन की शैली का विकास किया, जो कि बड़े-बड़े समासों से मिश्रित होने के कारण अत्यन्त कृत्रिम कही जाती है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती काल में सूत्र-रूप में दार्शनिक ग्रंथों को लिखने की प्रणाली का भी प्रचलन हुआ।

आगे चलकर हमें छन्दों की प्रणाली का भी एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वैदिक छन्द जगती, त्रिष्टुभ, अनुष्टुभ तो लौकिक संस्कृत में सर्वथा अनुपलब्ध है। जबकि लौकिक संस्कृत के छन्द वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी आदि वेदों में

पूर्णत: अप्राप्य हैं। हां, यह अवश्य सच है कि लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त श्लोक छन्द वैदिक अनुष्टुभ् छन्द का ही रूप हैं।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की भिन्नताओं की ओर दृष्टिपात करते हुए यह ध्यान देना आवश्यक है कि सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों एक-दूसरे से काफी मिलती-जुलती हैं। वेदों में कुछ और अधिक ध्वनियां मिलती हैं, जैसे कि ळ। अन्य ध्वनि-सिद्धान्त दोनों के समान ही हैं और उनमें कोई भी वैसा अन्तर नहीं दिखायी देता जैसा कि प्राकृत बोलियों में हमें प्राप्त होता है।

संस्कृत साहित्य

ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक संस्कृत भाषा के माध्यम से सभी प्रकार के वाड़मय का निर्माण होता आ रहा है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी के छोर तक किसी न किसी रूप में संस्कृत का अध्ययन अध्यापन अब तक होता चल रहा है। भारतीय संस्कृति और विचारधारा का माध्यम होकर भी यह भाषा अनेक दृष्टियों से धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) रही है। इस भाषा में धार्मिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और मानविकी (ह्यूमैनिटी) आदि प्राय: समस्त प्रकार के वाड़मय की रचना हुई।

संस्कृत भाषा का साहित्य अनेक अमूल्य ग्रंथरत्नों का सागर है, इतना समृद्ध साहित्य किसी भी दूसरी प्राचीन भाषा का नहीं है और न ही किसी अन्य भाषा की परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में इतने दीर्घ काल तक रहने पाई है। अति प्राचीन होने पर भी इस भाषा की सृजन-शक्ति कुण्ठित नहीं हुई, इसका धातुपाठ नित्य नये शब्दों को गढ़ने में समर्थ रहा है।

संस्कृत काव्यशास्त्र

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र, काव्यालंकार, साहित्यविद्या, क्रियाकल्प आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। इनमें अलंकारशास्त्र शब्द सर्वाधिक प्रचलित माना जाता है। भामह, वामन तथा उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने काव्यविवेचन से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम में काव्यालंकार शब्द का प्रयोग किया है। इसे अलंकारशास्त्र कहने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो प्राचीन आचार्यों ने समस्त सौन्दर्यजनक धर्मों का अलंकार शब्द से ग्रहण किया है। दूसरे प्राचीन आचार्यों की धारणा थी कि अलंकार ही काव्य में प्रधान है। इसी कारण काव्यविवेचना का नाम अलंकारशास्त्र रख दिया गया। आचार्य भामह के

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण से आचार्यों को पश्चात् काल में साहित्य शब्द की प्रेरणा मिली। इन सब नामों से भिन्न इस शास्त्र के लिए एक नाम और प्रयुक्त हुआ है वह है - 'क्रियाकल्प' इसका निर्देश वात्स्यायन के कामशास्त्र में गिनायी गयी चौसठ कलाओं में आता है।

सम्पाठ्यं, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोषः, छन्दोज्ञानम्
क्रियाकल्पः छलितकयोगाः।

इसके टीकाकार जयमंगलार्क ने क्रियाकल्प शब्द को क्रियाकल्प इति ''काव्याकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः'' इस अर्थ में किया है। इससे प्रतीत होता है कि कलाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ क्रियाकल्प शब्द काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु यह नाम अत्यधिक प्रचलित नहीं हुआ। आचार्य वात्स्यायन ने साधारण अधिकरण में प्रस्तुत विद्यासमुद्देश प्रकरण में क्रियाकल्प का उल्लेख किया। क्रियाकल्प अर्थात् काव्यालंकारशास्त्र के ज्ञान की कला।

काव्य के शास्त्र विषयक विचार के प्रवर्तन के सन्दर्भ में काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय प्रौढ़ ग्रन्थ काव्यमीमांसा में पौराणिक आधार का आश्रय लिया है।

इस वर्णन के अनुसार भगवान श्रीकण्ठ ने काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी और वैकुण्ठ इत्यादि अपने चौसठ शिष्यों को दिया। इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश भगवान परमेष्ठी द्वारा उनके इच्छाजन्य शिष्यों को दिया गया जिनमें देववन्ध सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था। काव्यपुरुष को त्रिकालज्ञ और दिव्यदृष्टि से सम्पन्न जानकर ब्रह्म ने उसे आज्ञा दी कि वह सर्वजनहित की कामना से भू-भुवः और स्वर्ग निवासनी प्रजा में काव्यविद्या का प्रचार करे। काव्यपुरुष ने काव्यविद्या को अट्ठारह भागों में विभक्त कर सहस्त्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को उपदिष्ट किया। उन शिष्यों ने काव्यविद्या को पृथक्-पृथक् भागों में विशेष योग्यता प्राप्त कर पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की। इन स्नातकों में सहस्त्राक्ष ने कविरहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक, सुवर्णनाभ ने रीतिनिर्णय, प्रचेता ने आनुप्रासिक, यम ने यमक, चित्रांगद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलत्स्य ने वास्तव, औपकायन ने औपम्य, पराशर ने अतिशय, उत्थ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने उभयालंकारकारिका, कामदेव ने वैनोदिक, भरत ने रूपक निर्णय, उपमन्यु ने गुणौपादानिक तथा कुचुमार ने औपनिषदिक नामक पृथक् पृथक् ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार राजशेखर ने काव्यशास्त्र के उद्गम के ऊपर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। इस आख्यान में काव्यशास्त्र की दैवी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है।

काव्यमीमांसा में वर्णित काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का आख्यान पौराणिक काव्यात्मक कल्पनाओं की सृष्टि है।

(क) काव्यशास्त्रीय वैदिक परम्परा

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेद सभी विद्याओं की उत्पत्ति के मूल हैं। इसी दृष्टि से काव्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेद में अन्वेषण करने का प्रयत्न किया गया है। साक्षात् काव्यशास्त्र का वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदागें में भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन छह विद्याओं की गणना है पर काव्यशास्त्र की नहीं परन्तु वेद को देव का अमर काव्य कहा गया है। "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"। वेदों में अनेक स्थानों पर कवि शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में 'अरंकृतिः' शब्द का प्रयोग मिलता है। महर्षि वसिष्ठ इन्द्र से कहते हैं –

का ते अस्त्यरंकृति सूक्तैः।

काव्यशास्त्र में काव्यसौन्दर्य के आधायक जिन गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है वे सभी तत्त्व का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप से वेद में पाये जाते हैं। डॉ. काणे का मत है कि ऋग्वैदिक कवियों ने उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का केवल प्रयोग नहीं किया वरन् काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उन्हें कुछ ज्ञान था। प्रस्तुत मन्त्र में मन्त्रदृष्टा ऋषि द्वारा किया गया उपमा का प्रयोग भी प्रशंसनीय है–

उतत्वः पश्यन न ददर्श वाच उतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येननाम् उतो त्व स्मै तन्वं विससे जायेव पत्ये उक्ती सुवासा।

इसी प्रकार 'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः' में उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग है। इसी प्रकार यह मन्त्र भी सुन्दर उदाहरण है यथा–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्धत्ति अनश्नन्नयो अभिचाकशीति।

प्रस्तुत मंत्र में पीपल पर रहने वाले दो पक्षियों का वर्णन है जिनमें एक तो पीपल के मीठे फल खा रहा है दूसरा बिना फल भक्षण के आनन्दमग्न है। इन पक्षियों के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा का चित्रण किया गया है। जीव इन्द्रिय सुखों का भोग करता है तथा परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यहाँ विभावना का सुन्दर

उदाहरण है। इसके अतिरिक्त रूपक, अनुप्रास, विशेषोक्ति का प्रयोग सुस्पष्ट है। अन्य संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में भी काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं प्राप्त होता है। परवर्ती काल में छह वेदांगों का विकास हुआ उनमें काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों का न्यूनाधिक प्रतिपादन दृष्टिगत होता है। निरुक्त में यास्क ने उपमा के पाँच भेदों–भूतोपमा, सिद्धोपमा, कर्मोपमा, लुप्तोपमा का उल्लेख किया है। साथ ही अपने पूर्ववर्ती आचार्य गर्ग के उपमानिरूपक लक्षण को उद्धृत किया है।

आचार्य यास्क ने 'अथाप्युपमार्थे भवित' की व्याख्या करते हुए इव, यथा, न, चित्, नु तथा आ के प्रयोगों की सार्थकता सिद्ध की है। निरुक्त में पारिभाषिक अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु यास्क ने ''अलंरिष्णु' शब्द को अलंकृत करने के स्वभाववाला के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है। पाणिनि के युग तक उपमा का प्रयोग स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। यथा, वा, इव का प्रयोग तत्र तस्येव, तेन तुल्यं क्रिया चेद्धति आदि सूत्रों में व्याख्यायित हुआ है। 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' व्याकरणशास्त्र की देन है। अभिधा, लक्षणा शब्दशक्तियों को सर्वप्रथम वैयाकरणों ने परिभाषित किया। व्यंजना शक्ति भी स्फोटसिद्धान्त पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि वेदाग् निरुक्त तथा व्याकरण में काव्यशास्त्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार वेद तथा वेदांगों में काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों के बीज पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

(ख) काव्यशास्त्रीय लौकिक परम्परा

ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व उत्तम प्रकार की काव्य रचना हुई इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। रामायण और महाभारत इन दोनों महाकाव्यों में उत्तम प्रकार की काव्यरचना मिलती है। महाभारत काव्य की अपेक्षा धर्मशास्त्र है फिर भी यह अनेक कवियों का उपजीव्य रहा है। रामायण अपने उद्देश्य, स्वरूप, विषय की दृष्टि से वास्तव में काव्य है। जहाँ तक काव्य रचना और काव्य समीक्षा के सामान्य सिद्धान्तों के विकास का प्रश्न है वाल्मीकीय रामायण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसे आदि काव्य और इसके रचयिता को आदि कवि होने का सम्मान प्राप्त है। उदात्त शैली के ऐसे महान काव्यात्मक प्रयास के साथ काव्य विवेचन के सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयास स्वभाविक है। रामायण में इस दिशा का कुछ संकेत उपलब्ध हैं। रामायण तथा महाभारत के रूप में काव्यत्व का समृद्ध रूप सामने होने पर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना का मार्ग बड़ी

स्पष्टता के साथ प्रशस्त हुआ होगा ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

यद्यपि इस समय संस्कृत काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र रचना नही हुयी फिर भी कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में भी पर्याप्त काव्यरचना हुयी थी। महाकाव्य का स्वरूप निरूपण 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर किया गया। रूद्रट के टीकाकार नामिसाधु ने पाणिनि के नाम से 'पातालविजय' नामक महाकाव्य का उल्लेख किया है- तथाहि पाणिने: पतालविजये महाकाव्ये-''सन्ध्यावधूंगृह्यकरेण''। जबकि राजशेखर उन्हीं नाम से जाम्बवतीजय काव्य को उद्धृत करते हैं।

स्वस्ति पणिनये तस्मै यस्य रुद्र प्रसादत:।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवती जय:।।

सुवृत्ततिलक में क्षेमेन्द्र ने उपजाति में पाणिनि के वैशिष्ट्य प्राप्ति की चर्चा की है। कात्यायन के वार्तिक में आख्यायिका शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि आख्यायिका नामक काव्यांग कात्यायन से पूर्व प्रचलित हो चुका था। महाभाष्य में 'वारुरुचं काव्यम्' का उल्लेख आता है। साथ ही वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक आख्यायिकाओं का भी उल्लेख है। पतंजलि ने कंसवध तथा बलिबन्धन की कथाओं पर दो कृतियों तथा उसके नाटकीय प्रदर्शन की चर्चा की है।

इन तथ्यों से यह सूचित होता है कि पतंजलि से पूर्व पर्याप्त मात्रा में काव्य-आख्यायिका तथा नाटकों का निर्माण हुआ था। भरत का नाट्यशास्त्र वर्तमान काल में काव्यशास्त्र का प्राचीनतम् ग्रन्थ उपलब्ध है। किन्तु ऐसे साक्ष्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख होते हुए उसका समुचित शास्त्रीय निरूपण भरत कृत नाट्यशास्त्र से पहले प्राप्त नहीं होता है। नाट्शास्त्र के पश्चात् काव्यविवेचन सम्बन्धित ग्रन्थों के प्रणयन की परम्परा प्राप्त होती है और काव्यशास्त्रीय धारणाओं का विकास उपलब्ध होता है। विवेचन की दृष्टि से इसको तीन भागों में विभक्त कर उसके विकास का अध्ययन किया जा सकता है-

(1) प्राचीन युग- आचार्य भरत से आचार्य रुद्रट

(2) मध्य युग - आचार्य आनन्दवर्धन से पण्डितराज जगन्नाथ तक

(3) आधुनिक युग

(क) पूवार्द्ध परम्परा – आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय से पण्डित छज्जूरामशास्त्री विद्यासागर

(ख) उत्तरार्द्ध परम्परा – स्वामी करपात्री से वर्तमान काल तक

लौकिक काव्य की उत्पत्ति

लौकिक संस्कृत साहित्य का आरंभ वाल्मीकि कृत रामायण से होता है। इसे आदि काव्य कहा गया है। क्रौंच वध की घटना से द्रवित हुए वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। जिसमें सरसता, स्वाभाविकता, विविध रसों का समन्वय, समास विहीन वाक्य प्राप्त होते हैं। रामायण की कविता सुंदरी को यत्र-तत्र अलंकारों से सजाया गया। इसमें ग्रथित अलंकार के कारण कविता के लावण्य में कहीं से कोई कमी नहीं आई, बल्कि यहां पर प्रयुक्त किए गए अलंकार काव्य सौंदर्य में बृद्धि करते दिखते हैं।

शैली की दृष्टि से लौकिक संस्कृत साहित्य को 4 भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. कालिदास (गुप्त काल) के पूर्व के काल- पाणिनि, वररूचि, अश्वघोष, भास आदि
2. (गुप्त काल) कालिदास के पश्चात् अलंकृत शैली (शब्दचमत्कार) के काव्य, 12 वीं शताब्दी तक
3. द्वयर्थीय त्र्यर्थीय काव्य
4. आधुनिक काव्य–हायकू, गजल आदि छन्द

लौकिक संस्कृत साहित्य के उपजीव्य मुख्य ग्रंथ हैं- वाल्मीकि कृत रामायण, व्यास कृत महाभारत तथा श्रीमद्भागवत। इसमें महाभारत तथा श्रीमद्भागवत को पुराण के अंतर्गत जबकि रामायण को महाकाव्य के अंतर्गत परिगणित किया जाता है।

महाकाव्य का लक्षण

महाकाव्य का लक्षण निर्धारण आचार्य भामह, दण्डी ने किया। भामह तथा दण्डी के अनुसार महाकाव्य उसे कहते हैं, जो सर्गों में बंधा हो। सर्गबन्धो महाकाव्यम्। इसके अतिरिक्त दण्डी इतिहास में प्रसिद्ध नायक देवता या धीर उदात्त गुणों वाला क्षत्रिय कुलीन क्षत्रिय नायक का होना अनिवार्य करते हैं। दण्डी अनलंकृत शैली का ध्यान रखते हैं। दोनों आचार्यों के सिद्धान्त का परिपाक

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में मिलता है। विश्वनाथ के साहित्य दर्पण में समेकित स्वरूप प्राप्त होता है। इसके अनुसार जिस में सर्ग का निबंधन हो, वह महाकाव्य कहा जाता है। महाकाव्य का नायक देवता या उसके सदृश क्षत्रिय जिसमें धीरोदात्त गुण हो, कुलीन वंश का राजा हो, शृंगार, वीर, शांत में से कोई एक अंगी रस व कथा ऐतिहासिक या सज्जन आश्रित हो, ग्रंथ के आदि में मध्य में तथा अंत में मंगलाचरण किया गया हो, जिसमें 8 से अधिक सर्ग तथा प्रत्येक सर्ग का एक सुनिश्चित छंद हो, सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होता हो तथा आगामी कथा की सूचना मिलती हो उसे महाकाव्य कहते हैं। इसमें दिन, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, मुनि, स्वर्ग आदि का वर्णन मिलता हो, इस प्रकार के काव्य महाकाव्य की श्रेणी में रखा गया है।

वाल्मीकि रामायण का उपजीव्य
रघुवंशमहाकाव्यम्– कालिदास
जानकीहरणमहाकाव्यम्– कुमार दास
भट्टिकाव्य (रावणवधमहाकाव्य) – भट्टि
महाभारत का उपजीव्य
किरातार्जुनीयम् – भारवि
शिशुपालवधम् – माघ
नैषधीयचरितम् – श्रीहर्ष
बालचरितम् – भागवत
वेंकटनाथ– यादवाभ्युदय –
बालभारत – अमरचन्द्र सूरि

काव्य का विकास

छठी शताब्दी गुप्त काल के बाद कविता अलंकार प्रधान और पांडित्य प्रदर्शन का साधन बन गई। ऐसा राज्याश्रय मिलने तथा अपने को अन्य से श्रेष्ठता साबित करने के कारण आरंभ हुआ। कालिदास के पूर्ववर्ती कवियों के काव्य में रसभरी शैली थी। इनकी कविता सीधी–साधी और अलंकार विहीन शैली में लिखी गई। इसमें अश्वघोष, बुद्धघोष तथा भास्कर नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। कालिदास के काव्य में प्रसादमयी तथा प्रवाह पूर्ण भाषा का प्रयोग मिलता है। यहां हठात् अलंकार का प्रयोग नहीं किया गया है। इस समय तक महाकाव्य का विषय वस्तु विस्तृत होता था। कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में दिलीप से

लेकर अग्निवर्ण तक 31 पीढ़ियों का वर्णन किया। कालिदास के बाद ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओं, शास्त्रों, कलाओं, दर्शनों का विकास हुआ। जिसके कारण इसका प्रभाव काव्य पर भी पड़ा। राज्यसभा में रहने वाले कवियों ने शास्त्रों का प्रयोग अपने काव्यों में भी किया। जिसके कारण शास्त्रकाव्य, संधानकाव्य, यमक काव्य आदि अनेक प्रकार के काव्य उद्भूत होते चले गए। अधोलिखित महाकाव्य प्रसाद गुण संपन्न वैदर्भी रीति में लिखे गए।

अलंकृत शैली का महाकाव्य

अश्वघोष- बुद्धचरितम्, सौन्दरानन्दम्
कालिदास- रघुवंशम्, कुमारसंभवम्
कुमार दास–जानकीहरणमहाकाव्यम्
उद्भट - कुमारसंभव (अप्राप्त)
पद्मगुप्त- नवसाहसांकचरितम्
विल्हण- विक्रमांकदेवचरितम्
अभिनन्द- रामचरित महाकाव्य 10–11 शताब्दी
मंख (मंखक) - श्रीकंठचरित महाकाव्य
क्षेमेन्द्र- दशावतारचरित महाकाव्य
लोलिम्बराज- हरिविलास महाकाव्य
हरिश्चन्द्र- धर्मशर्माभ्युदयम् महाकाव्य
लक्ष्मीधर भट्ट- चक्रपाणिविजय महाकाव्य
कृष्णानन्द- सहृदयानन्द महाकाव्य 13वीं शती

अलंकारों में दो मुख्य अलंकार है उपमा और श्लेष उपमा दो समान धर्म वाले के साथ जुड़कर परस्पर अभिमुख करता है। श्लेष का अर्थ है- दो का ऐसा चिपकना कि एक हो जाना और उस एक से दो या दो से अधिक की मनोरम प्रतीति कराना। इस प्रकार उपमा और श्लेष एक-दूसरे के पूरक हैं। दक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा, औदीच्यों में श्लेष, प्रतीची कवियों में केवल अर्थयोजन तथा गौड़ कवियों में अक्षराडंबर होता था।

अलंकार बहुल शैली

भारवि ने अपने किरातार्जुनीयम् में अलंकार बहुल शैली को अपनाया। आपने अपने काव्य में उपजाति, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, स्वागता, मत्तमयूर आदि अनेक वृत्तों का प्रयोग किया। महाकाव्य के पद-पद पर सूक्तियाँ देखने को मिलती हैं।

सहसा विदधीत न क्रियाम्।
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः।
अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता।

कालिदास से माघ तक की यात्रा में जो शैली परिवर्तन हुआ उसमें भारवि इसके आरम्भकर्ता हैं। इस ग्रंथ में एक अक्षर को लेकर भी श्लोक की रचना की गई। अर्थगौरव के लिए यह ख्यात तो है ही। इस ग्रंथ की इतनी ख्याति हुई कि इस पर अब तक 37 से अधिक टीकाएँ लिखी जा चुकीं, जिसमें मल्लीनाथ की घंटापथ टीका मुख्य है।

महाकाव्य का वर्ण्य विषय राजनीति, धर्म नीति, युद्ध नीति आदि है। भारवि ने विपुल परिणाम वाले कथानक का परित्याग करते हुए महाभारत के लघु कथा को लेकर अर्जुन से इंद्र कील पर्वत पर किरात वेशधारी शंकर से युद्ध करते हैं। इस युद्ध अर्जुन शिव को प्रसन्न कर उनसे अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करते हैं। मात्र इतनी कथानक को लेकर भारवि ने पर्वत, नदी, संध्या, ऋतु, प्रातःकाल आदि का वर्णन करते हुए 18 सर्गों का महाकाव्य लिख डाला। काव्य में चमत्कार पैदा करने के लिए एकाक्षर श्लोक तक लिखे गये-

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नौनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्न नुत्। किरात. 15/14

अर्थ– अनेकविध मुख वालों! (प्रमथगणों) यह नीच विचार का मनुष्य नहीं है, यह न्यूनता (बुराई) का समूल नष्ट करने वाला पुरुष से अतिरिक्त कोई देवता है। विदित होता है इसका स्वामी भी है। यह बाणों से आहत है तथापि अनाहत की तरह प्रतीत होता है। अत्यंत व्यथा से आक्रांत पुरुष को व्यथित करना दोषावह होता है। इस दोष से भी यह पुरुष मुक्त है।

इसी पंचदश सर्ग में तीन अर्थ को कहने वाला श्लोक भी प्राप्त होता है-

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः।
दानवर्षीकृताशंसो नागराज इवाबभौ।। 15.45।।

एक अन्य श्लोक देखिये। इसमें महायमक अलंकार है। एक ही पद (विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा) चार बार आया है किन्तु प्रत्येक चरण का अर्थ भिन्न-भिन्न हैं।

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः 15.52

1. जगतीश = पृथ्वी के स्वामी अर्जुन के, मार्गणाः = वाण, विकासं = विस्तार को, ईयुः = प्राप्त हुए, अर्थात् अर्जुन के वाण चारों तरफ फैल गए।
2. जगति = लोक में, ईशस्य = शंकर के, मार्गणः = शर, विकाश = विषम गति को प्राप्त हो गए अर्थात् खंडित हो गए।

अर्थ- अर्जुन के असंख्य वाण सर्वत्र व्याप्त हो गए जिससे शंकर के वाण खंडित कर दिए गए इस प्रकार अर्जुन के रण कौशल को देख दानव को मारने वाले शंकर के गण आश्चर्य में पड़ गए। शंकर और तपस्वी अर्जुन के युद्ध को देखने के लिए शंकर के भक्त लोग आकाश में आ पहुंचे।

इस प्रकार अलंकृत शैली के कथानक संक्षिप्त होता चला गया। अत्यधिक श्लेष प्रयोग से कविता कामिनी मूर्छित होती चली गई। अलंकारों की प्रधानता के कारण ही इसे अलंकृत शैली का महाकाव्य कहा गया है। यही स्थिति माघ के शिशुपाल वध तथा नैषधीयचरितम् में देखने को मिलता है।

माघ के शिशुपालवधम् में कालिदास की उपमा भारवि का अर्थ गौरव दंडी का पद लालित्य एक साथ देखने को मिलता है।

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।
पुष्पेषु जाती नगरेषु कांची नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः।
नदीषु गङ्गा नृपतौ च रामः काव्येषु माघः कविकालिदासः।।
नवसर्गे गते माघे नवशब्दो न विद्यते।

किरातार्जुनीयम् की तरह शिशुपालवधम् का उपजीव्य महाभारत है। शिशुपालवधम् की कथा श्रीमद् भागवत आदि पुराणों में भी प्राप्त होती है। कवि ने कृष्ण चरित के एक छोटे से प्रसंग को अपनी कल्पना द्वारा महाकाव्य में परिणत किया। इसमें किरातार्जुनीयम् की शैली दिखाई देती है।

उद्भट इनकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्यनोदयः।

यह वीर रस प्रधान काव्य है, परंतु बीच-बीच में शृंगारिक का वर्णन भी किया गया है। विप्रलम्भ के कुछ प्रयोग भी मिलते हैं। अन्य अंगरस भी प्रासंगिक रूप से ग्रहण किए गए हैं। युद्ध के प्रसंग में रौद्र और वीभत्स का प्रयोग किया गया है। सेना का प्रयाण, अस्त्र शस्त्रों की झनझनाहट, हाथियों की चिंघाड़, योद्धाओं का द्वन्द्व युद्ध, कबन्धों का नृत्य, वीरों के लिए देवांगनाओं की प्रतीक्षा आदि युद्ध वर्णन बहुत सुंदर और प्रभावोत्पादक हुआ है। जैसे-

बवृंहिरे गजपतयो महानकाः प्रदध्वनुर्जयतुरगा जिहेषिरे।

शिशुपालवधम् में सभी महत्त्वपूर्ण अलंकारों का प्रयोग किया गया है। उन्नीसवें सर्ग में सर्वतोभद्र, मुरजबन्ध, गोमुत्रिकाबन्ध, एकाक्षरपाद, प्रतिलोमानुलोमपाद, श्लोकप्रतिलोम यमक आदि अनेक प्रकार के यमक का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखें–

एकाक्षरपाद

जजौजोजाजिजिज्जाजी तं ततोऽतिततातितुथ्।
भाभो *भीभाभिभूभाभूरारारिररिरीररः॥ 19.3॥

सर्वतोभद्र

स का र ना ना र का स
का य सा द द सा य का।
र सा ह वा वा ह सा र
ना द वा द द वा द ना॥ 19.27॥

इसे के आगे के श्लोक में मुरजबन्ध का प्रयोग किया गया है–

लोलासिकालियकुला यमस्यैव स्वसा स्वयं।
चिकीर्षुरुल्लसल्लोहवर्मश्यामा सहायतां॥ 19.28॥

इन्हें चित्रों में प्रदर्शित करने पर अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। कालिदास ने 6 मुख्य छंदों का प्रयोग किया। भारवि ने 11 या 12 तथा माघ ने 16 मुख्य छन्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के काव्यों की रचना बहुत अधिक मात्रा में मिलती है।

इसी प्रकार का एक ग्रंथ मंख का श्रीकंठचरित है।

नैषधीयतरितम् ग्रंथ के अंत में महाकवि श्रीहर्ष ने लिखा है कि वे कन्नौज और वाराणसी के महाराज विजय चंद्र और जयचंद के सभापंडित थे। वे कान्यकुब्जेश्वर से पान के दो बीड़े और आसन पाते थे तथा समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करते थे। उनका काव्य मधु की वृष्टि करने वाला है और तर्कों में उनकी उक्तियां शत्रु को परास्त करने वाली हैं। इस पद से यह पता चलता है की श्रीहर्ष का समय विक्रम की 11वीं शताब्दी है। यह न्याय वेदांत आदि अनेक शास्त्रों पर पूर्ण अधिकार रहते थे।

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदाऽर्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि, धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः

श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम् ।22/153

यहीं पर श्रीहर्ष डिम-डिम घोष पूर्वक कहते हैं कि मैंने अपने ग्रंथ में जहां-तहां गांठ बांध रखा है। स्वयं को पंडित मानने वाले खल, जो गुरु परम्परा के प्रति श्रद्धालु नहीं हैं, इससे खेल नहीं सकें। यह पांडित्य पूर्ण शैली या अलंकृत शैली का पूर्ण उत्कर्ष है।

ग्रन्थग्रन्थरिहक्वचिद्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नानमया
प्रज्ञम्मन्यमना हठेन पठती माऽस्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्थलीकृत-ढग्रन्थिः समासादय-
त्वेत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥ नैषध. 22/252

उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

यह पांडित्य पूर्ण शैली या अलंकृत शैली का पूर्ण उत्कर्ष है। 855 में कश्मीर में लिखा गया। हरविजय में भी यही अलंकृत शैली का उत्कर्ष देखने को मिलता है।

श्लेष शैली के महाकाव्य

भारवि- किरातार्जुनीयम्
गउडवहो- वाक्पतिराज
रत्नाकर- हरविजयम्
मंखक- श्रीकंठचरितम्
भट्टि- भट्टिकाव्यम्
हेमचन्द्र- कुमारपालचरितम्
विद्यामाधव- पार्वतीरुक्मिणीयम्
हरिदत्त सूरि- राघवनैषधीयम्
श्लेष बहुल काव्य अथवा अनेकसंधान काव्य

आठवीं शताब्दी के बाद 12वीं शताब्दी तक द्वयर्थीय तथा त्र्यर्थीय काव्य के निर्माण में कवि संलग्न हुए। इसमें- धनंजय का द्विसंधान,

विद्या माधव का पार्वती रुक्मणीय,
हरदत्त सूरी का राघवनैषधीयम्,
कविराज सूरी का राघवपाण्डवीयम्,
संध्याकरनन्दी का रामचरित आदि ग्रंथ हैं।

राघव पांडवीयम में राम और नल के जीवन चरित्र को प्रत्येक पद में प्रतिष्ठित किया गया है।

र्त्यर्थीय काव्य में राजचूड़ामणि दीक्षित का राघवयादवपाण्डवीयम्,

चिदम्बर सुमति का राघवपाण्डवयादवीय आदि है। ये ग्रंथ शब्द चमत्कार प्रधान ग्रंथ कहे जाते हैं। इस प्रकार की रचना हृदय और मस्तिष्क को रससिक्त नहीं करते, अतः कालिदास जैसे सुकुमार कवि की चर्चा युगों युगों से होती आ रही है।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

विश्वभर की समस्त प्राचीन भाषाओं में संस्कृत का सर्वप्रथम और उच्च स्थान है। विश्व-साहित्य की पहली पुस्तक ऋग्वेद इसी भाषा का देदीप्यमान रत्न है। भारतीय संस्कृति का रहस्य इसी भाषा में निहित है। संस्कृत का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान कभी सम्भव नहीं है।

अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं की यह जननी है। आज भी भारत की समस्त भाषाएँ इसी वात्सल्यमयी जननी के स्तन्यामृत से पुष्टि पा रही हैं। पाश्चात्य विद्वान इसके अतिशय समृद्ध और विपुल साहित्य को देखकर आश्चर्य-चकित होते रहे हैं। भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी यदि कोई भाषा है तो वह संस्कृत ही है।

विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य (वाङ्मय) में संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह महत्त्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, अध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की संपूर्ण व्याख्या संस्कृत वाङ्मय के माध्यम से आज उपलब्ध है। सहस्राब्दियों से इस भाषा और इसके वाङ्मय को भारत में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। भारत की यह सांस्कृतिक भाषा रही है। सहस्राब्दियों तक समग्र भारत को सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में आबद्ध रखने को इस भाषा ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसी कारण भारतीय मनीषा ने इस भाषा को अमरभाषा या देववाणी के नाम से सम्मानित किया है।

ऋग्वेदसंहिता–सबसे पुराना ग्रंथ

ऋग्वेदसंहिता के कतिपय मंडलों की भाषा संस्कृतवाणी का सर्वप्राचीन उपलब्ध स्वरूप है। ऋग्वेदसंहिता इस भाषा का पुरातनतम ग्रंथ है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेदसंहिता केवल संस्कृतभाषा का प्राचीनतम ग्रंथ नहीं है – अपितु वह आर्य जाति की संपूर्ण ग्रंथराशि में भी प्राचीनतम ग्रंथ है।

दूसरे शब्दों में, समस्त विश्ववाङमय का वह (ऋक्संहिता) सबसे पुरातन उपलब्ध ग्रंथ है। दस मंडलों के इस ग्रंथ का द्वितीय से सप्तम मंडल तक का अंश प्राचीनतम और प्रथम तथा दशम मंडल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक उस भाषा की अखंड और अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है। ऋक्संहिता केवल भारतीय वाङमय की ही अमूल्य निधि नहीं है - वह समग्र आर्यजाति की, समस्त विश्ववाङमय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विरासत है।

विश्व की प्राचीन प्रागैतिहासिक संस्कृतियों को जो अध्ययन हुआ है, उसमें कदाचित् आर्यजाति से संबद्ध अनुशीलन का विशिष्ट स्थान है। इस वैशिष्ट्य का कारण यही ऋग्वेदसंहिता है। आर्यजाति की आद्यतम निवासभूमि, उनकी संस्कृति, सभ्यता, सामाजिक जीवन आदि के विषय में अनुशीलन हुए हैं ऋक्संहिता उन सबका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक स्रोत रहा है। पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत भाषा और ऋक्संहिता से परिचय पाने के कारण ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन को सही दिशा दी तथा आर्यभाषाओं के भाषाशास्त्रीय विवेचन में प्रौढ़ि एवं शास्त्रीयता का विकास हुआ। भारत के वैदिक ऋषियों और विद्वानों ने अपने वैदिक वाड़मय को मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा प्राचीनतम रूप में अत्यंत सावधानी के साथ सुरक्षित और अधिकृत बनाए रखा। किसी प्रकार के ध्वनिपरक, मात्रापरक यहाँ तक कि स्वर (ऐक्सेंट) परक परिवर्तन से पूर्णत: बचाते रहने का नि:स्वार्थ भाव में वैदिक वेदपाठी सहस्रब्दियों तक अथक प्रयास करते रहे। "वेद" शब्द से मंत्रभाग (संहिताभाग) और "ब्राह्मण" का बोध माना जाता था। "ब्राह्मण" भाग के तीन अंश - (1) ब्राह्मण, (2) आरण्यक और (3) उपनिषद् कहे गए हैं। लिपिकला के विकास से पूर्व मौखिक परंपरा द्वारा वेदपाठियों ने इनका संरक्षण किया। बहुत सा वैदिक वाड़मय धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। पर आज भी जितना उपलब्ध है उसका महत्त्व असीम है। भारतीय दृष्टि से वेद को अपौरुषेय माना गया है। कहा जाता है, मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने मंत्रों का साक्षात्कार किया। आधुनिक जगत् इसे स्वीकार नहीं करता। फिर भी यह माना जाता है कि वेदव्यास ने वैदिक मंत्रों का संकलन करते हुए संहिताओं के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया। अत: संपूर्ण भारतीय संस्कृति वेदव्यास की युग-युग तक ऋणी बनी रहेगी।

इसका रचनाकाल ईसा से 5500-5200 पूर्व माना जाता है। भारतीय विद्वानों ने वेदों के रचनाकाल का आरंभ 4500 ई.पू. से माना है परन्तु यूरोपीय विद्वान इनकी रचना का काल ईसा से 2000-1100 पूर्व मानते हैं।

वेद, वेदांग, उपवेद

यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग "वाड़मय" के लिए हैं। ऊपर वेद संहिताओं का उल्लेख हुआ है। वेद चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनकी अनेक शाखाएँ थीं जिनमें बहुत सी लुप्त हो चुकी हैं और कुछ सुरक्षित बच गई हैं जिनके संहिताग्रंथ हमें आज उपलब्ध हैं। इन्हीं की शाखाओं से संबद्ध ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् नामक ग्रंथों का विशाल वाड़मय प्राप्त है। वेदांगों में सर्वप्रमुख कल्पसूत्र हैं जिनके अवांतर वर्गों के रूप में और सूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र (शुल्बसूत्र भी है) का भी व्यापक साहित्य बचा हुआ है। इन्हीं की व्याख्या के रूप में समयानुसार धर्मसंहिताओं और स्मृतिग्रंथों का जो प्रचुर वाड़मय बना, मनुस्मृति का उनमें प्रमुख स्थान है।

वेदांगों में शिक्षा-प्रातिशाख्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद शास्त्र से संबद्ध ग्रंथों का वैदिकोत्तर काल से निर्माण होता रहा है। अब तक इन सबका विशाल साहित्य उपलब्ध है। आज ज्योतिष की तीन शाखाएँ-गणित, सिद्धांत और फलित विकसित हो चुकी हैं और भारतीय गणितज्ञों की विश्व की बहुत-सी मौलिक देन हैं। पाणिनि और उनसे पूर्वकालीन तथा परवर्ती वैयाकरणों द्वारा जाने कितने व्याकरणों की रचना हुई जिनमें पाणिनि का व्याकरण-संप्रदाय 2500 वर्षों से प्रतिष्ठित माना गया और आज विश्व भर में उसकी महिमा मान्य हो चुकी है। पाणिनीय व्याकरण को त्रिमुनि व्याकरण भी कहते हैं, क्योंकि पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि इन तीन मुनियों के सत्प्रयास से यह व्याकरण पूर्णता को प्राप्त किया। यास्क का निरुक्त पाणिनि से पूर्वकाल का ग्रंथ है और उससे भी पहले निरुक्तिविद्या के अनेक आचार्य प्रसिद्ध हो चुके थे।

शिक्षाप्रातिशाख्य ग्रंथों में कदाचित् ध्वनिविज्ञान, शास्त्र आदि का जितना प्राचीन और वैज्ञानिक विवेचन भारत की संस्कृत भाषा में हुआ है- वह अतुलनीय और आश्चर्यकारी है। उपवेद के रूप में चिकित्साविज्ञान के रूप में आयुर्वेद विद्या का वैदिकाल से ही प्रचार था और उसके पंडिताग्रंथ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेडसंहिता आदि) प्राचीन भारतीय मनीषा के वैज्ञानिक अध्ययन की विस्मयकारी निधि है। इस विद्या के भी विशाल वाड़मय का कालांतर में निर्माण हुआ। इसी प्रकार धनुर्वेद और राजनीति, गांधर्ववेद आदि को उपवेद कहा गया है तथा इनके विषय को लेकर ग्रंथ के रूप में अथवा प्रसंगतिर्गत सन्दर्भों में पर्याप्त विचार मिलता है।

दर्शनशास्त्र

वेद, वेदांग, उपवेद आदि के अतिरिक्त संस्कृत वाड़मय में दर्शनशास्त्र का वाड़मय भी अत्यंत विशाल है। पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय-इन छह प्रमुख आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त पचासों से अधिक आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के नाम तथा उनके वाड़मय उपलब्ध हैं जिनमें आत्मा, परमात्मा, जीवन, जगत्पदार्थमीमांसा, तत्वमीमांसा आदि के सन्दर्भ में अत्यंत प्रौढ़ विचार हुआ है। आस्तिक षड्दर्शनों के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में व्यास, जैमिनि, कपिल, पतंजलि, कणाद, गौतम आदि के नाम संस्कृत साहित्य में अमर हैं। अन्य आस्तिक दर्शनों में शैव, वैष्णव, तांत्रिक आदि सैकड़ों दर्शन आते हैं। आस्तिकेतर दर्शनों में बौद्धदर्शनों, जैनदर्शनों आदि के संस्कृत ग्रंथ बड़े ही प्रौढ़ और मौलिक हैं। इनमें गंभीर विवेचन हुआ है तथा उनकी विपुल ग्रंथराशि आज भी उपलब्ध है। चार्वाक, लोकायतिक, गार्हपत्य आदि नास्तिक दर्शनों का उल्लेख भी मिलता है। वेदप्रामण्य को माननेवाले आस्तिक और तदितर नास्तिक के आचार्यों और मनीषियों ने अत्यंत प्रचुर मात्रा में दार्शनिक वाड़मय का निर्माण किया है। दर्शन सूत्र के टीकाकार के रूप में परमादृत शंकराचार्य का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है।

लौकिक साहित्य

कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, भरत का नाट्यशास्त्र आदि संस्कृत के कुछ ऐसे अमूल्य ग्रंथरत्न हैं - जिनका समस्त संसार के प्राचीन वाड़मय में स्थान है।

वैदिक वाड़मय के अनंतर सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत की भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गई है। महाभारत का आज उपलब्ध स्वरूप एक लाख पद्यों का है। प्राचीन भारत की पौराणिक गाथाओं, समाजशास्त्रीय मान्यताओं, दार्शनिक आध्यात्मिक दृष्टियों, मिथकों, भारतीय ऐतिहासिक जीवनचित्रों आदि के साथ-साथ पौराणिक इतिहास, भूगोल और परंपरा का महाभारत महाकोश है। वाल्मीकि रामायण आद्य लौकिक महाकाव्य है। उसकी गणना आज भी विश्व के उच्चतम काव्यों में की जाती है। इनके अतिरिक्त अष्टादश पुराणों और उपपुराणादिकों का महाविशाल वाड़मय है जिनमें पौराणिक या मिथकीय पद्धति से केवल आर्यों का ही नहीं, भारत की समस्त जनता और जातियों का सांस्कृति इतिहास अनुबद्ध है। इन पुराणकार मनीषियों ने भारत और

भारत के बाहर से आयात सांस्कृति एवं आध्यात्मिक ऐक्य की प्रतिष्ठा का सहस्राब्दियों तक सफल प्रयास करते हुए भारतीय सांस्कृति को एकसूत्रता में आबद्ध किया है।

संस्कृत के लोकसाहित्य के आदिकवि वाल्मीकि के बाद गद्य-पद्य के लाखों श्रव्यकाव्यों और दृश्यकाव्यरूप नाटकों की रचना होती चली जिनमें अधिकांश लुप्त या नष्ट हो गए। पर जो स्वल्पांश आज उपलब्ध है, सारा विश्व उसका महत्त्व स्वीकार करता है। कवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान प्राप्त है। अश्वघोष, भास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, शूद्रक, विशाखदत्त आदि कवि और नाटककारों को अपने-अपने क्षेत्रों में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त है। सर्जनात्मक नाटकों के विचार से भी भारत का नाटक साहित्य अत्यंत संपन्न और महत्त्वशाली है। साहित्यशास्त्रीय समालोचन पद्धति के विचार से नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र के अत्यंत प्रौढ़, विवेचनपूर्ण और मौलिक प्रचुरसंख्यक कृतियों का संस्कृत में निर्माण हुआ है। सिद्धांत की दृष्टि से रसवाद और ध्वनिवाद के विचारों को मौलिक और अत्यंत व्यापक चिंतन माना जाता है।

स्तोत्र, नीति और सुभाषित के भी अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त शिल्प, कला, संगीत, नृत्य आदि उन सभी विषयों के प्रौढ़ ग्रंथ संस्कृत भाषा के माध्यम से निर्मित हुए हैं जिनका किसी भी प्रकार से आदि मध्यकालीन भारतीय जीवन में किसी पक्ष के साथ संबंध रहा है। ऐसा समझा जाता है कि द्यूतविद्या, चौरविद्या आदि जैसे विषयों पर ग्रंथ बनाना भी संस्कृत पंडितों ने नहीं छोड़ा था। एक बात और थी। भारतीय लोकजीवन में संस्कृत की ऐसी शास्त्रीय प्रतिष्ठा रही है कि ग्रंथों की मान्यता के लिए संस्कृत में रचना को आवश्यक माना जाता था। इसी कारण बौद्धों और जैनों, के दर्शन, धर्मसिद्धान्त, पुराणगाथा आदि नाना पक्षों के हजारों ग्रंथों को पालि या प्राकृत में ही नहीं संस्कृत में सप्रयास रचना हुई है।

संस्कृत विद्या की न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण शाखाओं का यहाँ उल्लेख भी अल्पस्थानता के कारण नहीं किया जा सकता है। परंतु निष्कर्ष रूप से पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारत की प्राचीन संस्कृत भाषा-अत्यंत समर्थ, संपन्न और ऐतिहासिक महत्त्व की भाषा है। इस प्राचीन वाणी का वाड़मय भी अत्यंत व्यापक, सर्वतोन्मुखी, मानवतावादी तथा परम संपन्न रहा है। विश्व की भाषा और साहित्य में संस्कृत भाषा और साहित्य का स्थान अत्यंत महत्त्वशाली

है। समस्त विश्व के प्राच्यविद्याप्रेमियों ने संस्कृत को जो प्रतिष्ठा और उच्चासन दिया है, उसके लिए भारत के संस्कृतप्रेमी सदा कृतज्ञ बने रहेंगे।

संस्कृत नाटक विकास

संस्कृत नाट्य साहित्य का विकास क्रमशः वैदिककाल से ही प्रारंभ हो गया था। इस संदर्भ में प्रो. इन्द्रपाल सिंह ''इन्द्र'' का कथन उल्लेखनीय है - वेदों में ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे वैदिककाल में नाट्कों की स्थिति सिद्ध होती है। ऋग्वेद के सूक्तों में सोमविक्रय के समय होने वाले अभिनय का पता चलता है। महाव्रत स्रोत के अवसर पर कुमारियाँ नृत्य गान के साथ अग्नि की परिक्रमा करती थीं। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवें अध्याय की छठी कण्डिका में ''शैलूष'' शब्द आया है, जिसका अर्थ है- अभिनेता। कहा जाता है कि एक सूत को नृत्य के लिए और शैलूष को गाने के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये। सामवेद के स्रोत रागबद्ध हैं ही जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में संगीत पूर्ण विकासावस्था में था। संगीत के अलावा नृत्य तथा वाद्य के भी संकेत प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में वे सभी उपादान प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे जो नाटक के विकास के लिए अपेक्षित हैं।

वेदों के पश्चात् रामायण एवं महाभारत में भी नाटक के संकेत प्राप्त होते हैं। महाभारत में ''रामायण नाटक'' तथा ''कौबेर रंगाभिसार'' नामक नाटकों के नाम आये हैं। महाभारत के विराट पर्व में रंगशाला तथा नट का प्रयोग है। रामायण में भी ''नट'',''नाटक'',''रंग'' तथा नर्तक का अनेक स्थानों पर उल्लेख प्राप्त होता है। पाणिनि ने भी 'अष्टाध्यायी'' में पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' द्वारा नाटकों की पूर्व रचना का आभास दिया है।

चतुर्थ शती ई.पूर्व के कौटिल्यीय ''अर्थशास्त्र'' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नट, नर्तक, गायक, वादक, प्लवक, कुशीलव, सौमित्र तथा चारण आदि नाटकादि करके अपना जीवकोपार्जन करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में ''विनयपिटक'' के ''चुल्लवग्ग'' में एक कथा है कि अश्वजित तथा पुनर्वसु अभिनय देखने के पश्चात् नर्तकी के साथ प्रेमालाप कर रहे थे तो उन्हें महास्थविर ने विहार से तत्काल निष्कासित कर दिया था। अतएव इस समय में भी नाट्यकला भारतव्यापी हो गई थी।

पतंजलि ने ''महाभाष्य'' में ''कंसवध'' तथा ''बलिबन्ध'' दो नाटकों का नामोल्लेख किया है। महाभाष्य में ''रसिको नटः'' पद सिद्ध करता है कि

पतंजलि के समय रस सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान था। उक्त विवरण से सिद्ध होता है कि नाटकों की उत्पत्ति भारत में हुई तथा वह वैदिक काल से ही क्रमशः विकसित होता हुआ अपने उन्नत स्वरूप को प्राप्त हुआ। वर्तमान में उपलब्ध जो रूपक हैं, उनमें नाटककार भासविरचित रूपक सबसे प्राचीन है – ऐसी अधिकांश विद्वानों की मान्यता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भास संस्कृत नाट्य साहित्य के आद्य नाटककार हैं।

संस्कृत नाटक की विशेषताएँ

संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटकों का अध्ययन करने पर उनकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं –

1. संस्कृत नाटकों में वस्तु, नेता एवं रस इन तत्वों को प्रमुख स्थान दिया गया है। इन्हीं तत्वों के आधार पर रुपकों का विभाजन किया गया है – ''वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक'।'' रूपक के दस भेद हैं जिनमें नाटक प्रथम भेद है।
2. जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, अधिकांश नाटकों की कथावस्तु ऐतिहासिक एवं पौराणिक है। रामायण एवं महाभारत की कथावस्तु को आधार बनाकर अधिकांश नाटक लिखे गये हैं।
3. जहाँ तक नेता अथवा पात्रों का सम्बन्ध है, कथावस्तु के अनुरूप ही पात्रों को रखा गया है। कुछ नाटक ऐसे भी हैं, जिनमें समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व है, जैसे शूद्रकविरचित ''मृच्छकटिक''।
4. उक्त तीनों तत्वों में भी रस को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। संस्कृत नाटककारों द्वारा कथावस्तु की यथार्थता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में किसी रस विषेष का संचार करने की ओर। कवि की सफलता का मानदण्ड रसाभिव्यक्ति का माना गया है। रस को ही नाट्यकला का प्रधान लक्ष्य माना गया। श्रृंगार अथवा वीर रस में से किसी एक को प्रधान रस इन नाटकों में माना गया है, शेष सहायक रसों के रूप में प्रयुक्त हुये हैं।
5. नाट्यशास्त्रीय नियमानुसार अधिकांश संस्कृत नाटकों का नान्दी पाठ प्रस्तावना (स्थापना) आदि से प्रारंभ किया गया है तथा ''भरतवाक्य'' से समाप्ति की गई है।
6. 5 से लेकर 7 अंकों तक की संख्या इन प्रमुख संस्कृत नाटकों की है। अधिकांश नाटक 6 व 7 अंकों के हैं।

7. संस्कृत नाटकों में पात्रानुसार भाषा का प्रयोग हुआ है। उत्तम कोटि के पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं तथा अन्य पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं।
8. संस्कृत नाटकों का प्रधान गुण अभिनेयता है। इनकी संवाद योजना अत्यन्त आकर्षक है। परन्तु अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट समय एवं स्थान की अन्विति (न्दपजपमे वि ज्पउम दंक चसंबम) का प्रायः इन नाटकों में अभाव है, क्योंकि अनेक संस्कृत नाटकों में काव्यत्व पक्ष बलवान् हो गया है।
9. अधिकांश संस्कृत नाटक सुखान्त लिखे गये हैं। परन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं कि संस्कृत में दुःखान्त नाटकों का नितान्त अभाव है। यदि दुःखान्त नाटक का अर्थ नायक के शोक, पराभव और मृत्यु का चित्रण करना है तो इस दृष्टि से ''कर्णभार'', ''उरुभंग'', वेणीसंहार और चण्डकौशिक निश्चित रूप से दुःखान्त नाटक माने जाने चाहिये।
10. नायक एवं नायिका के अतिरिक्त विदूषक की भी संस्कृत नाटकों में महत्त्वपूर्ण भूमिका है।
11. संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का इन नाटकों में सुन्दर समन्वय किया गया है। अन्तः प्रकृति की सूक्ष्म एवं सुकुमार भावनाओं के चित्रण के लिए बाह्य प्रकृति चित्रफलक का कार्य करती है। प्रकृति का मानवीकरण भी संस्कृत रूपकों की अपनी विशेषता रही है। इनमें मानव का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। कालिदास के ''अभिज्ञान शाकुन्तलम्'' में शकुन्तला की विदाई के समय प्राकृतिक उपादानों की स्थिति का सजीव कारुणिक वर्णन हृदय को सहज भावाभिभूत करने वाला है –

'उद्गलित दर्भकवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूराः।।
अपसृत पाण्डुपत्रा मुन्चन्त्यश्रूणीव लताः।।

इसी प्रकार भवभूतिविरचित ''उत्तररामचरित'' नाटक का एक रमणीय वर्णन दृष्टव्य है –

एते रूदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करूणं रुदन्ति।।

इस प्रकार के वर्णन वस्तुतः संस्कृत नाट्य साहित्य में प्रकृति के मानवीकरण के अद्वितीय उदाहरण हैं।

12. संस्कृत नाटकों में भावतत्व की प्रधानता है। भावों का सूक्ष्म अंकन तथा उनमें काव्योचित सौन्दर्य को समाहित करने में ही संस्कृत नाटककार का सर्वाधिक प्रयत्न देखा जाता है। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों के अभिनय में उतनी सरलता नहीं दृष्टिगत होती, जितनी पाश्चात्य नाटकों में सहज संभव होती है। संस्कृत का नाटककार कवि हृदय होने के नाते भावों को ही गांभीर्य का जनक समझता है, वह कोरी कलात्मकता को महत्त्व नहीं देता।
13. संस्कृत रूपकों में कथानक भी काव्यशिल्प के अनुरूप चलता है। कथानकीय प्रवाहिकता के आद्यन्त निर्वाह में पाँच अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं एवं संधियों की योजना होती है। अभिनय की स्थिति विशेष के रूप में भारती, सात्वती कैशिकी एवं आरभटी में से कोई एक वृत्ति अपनायी जाती है।
14. प्रभावोत्पादकता संस्कृत नाटकों की प्रमुख विशेषता है। प्रभावोत्पादकता का मूल कारण यह है कि संस्कृत नाटकों में नाटककार भूतकालीन घटना के अभिनय को इस प्रकार प्रस्तुत करता है, मानों वह पाठकों अथवा प्रक्षेकों को उसका प्रत्यक्ष आभास करा रहा हो। इस प्रस्तुति द्वारा पाठकों से घटना के साक्षात् सम्पर्क की अनुभूति ही नाटक को महाकाव्य अथवा उपन्यास की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक बना देती है।
15. संस्कृत नाटकों की रचना के मूल में प्रमुख उद्देष्य दु:खी, थके हुये एवं शोक से त्रस्त लोगों का मनोरंजन करना रहा है जैसा कि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरतमुनि ने लिखा है:-

दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥
विनोदजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥॥

संस्कृत नाटक का सौन्दर्यशास्त्र

संस्कृत के महान नाटककार कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में अत्यन्त मनोहर नृत्य-अभिनय का उल्लेख किया है। वह चित्र अपने में इतना प्रभावशाली, रमणीय और सरस है कि समूचे प्राचीन साहित्य में अप्रतिम माना जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक में दो नृत्याचार्यों में अपनी कला निपुणता के सम्बन्ध में झगड़ा होता है और यह निश्चित होता है कि दोनों अपनी-अपनी शिष्याओं का नृत्य-अभिनय दिखाएँ और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी निर्णय करेंगी कि दोनों में कौन क्षेष्ठ है? दोनों आचार्य तैयार हुए। मृदंग बज उठा। प्रेक्षागृह में दर्शकगण यथास्थान बैठ गये। भिक्षुणी की अनुमति से रानी की परिचारिका मालविका के शिक्षक आचार्य गणदास यवनिका के अन्तराल से सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमि में ले आये। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि छलिक नृत्य-जिसमें अभिनेता दूसरे की भूमिका में उतरकर अपने ही मनोभाव व्यक्त करता है-

के साथ होने वाले अभिनय को दिखाया जाएगा। मालविका ने गान शुरू किया। मर्म यह था कि दुर्लभ जन के प्रति प्रेमपरवशा प्रेमिका का चित्त एक बार पीड़ा से भर उठता है और फिर आशा से उल्लसित हो उठता है, बहुत दिनों के बाद फिर उसी प्रियतम को देखकर उसी की ओर वह आँखें बिछाये है। भाव मालविका के सीधे हृदय से निकले थे, कण्ठ उसका करुण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनयव्यंजित अंग-सौष्ठव, नृत्य की अभिराम भंगिमा और कण्ठ के मधुर संगीत से राजा और प्रेक्षकगण मन्त्र-मुग्ध से हो रहे। अभिनय के बाद ही जब मालविका परदे की ओर जाने लगी, तो विदूषक ने किसी बहाने उसे रोका।

वह ठिठककर खड़ी हो गयी उसका बायाँ हाथ कटिदेश पर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामलता के समान सीधा झूल पड़ा था, झुकी हुई दृष्टि पैरों पर अड़ी हुई थी, जहाँ पैर के अँगूठे फर्श पर बिछे हुए पुष्पों को धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देहलता नृत्यभंगी से ईषदुन्नीत थी। मालविका उसी प्रकार खड़ी हुई थी, जिस सौष्ठव के साथ देहविन्यास करके उसको रंगभूमि में खड़ा होना उचित था। परिव्राजिका कौशिकी ने दाद दी-

अभिनय बिल्कुल निर्दोष है। बिना बोले भी अभिनय का भाव स्पष्ट ही प्रकाशित हुआ है, अंगविक्षेप बहुत सुन्दर और चातुरीपूर्ण हुआ है। जिस-जिस रस का अभिनय हुआ है, उस-उस रस में तन्मयता स्पष्ट लक्षित हुई है। भावचेष्टा सजीव होकर स्पष्ट हुई है, मालविका ने बलपूर्वक अन्य विषयों से हमारे चित्त को अभिनय की ओर खींच लिया है। कालिदास ने इस श्लोक में भारतीय संस्कृति, कला, सौन्दर्य और अभिनय का सजीव आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। वैसे

भी कालिदास रंगमंच को 'चाक्षुष यज्ञ' कहते हैं। उनका यह श्लोक इसका उदाहरण है कि संस्कृत नाटक का सौन्दर्यशास्त्र भारतीय संस्कृति और परम्पराओं से निकला हुआ है और चिन्तन, आनन्द, सौन्दर्य बोध से जुड़ा है।

परिचय

संस्कृत में हमेशा अच्छे नाट्यप्रयोग पर बल दिया गया है। अच्छे नाट्यप्रयोग में जितना 'क्रीड़ा तत्त्व' जरूरी माना गया, उतना ही उसका परिष्कारकर्ता और शुभ, मांगलिक रूप भी। लेकिन कहीं भी वह लोक से अलग नहीं है, लोक का भावानुकीर्तन है, जीवन के विभिन्न भावों, क्रिया-व्यापारों के साथ नाटक हमें सामरस्य की ओर ले जाता है इसीलिए हमारा संस्कृत नाटक जीवन के उल्लास का, आनन्द का प्रतीक है, पश्चिम की तरह अनुकरण और ट्रैजेडी का नहीं। संस्कृत नाटक और रंगमंच इसीलिए लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों परम्पराओं से विकसित हुआ है। लोक व्यवहार और मानव स्वभाव को ही प्रमाण मानते हुए संस्कृत नाटक परिष्कृत बुद्धि, समृद्ध कल्पना और कलात्मकता का प्रयोग करता है। वह एक निश्चित दर्शन और संस्कृति का परिचायक है। भारतीय नाटक और रंगमंच के देवता नटराज शिव स्वयं सामरस्य और मांगल्य के, कल्याण के प्रतीक हैं।

हमारे यहाँ नाटक और रंगमंच का उदय ही धार्मिक कृत्य, धार्मिक अनुष्ठान के रूप में हुआ था। इसलिए उसका स्वरुप अनुष्ठानपरक है। पूर्वरंग की सारी प्रक्रिया में एक सम्पूर्ण विधान है-प्रत्याहर से से लेकर प्ररोचना आदि तक इन्द्रध्वज आदि सारा विधान धार्मिक और अनुष्ठानपरक है इस अनुष्ठानिक वातावरण की सृष्टि कई नाट्यरूढ़ियों और धार्मिकताओं के आधार पर की जाती है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने इसीलिए कहा है कि यह नाट्य तो 'पंचमवेद' है जिसमें कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शान्ति...यह नाट्य-रस, भाव, कर्म तथा क्रियाओं के अभिनय द्वारा लोक में सबको उपदेश देने वाला है।... वस्तुतः यह संस्कृत नाटक का सामाजिक पक्ष भी व्यक्त करता है। हमारा मूल स्वर संघर्ष का न होकर, फल का, आनन्द का है। नाटक के कथानक, कथाविधान, कार्याव्यवस्थाएँ आरम्भ और प्रयत्न से शुरू होकर प्राप्त्याशा नियताप्ति से होते हुए फलागम की ओर अग्रसर होती हैं। इसीलिए संस्कृत नाटक में भाग्य का नहीं कर्म का महत्त्व है और कर्म करने वाला नायक धीरोदात्त नायक है जिसमें लक्ष्य-प्राप्ति के सभी भारतीय गुण मौजूद हैं। रस आधार है पूरे नाटक

और रंगमंच का। 'तेन रस एवं नाट्यम (अभिनव) रसानुभूति ही नाट्य का फलक है इसीलिए हमारे यहाँ नाना रसों संतचारी भावों,स्थायी भावों की योजना की गयी है और 'रसनिष्पत्ति' एवं साधारणीकरण को महत्त्व दिया गया है। 'असुर पराजय','अमृत मंथन' 'त्रिपुरदाह' नाटकों के प्रसंग भी यह दिखाते हैं कि नाटक जीवन से जुड़ा हुआ था और भरत मुनि के समय में ही नाटक के विविध अवयव निश्चित हो चुके थे- (1) नट,(2) नटी,(3) नृत्य-वाद्य,(4) संगीत (5) संवाद (6) कथावस्तु (7) रंगमंच। 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने भी नाट्याचार्य गणदास के मुख से स्पष्ट कहलाया है। नाट्यं भिन्नरूपेर्जनस्य बहुधात्येकं समाराधनम्'। मनुष्यों की रूचि भिन्नता के आधार पर ही नाटक-रचना होती है नाटक को एक ऐसी कला माना गया है जिसे हर श्रेणी का व्यक्ति भेद-भाव रहित हो कर देख सके। देवदत्त शास्त्री ने कहा भी है कि 'सम्भवत: वर्ग संघर्ष को मिटाने का यह सर्वप्रथम प्रयत्न नाटक के माध्यम से किया गया था।'

संस्कृत नाटक जिस वैविध्य,आनन्द और परिष्कार की ओर ले जाता है उसमें संगीत की बहुत बड़ी भूमिका है। उत्सवधर्मिता,विभिन्न रागों का ऋतुओं, उत्सवों,समय और भावों से,रसों से सम्बन्ध नाटककार मानकर चलते-हैं ताल, लय,नृत्य,वाद्य-वादन,गीत का शास्त्रीय विधान एक सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्र रचता है,जो बहुत समृद्ध और गम्भीर,सार्थक,सर्जनात्मक है। 'स्वप्नवासवदत्ता' का उदयन और 'मृच्छकटिकम्' चारूदत्त तो स्वयं संगीतकार हैं। सूत्रधार,नट-नटी आदि द्वारा मंगलाचरण,गायन,नान्दीपाठ एक ऐसी सौन्दर्य-सृष्टि करता है और उससे पूर्व पूर्वरंग विधान रंगशाला में ऐसे वातावरण की रचना करता है,प्रेक्षक की मनोभूमि तैयार करता है कि हम एक भिन्न लोक में ही पहुँच जाते हैं। यह संगीत और विधान प्रेक्षक को आकृष्ट ही नहीं करता,नाटक के विषय से सम्बन्धित वातावरण की ओर भी ले जाता है। तन्मयता,तल्लीनता पूरा मनोविज्ञान ही बदल देती है। 'वेणीसंहार' नाटक में संगीत आरम्भ करने के लिए सूत्रधार की आज्ञा होने पर परिपार्शिवक पूछता है- 'कतमं समयमायित्व गीयताम्' अर्थात् किसी ऋतु के आधार पर गाया जाए? ये सभी प्रयोग ऋतु,समय,संगीत के आन्तरिक सम्बन्ध को भी व्यक्त करते हैं और 'नाट्यप्रयोग' में यह स्वतन्त्रता भी देते हैं कि सूत्रधार आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी कर सके। यह भी विशेष बात है कि संस्कृत नाटक में नृत्य और वादन का प्रयोग अधिक है,गीतों का कम। कहीं-कहीं रचनाकार उस काल के प्रचलित महत्त्वपूर्ण संगीत पक्ष का

संकेत भी देता है जैसे 'मृच्छकटिकम्' में नायक चारूदत्त के लिए 'गान्धर्व श्रोतुं गतस्य' का प्रयोग शूद्रक ने किया है जिससे गान्धर्व संगीत के प्रचलन का आभास होता है। लोकरंजन, काव्यानन्द आत्मानन्द संस्कृत नाटक का अभिन्न अंग रहे हैं।

जाहिर है इस आनन्द तक पहुँचने के लिए प्रेक्षक भी विशिष्ट रुचि-सम्पन्न, संस्कारयुक्त अपेक्षित था। कीथ का तो कहना है कि 'असभ्य, मूर्ख, नास्तिक और निम्नवर्गीय प्रेक्षकशालाओं में प्रवेश नहीं कर सकते थे।' वे दर्शक रस-शास्त्र के नियमों के ज्ञाता, नृत्य और संगीत अभिनय से परिचित होते थे। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट कहा है कि प्रेक्षक की सभी इन्द्रिय दुरस्त होने चाहिए, ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए-(आज की भाषा में 'क्रिटिकल आडिएन्स') दोष का जानकर और रागी होना चाहिए। उसे संवेदनशील, सहृदय होना चाहिए। वह सद्गुणशील हो, कला, शिल्प का मर्मज्ञ हो, ताकि नाटक जैसी जटिल, संश्लिष्ट कला का पूर्ण आनन्दानुभव वह कर सके। प्रेक्षक का सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध अभिनेता से होता है। हमारी भारतीय नाट्यपरम्परा में निर्देशक का नहीं, अभिनेता का महत्त्व है-समस्त अभिव्यक्त का वही आधार है, मुख्य माध्यम है इसीलिए हमारे नाट्यशास्त्र में अभिनेता का, उसके व्यक्तित्व, गुणों, क्रियाओं का इतना विशद और गम्भीर वर्णन है। अभिनेता का शरीर उसकी वाणी, गति, हाव-भाव, क्रिया-व्यापार सब नये अर्थ देते हैं इसीलिए आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक प्रकारों के साथ-साथ आँख, सिर, हाथ, पैर, आदि की इतनी मुद्राएँ बतायी गयी हैं-विभिन्न अंग-उपांग, मुद्राएँ, अंगहार, करण, चारी आदि का विस्तृत निरूपण हुआ है कि उसका वास्तविक प्रशिक्षण सही मानों में अभिनेता को 'रचता' है और बिना बाह्य उपकरणों के सृजन की कल्पनाओं को साकार करता है। अभिनय का वह अद्भुत भण्डार है जिसका प्रयोग भरतनाट्यम नृत्य में तो हो रहा है लेकिन रंगमंच में उतना नहीं। अभिनय का पूरा शास्त्र संस्कृत नाटकों का आधार है। वह एक सुव्यवस्थित कार्य-प्रणाली, साधना, आस्था और विशेषज्ञता माँगता है जैसी कि संगीत के घरानों में, शास्त्रीय कला में अपेक्षित होती है।

यद्यपि संस्कृत नाटक राजप्रासादों और मन्दिरों में होते थे पर उस समय के स्थापत्य सम्बन्धी शास्त्र और नाट्य मण्डपों का भी उल्लेख मिलता है। बड़े-बड़े मन्दिरों में या अन्य स्थानों पर मण्डप खड़े कर दिये जाते थे। नाट्यशास्त्र में शैलगुहाकार का उल्लेख है। भरत ने तीन प्रकार के नाट्य मण्डप बताये हैं-विकृष्ट चतुरस्र, त्रयस्र। इनके भी भेद बताए गये हैं। मंच पर रंगपीठ, रंगशीर्ष,

नेपथ्य, मत्तवारिणी, यवनिका तिरस्करणी आदि की व्यवस्था एक पूरी प्रस्तुति परिकल्पना को, सौन्दर्य बोध को व्यंजित करती है। वस्तुतः संस्कृत मंच अनुमानाश्रित था, सत्याभास विरोधी था। दृश्यविधान हो अथवा कोई दृश्यात्मक कार्य हो, दृश्य हो–उपवन, फूल लताओं, सागर, पानी, आँधी, तूफान आदि के, या रथ के, पक्षी के तो उसकी कल्पना कर ली जाती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में रथ की तीव्र गति, मृग का दौड़ना, दुष्यन्त का स्वर्गावतरण आदि के दृश्य अभिनेता ही अपनी मुद्राओं और गतियों से अनुमानित कराता है। यही नाट्यधर्मी विधिओं का संकेतात्मक विधान है, जो मानवीय है यान्त्रिक और चमत्कारी नहीं है। प्रायः संस्कृत नाटकों में पर्वत, विमान, अन्धकार, सूर्योदय, आखेट आदि के दृश्य चित्राभिनय द्वारा किये जाते हैं। कालिदास, भवभूति शूद्रक के नाटकों में वर्षा का मेघ–गर्जन, चन्द्रोदय मृग शावक, वानर, ग्रीष्म और शरद ऋतु सिंह सर्प आदि के दृश्यों को अभिनय ही प्रत्यक्ष करता है। आकाशभाषित जनान्तिक, अपवारित नाट्यरूढ़ियाँ भी अभिनय–कौशल का और संस्कृत नाटक रंगमंच को प्रकृति का आभास करती है। संस्कृत रंगमंच मूलतः काव्यात्मक रंगमंच है इसलिए उसमें भावानुकीर्तन, भावधर्मिता का वैशिष्ट्य है। यह काव्य समग्र रचना से, अभिनय से संगीत से, भाषा से सृजित होता है। नाटक प्रेक्षक के भावों को उद्बुद्ध करता हुआ उन्हें रसास्वादन कराता है। रस निष्पत्ति सम्बन्धी सारी दृष्टि नाट्य पर ही आधारित है। प्रेक्षक को संस्कृत मंच ने कभी नहीं भुलाया। उसे सन्तुष्ट करना ही नाटकीय सिद्धि मानी गयी। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम, 'मालविकाग्निमित्र' और 'मालतीमाधव' की प्रस्तवाना में स्पष्ट कहा गया है कि उनकी विद्वित् परिषद् के सामने प्रस्तुत किया गया। इससे संस्कृत में नाट्यप्रयोग के महत्त्व और नाट्यप्रयोग और प्रेक्षक के गहन का सम्बन्ध का पता चलता है। हिन्दी में इस प्रकार का कोई निजी सौन्दर्यशास्त्र नहीं बन पाया। एक रचनात्मक प्रयास भारतेन्दु और प्रसाद ने किया था लेकिन वह उन्हीं तक सीमित रह गया। दोनों नाटककार अपनी लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परम्पराओं के आधार पर भारतीय नाटक और पाश्चात्य नाटक के आधार पर ही हिन्दी नाटक और रंगमंच की प्रकृति का, शास्त्र का अन्वेषण कर रहे थे जो उन्हीं तक सीमित होकर रह गया।

संस्कृत साहित्य में गद्य विकास

संस्कृत गद्य का आरम्भ ब्राह्मण–ग्रन्थों और उपनिषदों के गद्य में देखा जा सकता है। बहुत दिनों तक सरल स्वाभाविक शैली में गद्य लिखने की परम्परा

चलती रही। समय के साथ गद्य में भी काव्य के उपादानों को प्रविष्ट कराने की प्रवृत्ति पनपी। आरम्भिक शिलालेखों में गद्य-काव्य प्राप्त होते हैं। रूद्रदामन का गिरनार-शिलालेख (150 ई.) तथा हरिषेण रचित समुद्रगुप्त-प्रशस्ति (360 ई.) महत्त्वपूर्ण गद्य काव्य के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

संस्कृत में गद्य-काव्य की रचना बहुत कम हुई है। पद्य की अपेक्षा अधिक श्रम, आलोचकों की उपेक्षा तथा ऊँचा मानदण्ड ये तीन मुख्य कारण हैं जिसके चलते गद्य की ओर कवि अभिमुख नहीं होते थे। उपर्युक्त बातों को यह उक्ति पुष्ट करती है-

''गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।''

उपर्युक्त परेशानियों के वावजूद भी संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य की रचना हुई। यह रचना प्रायः छठी-सातवीं शताब्दी में गद्य काव्य के त्रिरत्न - दण्डी, सुबन्धु एवं बाणभट्ट के द्वारा की गई। दण्डी का दशकुमारचरितम्, सुबन्धु की वासवदत्ता एवं बाणभट्ट की कादम्बरी तथा हर्षचरितम् संस्कृत साहित्य के उत्कृष्टतम गद्य काव्य हैं। लगभग 1200 वर्ष बाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने 'शिवराजविजयम्' लिखकर बीच के खालीपन को दूर करने का प्रयास किया। इनके अतिरिक्त गद्य रचना विभिन्न कालों में प्रायः बाण का अनुकरण ही प्रतीत होता है। यहाँ हम मुख्यतः इन्हीं चार गद्य लेखकों द्वारा विकास यात्रा पर ध्यान देना समीचीन समझते हैं-

(1) दण्डी - आचार्य दण्डी ने 'दशकुमारचरितम्' के रूप में एक अद्भुत कथा-काव्य संस्कृत साहित्य को प्रदान किया है। अधिकांश विद्वान् छठी-शताब्दी में इनका काल निर्धारण करते हैं। आचार्य दण्डी के नाम से तीन रचनाएँ मिलती हैं- ''दशकुमारचरितम्'',''काव्यादर्श'' एवं ''अवन्तिसुन्दरीकथा''। 'दशकुमारचरितम्' आचार्य दण्डी की प्रामाणिक कृति है। इसके तीन भाग हैं- पूर्वपीठिका, मूलकथा एवं उत्तरपीठिका। पूर्वपीठिका पाँच उच्छ्वासों में है। मूल भाग में आठ कुमारों की कथा का वर्णन आठ उच्छ्वासों में है। उत्तरपीठिका में एक उच्छ्वास की कथा है। कुल चौदह उच्छ्वास हैं। कथा पूर्ण है। तीनों भागों की शैली में थोड़ा भेद है।

दण्डी की सबसे बड़ी विशेषता सरल और व्यावहारिक किन्तु ललित पदों से युक्त गद्य लिखने में है। लम्बे समास, कठोर ध्वनि एवं शब्दाडम्बर से दूर रहना दण्डी की मुख्य विशेषता है। भाषा के प्रयोग में अपूर्व स्वाभाविकता है। दण्डी गद्य-कवियों में बेजोड़ हैं। रोमांचक घटनाएँ, विपुल वर्णन, सामान्य पात्र-चित्रण

आदि इनकी मौलिक विशेषता है। सरल विषयों पर परिहास मुद्रा में तथा दु:खान्त एवं महत्वपूर्ण विषयों पर गम्भीर मुद्रा में ललित पद-विन्यास से प्रभावित होकर आलोचकों की यह उक्ति जगत्प्रसिद्ध है - ''दण्डिन: पदलालित्यम्।''

अन्तत: हम कह सकते हैं कि गद्य-साहित्य में दण्डी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने 'दशकुमारचरितम्' नामक कथा-काव्य की रचना की। इसके अतिरिक्त काव्यादर्श नामक शास्त्रीय-ग्रन्थ एवं अवन्तिसुन्दरीकथा की भी रचना दण्डी ने की। इनका गद्य सरल एवं रोचक शैली में निबद्ध है। 'दशकुमारचरितम्' की कथा रोमांचकारी उपन्यास की तरह चित्ताकर्षक है। नि:सन्देह दण्डी एक सफल गद्य कवि हैं।

(2) सुबन्धु - गद्य-काव्य लेखकों में सुबन्धु का नाम संस्कृत-समाज में प्रतिष्ठा से लिया जाता है। सुबन्धु संस्कृत के प्रतिष्ठित कवि बाणभट्ट के पूर्ववर्ती हैं। बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित की प्रस्तावना में सुबन्धु की वासवदत्ता को कवियों का दर्पभंग करने वाली रचना कहा है -

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्।।

सुबन्धु ने वासवदत्ता नामक गद्य काव्य की रचना की है। इसमें राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता का प्रणय चित्रित है। वासवदत्ता में सर्वत्र श्लेष के द्वारा कवि ने अनेक अर्थों को रखकर अपने काव्य को चमत्कारी बनाया है।

सुबन्धु का श्लेष उत्तम कोटि का है। कथा के अक्षर-अक्षर में श्लेष का दावा है। अन्य अलंकारों का भी प्रचूर प्रयोग है। कवि को अपनी शैली का चमत्कार दिखाने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है। लम्बे समासों का प्रयोग, अनुप्रासों का उपयोग, समासों में स्वर माधुर्य, अनुप्रास में संगीत सुबन्धु की विशेषता है। नि:संदेह सुबन्धु ने वासवदत्ता में अपने युग के अनुरूप चमत्कार-प्रदर्शन किया है। सचमुच ''प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धम्'' - यह उक्ति वासवदत्ता पर अक्षरश: प्रमाणित होती है।

(3) बाणभट्ट - संस्कृत गद्य-साहित्य में सर्वाधिक प्रतिभाशाली गद्यकार 'बाण' हैं। बाणभट्ट ने परम्परा से हटकर अपनी रचना में अपना पूर्ण परिचय दिया है। बाणभट्ट हर्षवर्द्धन के दरबार में रहते थे। अत: बाण का समय वही है, जो इतिहास में हर्षवर्द्धन का अर्थात् 607ई. से 648ई.। बाणभट्ट वात्स्यायन-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम चित्रभानु था। विद्वान् परिवार में जन्म लेने के

कारण इन्होंने सभी विद्याओं का अभ्यास किया। बचपन में ही अनाथ हो गए बाणभट्ट ने युवावस्था में मित्रों की मण्डली बनाकर पर्याप्त देशाटन किया। अनुभव सम्पन्न होकर अपने ग्राम 'प्रीतिकूट', शोण के तट पर लौटे। राजा हर्षवर्द्धन के बुलावे पर यह उनके दरबार में गए और उनकी कृपा से वहीं रहने लगे।

बाणभट्ट ने दो गद्य-काव्यों की रचना की - हर्षचरितम् और कादम्बरी। हर्षचरितम् एक आख्यायिका है। यह आठ उच्छ्वासों में विभक्त है। प्रारंभिक दो - तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपने वंश का एवं अपना परिचय दिया है। इसके बाद राजा हर्षवर्द्धन के पूर्वजों का वर्णन किया है। पुनः प्रभाकरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, हर्षवर्द्धन तथा राज्यश्री इन तीन भाई-बहन के जन्म का भी रोचक वृतान्त दिया है। प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु, राज्यश्री का विधवा होना, राज्यवर्द्धन की हत्या, राज्यश्री का विन्ध्याटवी में पलायन, हर्षवर्द्धन द्वारा उसकी रक्षा - ये सभी घटनाएँ क्रमशः वर्णित हैं। दिवाकर मित्र नामक बौद्ध संन्यासी के आश्रम में हर्षवर्द्धन व्रत लेता है कि दिग्विजय के बाद वह बौद्ध हो जाएगा। यहीं हर्षचरितम् की कथानक समाप्त हो जाता है।

विस्तृत-वर्णन सजीव-संवाद, सुन्दर-उपमाएँ, झंकार करती शब्दावली तथा रसों की स्पष्ट अभिव्यक्ति -ये सारी बातें बाण की गद्य शैली में प्रचुरता से मिलती है। कहीं आनन्द और उल्लास का सजीव वर्णन है तो कहीं मृत्यु का अत्यन्त मार्मिक रूप वर्णित है।

बाणभट्ट की दूसरी रचना कादम्बरी है। यह कवि-कल्पित कथानक पर आश्रित होने के कारण कथा नामक गद्य-काव्य है। इसमें अध्याय या उच्छ्वास आदि में विभाजन नहीं है। पूरी कथा का पचहत्तर प्रतिशत भाग ही बाणभट्ट ने लिखा है शेष उनके पुत्र ने पूरा किया है। काव्यशास्त्र के सभी उपादानों रस, अलंकार, गुण, रीति आदि का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के कारण कादम्बरी बाण की उतकृष्ट गद्य रचना है। विषय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए वर्णन-शैली अपनाई गई है। इसे पां्चाली शैली कहा जाता है जिसमें शब्द और अर्थ का समान गुम्फन है। पात्रों का सजीव निरूपण है। रस का समुचित परिपाक हुआ है। मानव जीवन के सभी पक्षों को दर्शाया गया है। आलोचकों ने मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा की है तथा कह दिया है कि बाण ने पूरे संसार को जूठा कर दिया है- ''बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।'' उनके वर्णन से कुछ भी बचा नही है।

नि:संदेह बाणभट्ट का हर्षचरितम् एवं कादम्बरी संस्कृत गद्य साहित्य के दो गगनचुम्बी ईमारत हैं जिसके शिखर तक पहुँचना आसान नहीं है।

(4) पण्डित अम्बिकादत्त व्यास – पण्डित अम्बिकादत्त व्यास रचित 'शिवराजविजयम्' एक आधुनिक गद्यकाव्य है, जो महान् देशभक्त शिवाजी के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर आश्रित आधुनिक उपन्यास की शैली में लिखा गया है। पण्डितजी का समय 1858ई. से1900ई. है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास मूलत: जयपुर(राजस्थान) के निवासी थे किन्तु उनका कार्य क्षेत्र बिहार था। ऐतिहासिक कथानक की कल्पना के चादर में लपेटे 'शिवराजविजयम्' उत्कृष्ट काव्य है। घटनाएँ गतिशील और प्रभावशाली हैं। प्रसाद की तरलता विद्यमान है। भारतीय आदर्श, संस्कृति एवं राष्ट्रशक्ति के रक्षक के रूप में शिवाजी को प्रस्तुत किया गया है। पूरी रचना बारह नि:श्वासों में विभक्त है। यह आधुनिक गद्य–साहित्य का गौरव ग्रन्थ है।

अन्य गद्य काव्य – उपर्युक्त गद्य काव्यों के अतिरिक्त विभिन्न कालों में कई कवियों ने गद्य काव्य की रचना की परन्तु वे सिर्फ बाणभट्ट का अनुकरण ही प्रतीत होती हैं। जैसे– 10वीं शताब्दी में धारा के जैन कवि धनपाल द्वारा रचित तिलकमंजरी, 11वीं सदी में गुजरात के सोढ्ढल की उदयसुन्दरीकथा आदि। आधुनिक काल में पण्डिता क्षमाराव (1890–1954ई.) की कथाक्तावली, विचित्रपरिषद्यात्रा इत्यादि सुन्दर गद्य काव्य हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि ब्राह्मण काल से प्रारम्भ हुई गद्य साहित्य की परम्परा आज तक अनवरत चली आ रही है परन्तु दण्डी, सुबन्धु, बाण एवं व्यास इसके अनमोल धरोहर हैं जिनकी रचनाएँ सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सिद्ध हैं।

15

मणिपुरी भाषा एवं साहित्य

मणिपुरी भारत के असम के निचले हिस्सों एवं मणिपुर प्रान्त के लोगों द्वारा बोली जाने वाली प्रमुख भाषा है। इसकी कई उप-भाषाएँ भी हैं। मणिपुरी भाषा, मेइतेइ मायेक लिपि में तथा पूर्वी नागरी लिपि में लिखी जाती है।

भारत के उत्तर-पूर्व में सात राज्यों - असम, मणिपुर, नागालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, त्रिपुरा, मेघालय बहनों की तरह और सिक्किम भाई के रूप में बसे हैं। इन राज्यों में मूल रूप से तीन भाषा-परिवार मिलते हैं - भारत ईरानी, चीनी-तिब्बती तथा आस्ट्रिक। मणिपुर की भाषा (मीतैलोन) साइनो-तिब्बती परिवार के उप-कुल तिब्बती-बर्मी के अन्तर्गत आती है। मणिपुरी की लिपि को मीतै मयेक (मीतै लिपि) कहा जाता है। अब तक उन्नतीस भाषाएँ तथा बोलियाँ और अलग-अलग उन्नतीस मातृभाषाएँ उपलब्ध हैं। मणिपुरी भाषा ही इस राज्य की संपर्क भाषा है।

विश्व में इस भाषा को बोलनेवालों की संख्या 33 लाख है और इनमें से 16 लाख मणिपुरी तथा मणिपुरी मुस्लिम है। सम्पर्क भाषा के रूप में 7 लाख मणिपुर के नागा और कुकी जनजातियाँ बोलते हैं। बाकी के 5 लाख भारत के अन्य राज्यों-असम, त्रिपुरा और बंगाल में बोली जाती है। 4 लाख म्यान्मार के मण्डले, यांगुन तथा कलेम्यो में और एक लाख बांग्लादेश के ढाका और सिल्हट में बोली जाती है।

बोलियाँ

मणिपुरी की चार ज्ञात बोलियाँ हैं–अंद्रो, फाएंग, सेंगमै और क्वाथा।

भाषाशास्त्री मणिपुरी को कुकी-चिन, कुकी और कुकी नागा की मेइतेई शाखा के समान तिब्बत-बर्मी भाषाओं के भिन्न उपपरिवार में रखते हैं। एक अन्य विचार यह है कि राज्य की भाषा मेइतेई, कचिन और कुकी नागा के साथ महत्त्वपूर्ण सम्पर्क बिन्दु प्रदर्शित करती है। हालाँकि कुकी नागा के साथ निकटता अधिक परिलक्षित होती है।

मणिपुरी भाषा को तिब्बत-ृबर्मी की मिकिर-मेइतेई उपशाखा का एक हिस्सा माना जाता है, जहाँ मिकिर और मेइतेई लोन भाषाओं को नागा और कुकी-चिह्न शाखा से सम्बद्ध माना जाता है। मणिपुरी भाषा के व्याकरण की विशेषताएँ तिब्बती-बर्मी भाषा परिवारों के अनुरूप है। प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने मणिपुरी को कुकी-चिन वर्ग की सबसे प्रधान भाषा माना है। प्रोफेसर जैन के मतानुसार, "कुकी-चिन वर्ग की भाषाएँ मुख्य रूप से मणिपुर एवं मिजोरम में बोली जाती हैं।

मणिपुरी/मीतैलोन/मैतेई मणिपुर की प्रधान भाषा है। यह मैतेई जनजाति के लोगों के द्वारा बोली जाती है। मणिपुर की 60 प्रतिशत जनसंख्या मणिपुरी का व्यवहार करती है। जिस प्रकार नागालैण्ड में "नगामीज" राज्य के लोगों के बीच सम्पर्क भाषा की भूमिका का निर्वाह कर रही है उसी प्रकार मणिपुर में मणिपुरी सम्पर्क भाषा की भूमिका निबाह रही है।"

मणिपुरी साहित्य

मणिपुरी भाषा (मेइतेइ) का साहित्य समृद्ध है और मणिपुरी साहित्य का लिखित अस्तित्व अष्टम शताब्दी से ही प्राप्त होता है। 1973 से आज तक 39 मणिपुरी साहित्यकारों को साहित्य अकादमी पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। मणिपुरी साहित्य में वैष्णव भक्ति तथा मणिपुर की कला/संस्कृति झलकती है। कहानी, उपन्यास, काव्य, प्रवास वर्णन, नाटक आदि सभी विधाओं में मणिपुरी साहित्य ने अपनी पहचान बनाई है। मखोनमनी मोंड्साबा, जोड़ छी सनसम, क्षेत्री वीर, एम्नव किशोर सिंह आदि मणिपुरी के प्रसिद्ध लेखक हैं।

मणिपुरी साहित्य की यात्रा 1925 में फाल्गुनी सिंह द्वारा मीताई तथा बिष्णुप्रिया मणिपुरी भाषा की द्विभाषिक सामयिकी "जागरन" के प्रकाशन के रूप में आरम्भ हुआ। इसी समय और भी कई द्विभाषिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इनमें "मेखली" (1933), "मणिपुरी" (1938), क्षत्रियज्योति (1944) इत्यदि अन्यतम हैं।

बांग्ला लिपि में लिखी जाने वाली मणिपुरी को विष्णुप्रिया मणिपुरी भी कहा जाता है, जो मेइतेइ भाषा से अलग है।

प्रकाशित ग्रन्थावली

भानुबिल कृषकप्रजा आन्दोलन बारोह विष्णुप्रिया मनिपुरी समाज (गवेषना) – अध्यापक रनजित सिंह

निड़सिड़ निरले (जीबरचरित) – अध्यापक रनजित सिंह

रसमानजुरी (एला) – राधाकान्त सिंह

ज्बीर मेरिक (कविता) – राधाकान्त सिंह

थाम्पाल (कविता) – अध्यापक रनजित सिंह

नियति (कविता) – अध्यापक रनजित सिंह

चिकारी बागेय (कविता) – अध्यापक रनजित सिंह

तौर निंसिड़े (कविता) – सुखमय सिंह

छेयाठइगिर यादु (कविता)– शुभाशिस समीर

सेनातम्बीर आमुनिगत्त सेम्पाकहान पड़िल अदिन (कविता)– शुभाशिस समीर

कनाक केथक (शौर कविता) – अध्यापक रनजित सिंह

बाहानार परान (शौर कविता) – अध्यापक रनजित सिंह

कुमपागा (यारि) – अंजन सिंह

नुया करे चिनुरि मेयेक (कविता) – शुभाशिस समीर

मणिपुरी का लोक-साहित्य

लोक साहित्य की दृष्टि से मणिपुरी लोक साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। मणिपुर में लोक साहित्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मणिपुरी लोक साहित्य में प्राप्त पहेलियों का क्षेत्र व्यापक है। इन पहेलियों में मणिपुरी लोक जीवन से संबद्ध साधारण से साधारण एवं असाधारण से असाधारण वस्तु को अपना वर्ण्य विषय बनाया गया है।

प्राचीन काल में किस प्रकार लोक साहित्य का उद्‌भव एवं विकास हुआ और किस तरह वह भिन्न-भिन्न शताब्दियों से होकर आज की अपनी स्थिति को बनाये हुए है, यह विषय नितान्त विचारणीय एवं मननीय है। लोक साहित्य मुख्य रूप से मौखिक होता है। लोक साहित्य की विभिन्न विधायें यथा-लोकगीत,

लोककथा, लोकगाथा, लोकनाटय, जनश्रुतियाँ, लोकोक्तियाँ, कहावतें, पहेलियाँ एवं मुहावरे आदि परम्परागत रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी आगे चलती रहती हैं। इन विधाओं का मणिपुर में प्रयोग कब से आरम्भ हुआ यह बता पाना नितान्त असम्भव है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमान है कि जब से मणिपुरी समाज का सृजन हुआ, तब से ही या उससे पहले से भी उक्त सभी विधायें प्रचलित रही होंगी। चूँकि ये सभी विधायें मौखिक एवं श्रुति परम्परा पर आधारित रही हैं, इसलिए इनके उद्‌भव के सम्बन्ध में कुछ भी बता पाना सम्भव नहीं है, किन्तु मणिपुरी संस्कृति, लोक दर्शन एक ऐसा विशिष्ट दर्शन है, जो आततायियों के कई आक्रमण झेलकर भी अपनी अस्मिता अपना पहचान एवं अपना सांस्कृतिक मूल्य सुरक्षित रख पाया है। मणिपुर के विरात सांस्कृतिक उत्सव धार्मिक को समझने के लिए मणिपुरी लोक साहित्य के अंतर्निहित भावों का दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

गीति-साहित्य

मणिपुरी का काव्य-भंडार गीति-बहुल है। ईसवी सन के आरंभिक वर्षों से ही जिन काव्यात्मक कृतियों का अस्तित्व माना जाता है, वे सारे गीति ही हैं। परवर्ती काल की भी सत साहित्य एवं लोक-साहित्य की कृतियाँ वे चाहे मुक्तक हों या गाथात्मक, गीतिमूलक ही हैं।

प्राचीन गीतिकार

प्राचीन काल की सारी गीति रचनाएँ अनाम हैं। भारतीय साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार रचनाकारों का आत्म-गोपन एक आदर्श ही था। सत्य एवं अनुभूति का सम्प्रेषण ही रचनाकार का उद्देश्य होता था न कि आत्म-प्रचार। अतएव इस काल के रचनाकार अपने भावों में ही जीवित हैं, न कि नाम में। ऐसी स्थिति में प्राचीन-गोतिकार कौन-कौन थे, कहना कल्पनातीत है।

मध्यकालीन गीतिकार

प्राचीन काल की रचनाओं की तरह मध्यकाल की रचनाएँ भी अनामांकित ही हैं। इस काल की उपलब्ध सारी पुस्तकें रचनाकार के नामों से रहित हैं। ऐसी स्थिति में नृत्य-गीतों का अनामांकित होना तो और भी स्वाभाविक है। संस्कृत की गीति रचनाएँ भी अनामांकित ही हुआ करती थीं, किन्तु महाकवि जयदेव ने अपने विश्व प्रसिद्ध 'गीतगोविन्द' में नामांकित पदों की रचना कर एक नई रचना

प्रणाली प्रचलित की। परवर्ती काल के भाषा-पदकारों ने इस प्रणाली का अनुसरण किया और विद्यापति की नामांकित 'भिणिता शैली' पद रचना का एक आदर्श ही हो गयी। उत्तर भारत का सम्पूर्ण पद-साहित्य भणिता युक्त है। इस शैली का व्यापक प्रभाव दक्षिण के मराठी तथा पश्चिम के गुजराती पद-साहित्य तक अवलोकनीय है।

मणिपुर में राजर्षि भाग्यचन्द्र से भणिता युक्त पद रचने की प्रथा आरम्भ हुई। इनके बाद से यहाँ के पदकारों की क्रमबद्ध सूची उपलब्ध होती है। ये सारे पदकार ब्रजबुलि के ही पदकार थे। "मणिपुरगी निंधौ शिंगी रचना" नामक पद संग्रह के आधार पर निम्नलिखित राजन्य पदकार उपलब्ध हैं।

1. राजर्षि भाग्यचन्द्र, 2. लावण्य चन्द्र सिंह, 3. मधुचन्द्र सिंह, 4. चौरजीत सिंह, 5. मारजीत सिंह, 6. ययुसिंह, 7. गम्भीर सिंह, 8. नर सिंह, 9. देवेन्द्र सिंह, 10. चन्द्रकीर्ति सिंड, 11. सुरचन्द्र सिंह, 12. कुलचन्द्र सिंह । 3. चूड़ाचाँद सिंह, 14. बोधचन्द्र सिंह

आधुनिक गीतिकार

मणिपुरी साहित्य में आधुनिक काल का आरम्भ 1819 से माना जाता है। गीति रचनाओं की दृष्टि से सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी मणिपुर में ब्रजबुली/ब्रजावली पद-साहित्य की रचना का काल है। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजर्षि भाग्यचन्द्र ने ब्रजावली पदों की रचना कर मणिपुर में जिस पद-रचना शैली का सूत्रपात किया उसे उनके वंशधरों ने बीसवीं शताब्दी के मध्य तक जीवित रखा। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण (सन् 1919 ई.) में सर्वप्रथम चूड़ाचाँद महाराज ने श्री गोविन्द जी के चरणों में अर्पित मणिपुरी पद के द्वारा मणिपुरी में पद-रचना का सूत्रपात किया। उन्होंने मणिपुरी में और भी कुछ रचनाएँ की इसका विवरण उपलब्ध नहीं होता।

आधुनिक मणिपुरी गीति के प्रथम उद्भावक धौम्याचार्य उपाख्य धौम्य शर्मा या धौम्य ठाकुर हैं। उन्होंने सर्व प्रथम होली के गीतों की रचना मणिपुरी में की। धौम्याचार्य द्वारा प्रवर्तित इस गीति-आन्दोलन का संवर्द्धन करनेवालों में निम्न व्यक्ति प्रमुख हैं – ओझा कोन्जेंबम अतोयाइ सिंह, सनख्या सूर्यवरण राजकुमार, मोंजम तिलक सिंह, शगोलशेम कालिदमन सिंह, खाड़ेम्बम गुलापी सिंह आदि।

डोंगरी भाषा एवं साहित्य

डोगरी भाषा भारत के जम्मू-कश्मीर राज्य की दूसरी मुख्य भाषा है। यह भारोपीय भाषा परिवार के भारतीय-आर्य भाषा समूह की सदस्य है। इसका मूल प्राचीन भारतीय-आर्य भाषा समूह और लौकिक संस्कृत में स्थित है। अन्य आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के समान डोगरी भी विकास के प्राचीन भारतीय-आर्य (संस्कृत) और मध्य भारतीय-आर्य (पालि, प्राकृत और अपभ्रंश) चरणों से गुजर चुकी है और इसने लगभग 10वीं शताब्दी में आधुनिक भारतीय-आर्य चरण में प्रवेश किया। इसमें ध्वनि संरचना में विकास की तीन स्तरीय प्रक्रिया दिखाई देती है, जो शौरसेनी प्राकृत से इसकी निकटता को प्रदर्शित करती है, लेकिन वैदिक काल से इसके वर्तमान स्वरूप तक विकास के दौरान डोगरी ने सभी चरणों की विशेषताओं को संरक्षित रखा है, जैसा डोगरी शब्द पुत्तर, यानी 'बेटा' (प्राचीन भारतीय-आर्य पुत्र, मध्य भारतीय-पुत्त) में दिखाई देता है।

डोगरी का केंद्र

रियासत जम्मू कश्मीर की शरतकालीन राजधानी जम्मू नाम का ऐतिहासिक नगर, डोगरी की साहित्यिक साधना का प्रमुख केंद्र है, जहाँ डोगरी के साहित्यिकों का प्रतिनिधि संगठन "डोगरी संस्था" के नाम से, इस भाषा के साहित्यिक योगक्षेम के लिये गत लगभग 60 वर्षो से प्रयत्नशील है।

डोगरी पंजाबी की उपबोली है - यह भ्रांत धारणा डॉ. ग्रियर्सन के भाषाई सर्वेक्षण के प्रशंसनीय कार्य में डोगरी के पंजाबी की उपबोली के रूप में उल्लेख से फैली। इसमें उनका दोष नहीं। उस समय उनके इन सर्वेक्षण में प्रत्येक भाषा, बोली का स्वतंत्र गंभीर अध्ययन संभव नहीं था।

जॉन बीम्ज ने भारतीय भाषा विज्ञान की रूपरेखा संबंधी अपनी पुस्तक (प्रकाशित 1866 ई.) में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि डोगरी ना तो कश्मीरी की अंगभूत बोली है, ना पंजाबी की। उन्होंने इसे भारतीय-जर्मन परिवार की आर्य शाखा की प्रमुख 11 भाषाओं में गिना है। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा ने भी डोगरी की गणना भारत की प्रमुख सात सीमांत भाषाओं में की है।

डोगरी की लिपि

डोगरी की अपनी एक लिपि है जिसे टाकरी या टक्करी लिपि कहते हैं। यह लिपि काफी पुरानी है। गुरमुखी लिपि का प्रादुर्भाव इसी से माना जाता है।

कुल्लू तथा चंबा के कुछ प्राचीन ताम्रपट्टों से ज्ञात होता है कि इस लिपि का प्रारंभिक रूप में विकास 10 वीं- 11वीं शताब्दी में हो गया था। वैसे टाकरी वर्ग के अंतर्गत आने वाली कई लिपियाँ इस विस्तृत प्रदेश में प्रचलित हैं जैसे, लंडे, किश्तवाड़ी, चंबयाली, मंडयाली, सिरमौरी और कुल्लूई आदि। डॉ. ग्रियर्सन शारदा को और टाकरी को सहोदरा मानते हैं। श्री व्हूलर का मत है कि टाकरी शारदा की आत्मजा है।

टाकरी लिपि आज भी डुग्गर के देहाती समाज में बहीखातों में प्रयुक्त होती है। इसका एक विकसित रूप भी है जिसमें कई ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। कश्मीर नरेश महाराज रणवीर सिंह ने, आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व, अपने राज्यकाल में, डोगरी लिपि में, नागरी के अनुरूप, सुधार करने का प्रयत्न किया था। मात्रा, चिह्नों के प्रयोग को अपनाया गया तथा पहली बार नई टाकरी लिपि में डोगरी भाषा के ग्रंथों के मुद्रण की समुचित व्यवस्था के लिये जम्मू में शासन की ओर से रणवीर प्रेस की स्थापना की गई। पुरानी डोगरी वर्णमाला का यह संशोधित रूप जनव्यवहार में लोकप्रिय न हो सका।

डोगरी के लिये नागरी लिपि

डोगरी की नव साहित्यिक चेतना के साथ ही साथ टाकरी का स्थान देव नागरी ने ले ले लिया।

डोगरी साहित्य

जनभाषाओं में साहित्यसर्जन का प्रारंभ प्राय: मौखिक परंपरा के रूप में ही होता है। डोगरी में लोकसाहित्य की यह थाती काफी समृद्ध है। डोगरी संस्था के अनुशासन में उत्साही साहित्यिकों ने इस समय तक से 500 से अधिक लोकगीत इकट्ठे किए हैं। इन गीतों में भाव तथा संगीत दोनों दृष्टियों से अभिनंदनीय कलात्मकता तथा विविधता है। डोगरों के सामाजिक जीवन की बहुरंगी प्रतिक्रया इनमें अत्यंत सजीव होकर व्यक्त हुई है। डोगरी संस्था की त्रैमासिक पत्रिका (नई चेतना) के प्रत्येक अंक में पाँच-पाँच लोकगीत छपते रहे हैं। संस्था ने ही विवाह संबंधी गीतों के एक संग्रह खारे मिट्ठे अर्त्थ नाम से प्रकाशित किया है। डॉ. कर्ण सिंह द्वारा संपादित एक डोगरी लोकगीत संग्रह (अंग्रेजी हिंदी अनुवाद तथा गीतों की मौलिक स्वरलिपि सहित) शैडो ऐंड सनलाइट नाम से ऐशिया पाब्लिशिंग हाउस बंबई द्वारा प्रकाशित किया गया है।

रियासत की कल्चरल अकैडमी भी इन लाकगीतों का संग्रह करने में योग दे रही है। इसी तरह डोगरी लोककथाओं के संग्रह के लिये भी प्रयत्न हुए हैं। इस समय तक तीन संग्रह छप चुके हैं–

1. डोगरी लोककत्था (संपा. श्री बंशीलाल)
2. इक हा राजा (संपा. रामनाथ शास्त्री)
3. नमियाँ पौंगरा (संपा. अनंतराम शासी)

दूसरे वर्ग की उपलब्ध पूँजी परिणाम में नगण्य होकर भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ग के ज्ञात कवि ये हैं-

1. कवि देवीदिता (या कवि दतु - रचनाकाल 1750 ई.) दत्त् मुख्यतया ब्रजभाषा के कवि थे। उनके ब्रजभाषा में लिखित "वीरविलास", "बारहमासा" तथा "ब्रजराज पंचासिका" नाम की रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। डोगरी में उनके कुछ फुटकर पद्य भी उपलब्ध हुए है।

2. पं. गंगाराम (सन् 1777ई.- 1858ई.)

इक्के गल्ल सच्चौ दीसै, लाड़िया गलाई दित्ती,
सबने थे कच्चा लोको, कंडिया दा बस्सना

(सच्ची बात तो बस घर की बहू ने कह दी है कि- ए लोगों, कंडी के प्रदेश का निवास सबसे बुरा है।)- एक डोगरी कविता का अंश)

3. ला. रामधन (मृत्यु 1900 ई. के लगभग)

दिक्खी लै रामघना, प्रीतै दी रीतै गी,
लटकना कच्चिया तंदे कन्ने। (एक लंगी डोगरी कविता का अंश)

हे रामघन, प्रेम की इस रीति को देखो जिसमें प्रेमियों को मानों कच्चे धागे पर लटकना पड़ता है।)

नई चेतना के इस तीसरे चरण का प्रारंभ हरदत्त जी की काव्य साधना से हुआ। इनका जन्म सन् 1890 तथा मृत्यु 1956 में हुई। आप जनकवि थे तथा आपकी डोगरी काव्यसाधना डुगर की दरिद्रता तथा रूढ़िग्रस्तता की वेदना से अनुप्राणित है।

कियां गुजारा तेरा होगा, ओ डोगरेआ देसा।

(कैसे गुजारा तुम्हारा होगा, ऐ डोगरे देस !)

हरदत्त ने डोगरी कविता के प्रति लोकरुचि को जगाया। वे सुधारवादी थे, हास्य-व्यंग्य के प्रयोग में कुशल। डोगरी में इनके लगभग 100 मुक्तक प्रकाशित हुए।

हरदत्त जी ने इस काव्यसाधना को अकेले ही प्रारंभ किया परंतु 1940 ई. के अनंतर इस क्षेत्र में दूसरे साधकों ने भी प्रवेश किया और शनैः शनैः डोगरी काव्यसाधना, इस धरती की सांस्कृतिक नवचेतना को वाणी देनेवाला बड़ा जोरदार आंदोलन बनकर उमड़ पड़ी। इस नवचेतना में प्रारंभिक प्रधान स्वर, अपनी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परंपरा की अनुरक्ति तथा जातीय गौरवभावना से मुखरित हुए। इस प्रवृति में क्रमशः आवेश की उग्रता कोमल होती गई और सांस्कृतिक आलोक की स्निग्वता उत्तरोत्तर बढ़ती गई, जिसने आगे चलकर मानवता की मूल आकांक्षाओं की विशाल परिधि में प्रवेश पाने की उत्सुकता का रूप धारण किया।

डोगरी कविता में गत पाँच-छह दशकों (की सीमित अवधि) में भावविकास के साथ-साथ कलाप्रयोगों की विवधिता भी दर्शनीय है। डोगरी कवियों की रचनाओं में हमें जो विषय प्रमुख दिखाई देते हैं वे हैं डुग्गर की हीन दशा पर वेदना, डुग्गर के अतीत के प्रति गौरवभाव, डुग्गर की सांस्कृतिक उपलब्धियों (विशेष रूप से पहाड़ी चित्रकला तथा पहाड़ी संगीत) की प्रशस्ति, डुग्गर की निर्धनता और पिछड़ेपन पर रोप, डुग्गर का प्राकृतिक सौंदर्य, डुग्गर के सुंदर भविष्य की कल्पना, युद्ध और शांति, शोषण की भर्त्सना, भारत की महानता, लोकतंत्र का अभिनंदन, मानवता की विजयाशा, जीवनदर्शन की व्यावहारिक व्याख्या आदि।

इसी तरह डोगरी कविता के कलापक्षीय प्रयोगों में भी विकास की झलक बड़ी स्पष्ट होकर प्रकट हुई है। डोगरी के पास अपने छंद ववही थे जो उसके लोककाव्य के विविध अंगों में प्रयुक्त हुए हैं। प्रारंभ में इन्हीं छंदों का प्रयोग हुआ, विशेष रूप से गेय पदों में। इसके अनंतर लेखक, हिंदी उर्दू तथा पंजाबी से प्रभावित होकर इन भाषाओं के छंदों का भी सहज ही प्रयोग करने लगे। हिंदी के कवित्त, सवैया, दोहा, कुंडलिया आदि छंदों के प्रयोग किए गए। उर्दू छंदों की गतिमयता ने कवियों को अधिक प्रभावित किया। मुक्तकों में कवियों का छंदप्रयोग प्रायः लय तथा गति को ही कसौटी बनाकर होता रहा। छंदों के विषय में अभी तक कोई मौलिक अध्ययन नहीं हुआ, परंतु नए-नए प्रयोग लगातार चल रहे हैं।

उर्दू की गजल, किता, रुबाई आदि के प्रयोगों की प्रवृति में स्थानीय उर्दू कवि संम्मेल्लनों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित हाता है।

कथा उपन्यास

डोगरी साहित्यजीवन का उषाकाल यद्यपि काव्य की अरुणिमा लेकर प्रकट हुआ तथापि उसके स्थिर विकास के लिये जो गद्यसाधना अपेक्षित थी, वह अनुकूल परिस्थिति में प्रत्यक्ष होने लगी। जैसे पद्य के क्षेत्र में नवोन्मेष हरिदत्त की साधना से हुआ, उसी तरह गद्य के क्षेत्र में कथालेखक के रूप में भगवत प्रसाद साठे अग्रणी हैं।

इस समय तक डोगरी में ये प्रमुख कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं–

1. कुड़ में दा लाहमा (समधियों का उलाहना) श्री भगवतप्रसाद साठे
2. सूई तागा कुमारी ललिता महता
3. कीलें दियाँ लीकरां (कोयले की रेखाएँ) श्री नरेंद्र खजूरिया
4. खीरला मानु (अंतिम मानव) श्री मदन मोहन शर्मा
5. काले हथ (काले हाथ) श्री वेद राही
6. चाननी (चांदनी) श्री मदनमोहन
7. पैरें दे नशान (पाँव के निशान) श्री रामकुमार अबरोल
8. रोचक कहानियाँ (बच्चों के लिये) श्री नरेंद्र खजूरिया
9. फुल बनीगे ोर (फूल बन गए अंगोर) श्री रामकुमार अबरोल
10. उच्चियाँ धारां (ऊँची पर्वतमालाएँ) श्री धर्मचंद्र प्रशांत
11. इक्की कहानियाँ (टैगोर की इक्कीस कहानियों का डोगरी रूपांतर – श्री वेद राही)

उपन्यास

1. शान्ते (सामाजिक) श्री नरेंद्र खजूरिया
2. धारां ते धूड़ां (पर्वतमालाएँ और धुंध) श्री मदनमोहन शर्मा
3. हाड़ बेड़ी दे पत्तप (सामाजिक) श्री वेद राही
4. रुकमणी (सामाजिक) श्री धर्मचंद्र प्रशांत
5. वादियाँ वीराने (मूल उर्दू से स्वयं लेखक श्री ठाकुर पुंछी द्वारा डोगरी में रूपांतरित)

नाटक

डुग्गर में रंगमंच की परंपरा केवल "रामायण" के वार्षिक प्रदर्शन तक ही सीमित थी। इस नव सांस्कृतिक चेतना ने रंगमंच के लोकप्रिय साधन का भी

सफलतापूर्वक प्रयोग किया। इसके लिये नई परिस्थिति की अपेक्षाओं के अनुकूल नए नाटक लिखे गए–

1. नयाँ ग्राँ (नया गाँव) ले. रामनाथ शास्त्री, दीनु भाई और रा. कु. अबरोल (लगभग 50 बार खेला गया)
2. सरपंच (ऐतिहासिक नाटक) ले. दीनू भाई पंत
3. अस भाग जगाने आले आं ले. नरेंद्र खजूरिया
4. देव का जन्म (पौराणिक) श्री ध. च. प्रशांत
5. देहरी (सामाजिक) श्री रा.कु. अबरोल
6. ६ ाारें दे अत्थरूं (,) श्री वेद राही

निबंध तथा गद्यानुवाद

1. त्रिवेणी (साहित्यिक निबंध) श्रीमती शक्ति शर्मा एम.ए., श्री श्यामलाल बी.ए.
2. बाल भागवत (अनुवाद) श्रीमती शक्ति शर्मा एम.ए., श्री श्यामलाल बी. ए.
3. पंचतंत्र (संक्षिप्तानुवाद) श्री अनंतराम शास्त्री
4. गीता (अनुवाद) श्री गौरीशंकर
5. दुर्गा सप्तशती (मूल सहित, डोगरी अनुवाद) स्व. श्री कृपाराम शास्त्री

व्याकरण कोश

1. डोगरी कहावत कोश श्री तारा स्मैलपुरी
2. डोगरी भाषा और व्याकरण श्री बंसीलाल गुप्त (अप्रकाशित)

लोकसाहित्य

1. डोगरी लोक कत्थां (तबी प्रकाशन, नई दिल्ली) संपा. श्री बंशीलाल गुप्त एम.ए.
2. इक हा राजा (लोककथाएँ) डोगरी संस्था, जम्मू, संपा. रामनाथ शास्त्री
3. खारे मिट्ठे अत्थरूं (लोकगीत) संपा. सुशीला सलाथिया
4. ैनदीपदम दंक ौंकवू (लोकगीत) डॉ. कर्णसिंह
5. नमियाँ पौंगराँ (धर्मस्थानों की कथाएँ) डोगरी मंउल, जम्मू
6. अमर बलिदान (लोक काव्यात्मक गाथा का गद्यरूप),

पत्र-पत्रिकाएँ

1. नई चेतना (त्रैमासिक) केवल चार अंक प्रकाशित हुए।
2. रेखा (द्विमासिक) चार अंक प्रकाशित हो चुके हैं।

फुटकल रचनाएँ

1. जगदियाँ जोताँ (ऊूर्द) डोगरी कवियों का परिचय
2. डोगरी भाषा (16 पृष्ठों की पुस्तिका) ठा. रघुनाथ सिंह
3. ई. 1857(प्रथम स्वतंत्रता संघर्ष संबंधी कविताएँ)
4. अलमस्त की चार काव्य पुस्तिकाएँ
5. सपोलिया की चार काव्यपुस्तिकाएँ
6. जम्मू प्रांत के तीन कालेजों की पत्रिकाओं (तवी, त्रिकुरा तथा द्विगर्त) के डोगरी विभाग
7. शिक्षा विभाग द्वारा प्राइमरी कक्षाओं के लिये प्रकाशित चार डोगरी रीडर- श्री रामनाथ शास्त्री